EC-06

## वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

# मुद्रा, बैंकिंग एवं राजस्व

EC-06

# वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय

# मुद्रा, बैंकिंग एवं राजस्व

## पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

**अध्यक्ष**

**प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच**
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय कोटा

## संयोजक/समन्वयक/सदस्य

संयोजक

**प्रो. (डॉ.) एम.के. घड़ोलिया**
विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय
कोटा(राज.)

**प्रो. (डॉ.) सुरजीत सिंह**
विकास अध्ययन संस्थान (आई.डी.एस.)
झालाना डूंगरी, जयपुर (राज.)

**प्रो.(डॉ.) के. डी. स्वामी**
सेवानिवृत्त विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग
जयनारायन व्यास विश्वविद्यालय,
जोधपुर (राज.)

**डॉ. जे. के. शर्मा**
सह-आचार्य, अर्थशास्त्र
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,
कोटा (राज.)

## सम्पादन एवं पाठ लेखन

**सम्पादक**

**प्रो. (डॉ.) एम.के. घड़ोलिया**
आचार्य, अर्थशास्त्र विभाग
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा(राज.)
कोटा(राज.)

| **लेखक** | | **लेखक** | **इकाई संख्या** |
|---|---|---|---|
| **डॉ. ओ.पी. पाण्डे**<br>सेवानिवृत्त आचार्य,<br>सुदर्शन पी.जी.कॉलेज,<br>लालगांव रेवा | 1,3 | **डॉ. अलका शर्मा**<br>(अर्थशास्त्र विभाग)<br>मीरा गर्ल्स (पी.जी.) महाविद्यालय<br>उदयपुर(राज.) | 7 |
| **डॉ. भूपेन्द्र बहादुर तिवारी,**<br>आई.सी.एफ़.ए.आई. राष्ट्रीय महाविद्यालय<br>एफ़-20/52,ए.के.वरुणा ब्रिज,<br>सूर्या होटल कैन्ट के सामने, वाराणसी(यू.पी.) | 2,8 | **प्रो.(डॉ.) के. डी. स्वामी**<br>सेवानिवृत्त विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग<br>जयनारायन व्यास विश्वविद्यालय,<br>जोधपुर (राज.) | 9,10,11 |
| **डॉ. ए.पी. चौधरी**<br>सहायक आचार्य(अर्थशास्त्र विभाग)<br>मोहन लाल सुखड़िया विश्वविद्यालय ,<br>उदयपुर(राज.) | 4,15 | **डॉ. (श्रीमती) सन्तोष गढ़वाल**<br>डी-865, अमित भारद्वाज मार्ग<br>मालवीया, नगर,<br>जयपुर (राज.) | 12 |
| **प्रो.(डॉ.) फरीदा शाह**<br>(अर्थशास्त्र विभाग) यू.सी.एस.एस.एच.<br>मोहन लाल सुखड़िया विश्वविद्यालय<br>,उदयपुर(राज.) | 5 | **डॉ. शशी सांचीहार**<br>अर्थशास्त्र विभाग<br>मीरा गर्ल्स (पी.जी.) महाविद्यालय<br>उदयपुर(राज.) | 13 |

**डॉ. विमल पोखराना** 6
सहायक आचार्य(अर्थशास्त्र विभाग)
मीरा गर्ल्स (पी.जी.) महाविद्यालय
उदयपुर(राज.)

**डॉ. मंजुश्री गुप्ता** 14
एफ़-25, यू.टी.आई. कॉलोनी
धोलाभाटा, अजमेर(राज.)

## अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

**प्रो. नरेश दाधीच**
कुलपति
**वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,**
**कोटा ( राज.)**

**प्रो. अनाम जेटली**
निदेशक, अकादमिक
**वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,**
**कोटा ( राज.)**

**योगेन्द्र गोयल**
प्रभारी(पा.सा.उ.एवं वि. विभाग)
**वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,**
**कोटा (राज.)**

## पाठ्यक्रम उत्पादन

**योगेन्द्र गोयल**
सहायक उत्पादन अधिकारी
**वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)**

**पुनः उत्पादन फरवरी 2011 ISBN - 13/978-81-8496-125-6**

इस सामग्री के किसी भी अंश को व. म. खु. वि., कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप मे मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) के द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

निदेशक, अकादमिक व. म. खु. वि., कोटा (राज.) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित

**EC-06**

# वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

**तृतीय वर्ष कला/विज्ञान अर्थशास्त्र-प्रश्नपत्र-द्वितीय**

## मुद्रा, बैंकिंग एवं राजस्व

| इकाई संख्या | इकाई का नाम | पृष्ठ संख्या |
|---|---|---|
| इकाई -01 | मुद्रा : अर्थ, कार्य एवं महत्व | 9–26 |
| इकाई -02 | मुद्रा की मांग एवं पूर्ति की अवधारणा, $M_1$, $M_2$, $M_3$, | 27–40 |
| इकाई -03 | मुद्रा का मूल्य- मुद्रा स्फीति एवं मुद्रा संकुचन, मांग एवं लागत स्फीति, स्फीति नियंत्रण, फिलिप्स वर्क | 41–74 |
| इकाई -04 | मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त, फिशर का समीकरण, केम्ब्रिज सिद्धान्त, फ्रिडमेन सिद्धान्त | 75–89 |
| इकाई -05 | व्यापारिक बैंकिंग : योगदान एवं कार्य एवं साख सृजन की प्रक्रिया | 90–99 |
| इकाई -06 | केन्द्रीय बैंक प्रकृति एवं कार्य - भारत जैसे विकासशील देशों की बदलती भूमिका | 100–121 |
| इकाई -07 | केन्द्रीय बैंक की साख नियन्त्रण विधियां | 122–133 |
| इकाई -08 | भारतीय रिजर्व बैंक एवं मौद्रिक नीति | 134–148 |
| इकाई -09 | अंतरराष्ट्रीय व्यापार : अर्थ एवं अंतरराष्ट्रीय व अन्तर क्षेत्रीय व्यापार एडम स्मिथ का सिद्धान्त | 149–159 |
| इकाई -10 | रिकार्डो का तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त | 160–167 |
| इकाई -11 | विनिमय दर निर्धारण-स्वर्णमान, क्रयशक्ति समता सिद्धान्त | 168–179 |
| इकाई -12 | सार्वजनिक वित्त- अर्थ, सार्वजनिक एवं निजी वित्त, अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त | 180–192 |
| इकाई -13 | सार्वजनिक आगम, कर, अच्छी की प्रणाली के गुण एवं करारोपण के सिद्धान्त | 193–211 |
| इकाई -14 | कराघात एवं करापात के सिद्धान्त- पूर्ण प्रतियोगिता एवं एकाधिकार में कर विवर्तन | 212–229 |
| इकाई -15 | सार्वजनिक व्यय, नियम, उत्पादन तथा वितरण पर प्रभाव | 230–243 |
| इकाई -16 | सार्वजनिक ऋण- भारत में आन्तरिक एवं बाह्य सार्वजनिक ऋण बढ़ाने के कारण | 244–252 |
| इकाई- 17 | संधात्मक वित्त- अर्थ, समस्याएं, संधात्मक वित्त के सिद्धान्त, वित्त आयोगों द्वारा संसाधन हस्तान्तरण | 253–273 |

# पाठ्यक्रम परिचय

मुद्रा आर्थिक जगत का सबसे महत्वपूर्ण आविष्कार है। ज्योफ्रे क्रउथर ने 1951 में वर्ल्ड प्रेस लिमिटेड, कलकत्ता से प्रकाशित अपनी पुस्तक " मुद्रा की रूपरेखा " में लिखा है कि, " सभी मानवीय आविष्कारों में मुद्रा सर्वाधिक मूलभूत आविष्कार है। यंत्र विज्ञान में पहिया,विज्ञान में अग्नि, राजनीति में मत (Vote) का जो स्थान है, वही अर्थशास्त्र में मुद्रा का स्थान है। मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व का सम्पूर्ण आर्थिक पक्ष मुद्रा पर आधारित है।" मुद्रा का आविष्कार विनिमय के माध्यम के रूप में हु आ, परंतु धीरे-धीरे यह मूल्य संचय का भी साधन बन गयी। उपभोग, उत्पादन, वितरण,राजस्व कि अन्य सभी शाखाओं में भी यह विनिमय कि तरह ही महत्त्वपूर्ण है। अतः कहा जाता है कि, मुद्रा वह धुरी है जिस पर सम्पूर्ण अर्थतन्त्र चक्कर काटता है।" इस प्रकार मुद्रा के अध्ययन के बिना हमारा ज्ञान भी पूरा नहीं होता। अर्थशास्त्र के एक विद्यार्थी के लिए मुद्रा एवं इसकी सम्पूर्ण कार्य- प्रणाली की जानकारी आवश्यक है इसलिए इस प्रश्न पत्र में मुद्रा के साथ-साथ आपको बैंकिंग एवं राजस्व क्षेत्र की जानकारी भी दी जाएगी एवं इन क्षेत्रों में मुद्रा की उपयोगिता की चर्चा की जाएगी। इस पाठ्यक्रम में कुल 17 इकाइयाँ है जिसमें प्रथम चार इकाइयाँ मुद्रा से संबन्धित हैं। मुद्रा की परिभाषा एवं कार्यों का वर्णन करने के बाद मुद्रा की मांग एवं पूर्ति तथा मुद्रा के मूल्य की चर्चा की गयी है। मुद्रा की परिमाण सिद्धान्त के विभिन्न समीकरणों जैसे- फिशर, कैम्ब्रिज एवं फ्रीडमैन की व्याख्या भी की गयी है।

मुद्रा की पूर्ति एवं कीमतस्तर में संबंध को देखते हु ए मुद्रा की पूर्ति को सर्वाधिक प्रभावित करने वाले तत्व जैसे व्यापारिक बैंक एवं केन्द्रीय बैंक के क्रिया- कलापों से भी परिचय कराया गया है। इकाई संख्या 5 से 8 तक में व्यापारिक बैंकों, केंद्रीय बैंकों की साख नियंत्रण विधियों एवं भारतीय रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति की जानकारी दी गयी है। इसके बाद इकाई संख्या 9 से11 तक में अंतरराष्ट्रीय व्यापार की चर्चा की गयी है। इकाई संख्या 12 से17 तक की इकाइयों में राजस्व के क्षेत्र मुद्रा की भूमिका सार्वजनिक आय, व्यय, ऋण तथा संघात्मक वित्त व्यवस्था की चर्चा की गयी है। इस प्रकार इस प्रश्न-पत्र में अर्थशास्त्र की महत्वपूर्ण शाखाओं से आपको परिचित कराया गया है।

सम्पूर्ण पाठ्यक्रम में भाषा की सरलता एवं प्रवाह का पूरा ध्यान रखा गया है। मुझे विश्वास है की इस प्रयास में सफलता मिलेगी एवं आप इस पुस्तक की सराहना करेंगे। आपके सुझाव भविष्य में विद्यार्थियों के लिए पुस्तक को उपयोगी बनाने में मदद करेंगे।

**-सम्पादक**

# इकाई -1

# मुद्राः अर्थ, कार्य एवं महत्व
# (Money: Meanings, Functions and Importance)

**इकाई की रूपरेखा**

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 मुद्रा का अर्थ
1.3 मुद्रा की परिभाषाएँ
  1.3.1 विस्तार के आधार पर दी गई परिभाषाएँ
  1.3.2 प्रकृति के आधार पर दी गई परिभाषाएँ
1.4 मुद्रा के कार्य
  1.4.1 मुद्रा के प्रमुख या प्राथमिक कार्य
  1.4.2 मुद्रा के गौण कार्य
  1.4.3 मुद्रा के आकस्मिक कार्य
  1.4.4 मुद्रा के अन्य कार्य
1.5 मुद्रा का महत्व
  1.5.1 पूँजीवादी में अर्थव्यवस्था मुद्रा का महल
  1.5.2 समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्व
  1.5.3 मिश्रित अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्व
1.6 मुद्रा के दोष
  1.6.1 मुद्रा के आर्थिक दोष
  1.6.2 मुद्रा के सामाजिक दोष
  1.6.3 मुद्रा के नैतिक दोष
1.7 सारांश
1.8 शब्दावली
1.9 संदर्भ ग्रन्थ
1.10 अभ्यासार्थ प्रशन

## 1.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप:

- जान सकेंगे कि मुद्रा क्या है एवं अर्थशास्त्रियों द्वारा इसे किन-किन आधारों पर परिभाषित किया है?

- अर्थव्यवस्था में मुद्रा के प्रमुख कार्य, गौण कार्य एवं आकस्मिक कार्य कौन-कौन से है? इस बारे में पूरी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे;
- समझ सकेंगे कि किस कारण यह कहा जाता है कि मुद्रा वह धुरी है जिस पर सम्पूर्ण अर्थतन्त्र चक्कर काटता है; एवं
- मुद्रा जहां इतनी महत्वपूर्ण हैं वही मुद्रा को ही सर्वस्व मान लेने पर व्यक्ति में अधिक से अधिक मुद्रा कमाने का जुनून सवार हो जाने पर मुद्रा को कई बुराइयों की जननी माना जाता है। इस बारे में सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

## 1.1 प्रस्तावना (Introduction)

मुद्रा के अर्थ प्रकृति एवं महल तथा मुद्रा के कार्य तथा मुद्रा के महल के बारे में इस इकाई के विभिन्न खण्डों में चर्चा की गई है। सर्वप्रथम हम 1.2 एवं 1.3 में मुद्रा की अवधारण को पूर्णरूप से स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे। मुद्रा की परिभाषा के सम्बन्ध में विद्वानों में एक मत नहीं है। कुछ परिभाषाएँ अत्यधिक विस्तृत है तो कुछ परिभाषाएँ बहुत ही संकुचित है। इसके साथ ही विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने भिन्न- भिन्न आधारों पर अपनी परिभाषाएँ दी है जैसे कुछ परिभाषाएँ सामान्य स्वीकृति के आधार पर की गई है तो कुछ परिभाषाओं /में कानूनी अथवा वैधानिक दृष्टिकोण प्रमुखता लिए हुये है। इस प्रकार इस इकाई में मुद्रा का अर्थ विस्तार से स्पष्ट किया गया है। खण्ड 1.4 में मुद्रा के कार्यो का वर्णन किया गया है। मुद्रा के कार्यो को विभिन्न वर्गो में बांटा गया है जैसे प्राथमिक कार्य, गौणकार्य आकस्मिक कार्य एवं अन्य कार्य। इसके बाद आपका परिचय मुद्रा के महल अथवा गुण एवं दोषों से कराया गया है, जिससे आप आधुनिक अर्थ व्यवस्थाओं में मुद्रा का उचित स्थान तय कर सकें। इकाई के अन्त में सारांश, सन्दर्भ ग्रन्थ की सूची एवं अभ्यासार्थ प्रशन दिए गए हैं।

## 1.2 मुद्रा का अर्थ (Meaning of Money)

मुद्रा का अविष्कार कब और किन परिस्थितियों में हुआ, यह कह पाना अत्यन्त कठिन है। इस सम्बन्ध में कीन्स का यह कथन, उपयुक्त प्रतीत होता है कि ' 'मुद्रा की संख्या मानवीय सभ्यता एवं दूसरी सभी आवश्यक संस्थाओं के समान बहुत पुरानी है।" प्रारम्भिक काल में वस्तु विनियिमय प्रणाली का प्रचलन था, अर्थात् एक वस्तु बदले में दूसरी वस्तु का विनिमय होता था। परन्तु वस्तु विनिमय प्रणाली में आने वाली विभिन्न कठिनाइयों के कारण जैसे- दोहरे संयोग का अभाव, वस्तु-विभाजन की कठिनाई, सामान्य मूल्य मापक का अभाव, मूल्य संचय एवं मूल्य हस्तान्तरण के अभाव के कारण, अनेक कठिनाइयाँ आने लगी, अत: इन सारी असुविधाओं के निराकरण हेतु मुद्रा का आविष्कार किया गया।

मुद्रा विकास के सम्बन्ध में दो प्रकार के सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं। प्रथम मुद्रा का विकास स्वत: हो गया इसकी खोज नहीं की गई, अत: इस सिद्धान्त को "मुद्रा का आकस्मिक विकास सिद्धान्त ' कहा जाता है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार वस्तु विनिमय प्रणाली में आने वाली विभिन्न कठिनाइयों को दूर करने के लिए सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया, जिसे "मुद्रा का अवश्यकता-अनुसंधान सिद्धान्त" कहा जाता है। परन्तु इन सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष में इतना ही कहना उचित होगा कि किसी प्रकार मुद्रा का आविष्कार हुआ और धीरे-धीरे इसका विकास होता गया।

अंग्रेजी भाषा का शब्द Money (मनी) लैटिन भाषा के शब्द मोनेटा (Moneta) से बना है। ऐसा कहा जाता है कि रोम में देवी जूनो (Juno) के मंदिर में मुद्रा बना दी जाती थी और देवी जूनो को ही मोनेटा के नाम से जाना जाता था। कुछ विद्वानों के अनुसार अंग्रेजी शब्द मनी (Money) लैटिन भाषा के पिक्यूनिया (Picunia) शब्द से सम्बन्धित है। पिक्यूनिया शब्द पेकस (Pecus) से बना है, जिसका अर्थ है, पशुसम्पत्ति। प्रारम्भिक काल में लगभग सभी देशों में पशुसम्पत्ति को ही मुद्रा के रूप में प्रयुक्त किया जाता था, इसीलिए पशु सम्पत्ति तथा मुद्रा का एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया है। इस दृष्टि से मुद्रा शब्द बहुत पुराने समय से ही प्रचलित है।

## 1.3 मुद्रा की परिभाषाएँ (Definitions of Money)

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा को अलग-अलग दृष्टिकोण से परिभाषित किया है। इन विभिन्न दृष्टिकोणों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत कर अध्ययन किया जा सकता है।

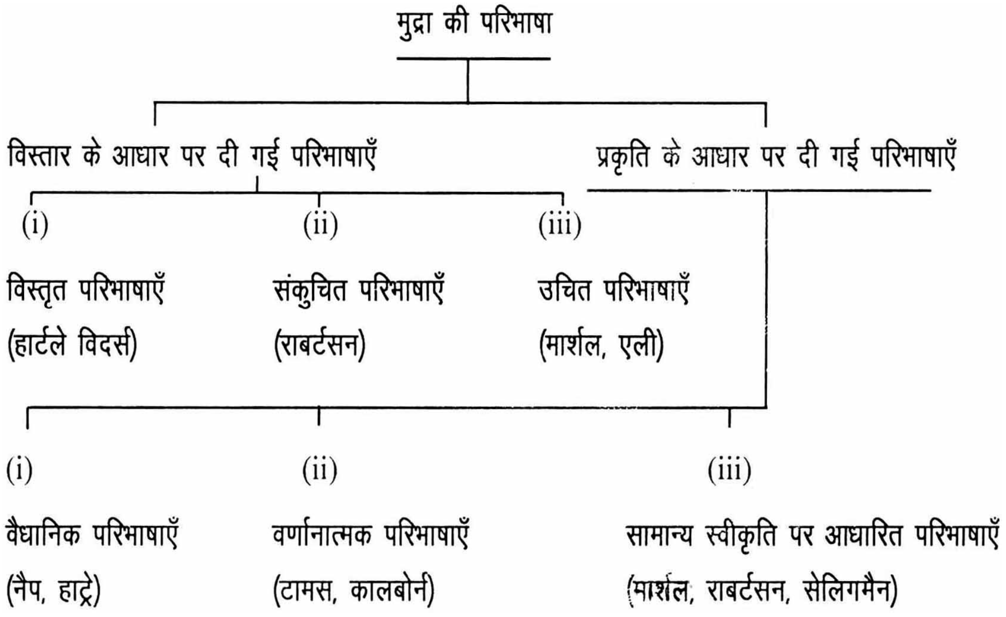
मुद्रा की परिभाषा
विस्तार के आधार पर दी गई परिभाषाएँ
प्रकृति के आधार पर दी गई परिभाषाएँ
(i)
विस्तृत परिभाषाएँ
(हार्टले विदर्स)
(ii)
संकुचित परिभाषाएँ
(राबर्टसन)
(iii)
उचित परिभाषाएँ
(मार्शल, एली)
(i)
वैधानिक परिभाषाएँ
(नैप, हाट्रे)
(ii)
वर्णनात्मक परिभाषाएँ
(टामस, कालबोर्न)
(iii)
सामान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषाएँ
(मार्शल, राबर्टसन, सेलिगमैन)

### 1.3.1 विस्तार के आधार पर दी गई परिभाषाएँ

विस्तार के आधार पर दी गई परिभाषाओं को निम्न तीन भागों में विभाजित किया- जा सकता है-

(1) विस्तृत परिभाषाएँ
(2) संकुचित परिभाषाएँ
(3) उचित परिभाषाएँ

**(1) विस्तृत परिभाषाएँ** इस वर्ग में हार्टलेविदर्स द्वारा दी गई परिभाषा को प्रमुख रूप से रखा जा सकता है। **हार्टलेविदर्स के अनुसार,** ' 'मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करे ' इस परिभाषा के अनुसार उन तमाम वस्तुओं को मुद्रा के अन्तर्गत सम्मिलित किया जा सकता है जो मुद्रा के कार्य को पूरा करती है। इस प्रकार चैक, ड्राफ्ट, हुण्डी, विनियम बिल आदि साख पत्र तो मुद्रा हैं ही परन्तु अल्पविकसित क्षेत्रों में नारियल, सीप जैसी अनेक वस्तुओं को भी मुद्रा का दर्जा प्रदान किया जा सकता है।

परन्तु कुछ अर्थशास्त्री हार्टलेविदर्स की इस परिभाषा से सहमत नहीं हैं। उन विद्वानों अनुसार इस परिभाषा ने मुद्रा के क्षेत्र में को अत्यधिक व्यापक बना दिया है।

**(2) संकुचित परिभाषाएं** इस वर्ग में मुख्य रूप से राबर्टसन की परिभाषा को रखा जा सकता है। राबर्टसन तथा उनके समर्थकों का यह विचार है कि, ' 'विस्तृत क्षेत्र में भुगतान के लिए स्वीकार की जाने वाली वस्तु मुद्रा है।"

**राबर्टसन के अनुसार.** ''मुद्रा वह वस्तु है जिसे वस्तुओं की कीमत चुकाने तथा अन्य प्रकार के व्यावसायिक दायित्वों को निबटाने के लिये विस्तृत रूप में स्वीकार किया जाता है।'

उक्त परिभाषा के अनुसार केवल धातु के सिक्कों जैसे- सोने एवं चांदी से बने सिक्कों को ही मुद्रा के अन्तर्गत रखा जा सकता हैं, अत: केवल धातु के सिक्कों को ही मुद्रा मानना संकुचित दृष्टिकोण का उदाहरण है।

**(3) उचित परिभाषाएं** आधुनिक विचारधारा वाली परिभाषाएँ इस विचारधारा वाली परिभाषाओं के अनुसार धातु के सिक्कों और कागज के नोटों को ही मुद्रा में शामिल किया गया है। इस विचारधारा के मुख्य समर्थक प्रो. मार्शल एवं प्रो. ऐली हैं।

**मार्शल के अनुसार,** ' 'मुद्रा में इन सभी वस्तुओं का समावेश होता है जो किसी भी समय या स्थान में बिना किसी सन्देह के और बिना किसी जांच पड़ताल के वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने और भुगतान करने के साधन के रूप में स्वीकृत की जाती है। '

**प्रो. ऐली के अनुसार,** "मुद्रा ऐसी वस्तु है जो विनिमय के माध्यम के रूप में हस्तांतरित होती है और ऋणों के अन्तिम भुगतान के रूप में सामान्य रूप से ग्रहण की जाती है। "

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि विनिमय के माध्यम एवं ऋणों के अन्तिम भुगतान के रूप में ऐसी वस्तु मुद्रा हो सकती है जिसे समान्य स्वीकृति प्राप्त हो। अत: साख पत्रों जैसे- चैक, विनिमय-पत्र आदि को मुद्रा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, इन परिभाषाओं के अनुसार केवल धातु मुद्रा तथा कागजी मुद्रा को ही मुद्रा में शामिल किया जा सकता है।

### 1.3.2 प्रकृति के आधार पर दी गई परिभाषाएँ

इस आधार पर मुद्रा की परिभाषाओं को निम्न भागों में बाँटा जा सकता है।

**(1) वैधानिक परिभाषाएं** इस वर्ग के अन्तर्गत किसी भी देश में मुद्रा वही मानी जा सकती है, जिसे सरकार ने मुद्रा घोषित किया हो। इस विचारधारा के प्रतिपादक जर्मनी के प्रो. नैद तथा ब्रिटिश अर्थशास्त्री हाट्रे है। प्रो. नैप (Knapp) के अनुसार "कोई भी वस्तु जो राज्य द्वारा मुद्रा घोषित कर ही जाती है, मुद्रा कहलाती है।" प्रो. हाट्रे ने मुद्रा को विधि ग्राह्य स्वीकार करने के साथ ही उसे लेखे की इकाई भी माना है, जिसका अर्थ ऐसी इकाई से है जिसमें सभी प्रकार की कीमतों का हिसाब रखा जा सकें।

वर्तमान में मुद्रा के सम्बन्ध में नैप की परिभाषा उचित प्रतीत होता है, क्योंकि राज्य की स्वीकृति ही मुद्रा कहलाती है, राज्य की स्वीकृति समाप्त होते ही मुद्रा का महत्व समाप्त हो जाता है।

**(2) वर्णनात्मक परिभाषाएं** इस वर्ग के अन्तर्गत वे परिभाषाएं आती है जो मुद्रा के कार्यो का वर्णन करती है। इनमें मुख्य रूप से प्रो. आमस, प्रो.सिजविक आदि की परिभाषाएं सम्मिलित हैं। प्रो. टामस के अनुसार ' 'मुद्रा समुदाय के सभी सदस्यों के ऊपर एक प्रकार का अधिकार है, एक ऐसा आदेश अथवा वचन जिसे उसका स्वामी अपनी इच्छानुसार कभी भी पूरा कर सकता है। वह स्वयं साधन नहीं है, वरन अन्य व्यक्तियों की सेवाओं पर अधिकार जमाने का केवल साधन मात्र है। "

प्रो. काल बोर्न के अनुसार, ' 'मुद्रा को मूल्य का मापक और भुगतान के साधन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। उपरोक्त परिभाषाओं को उपयुक्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि ये परिभाषाएँ केवल मुद्रा का वर्णन करती है।

**(3) सामान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषाएँ** इस श्रेणी में उन परिभाषाओं को रखा जा सकता है जो मुद्रा की समान्य सर्वग्रह्यता पर बल देती हैं। इस वर्ग की परिभाषाओं में कीन्स राबर्टसन, केन्ट, सेलिगमैन क्राउथर आदि विद्वानों की परिभाषाएँ आती है। इस वर्ग की प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं :-

- **प्रो. कीन्स के अनुसार,** "मुद्रा वह है जिसे देकर ऋण तथ मूल्य सम्बन्धी भुगतानों को निबटाया जाता है तथा जिसके रूप में सामान्य क्रय शक्ति का संचय किया जाता है।"
- **क्राउथर के अनुसार.** "मुद्रा वह वस्तु है जो विनिमय के माध्यम के रूप में सामान्यत: स्वीकार की जाती हो तथा उसी समय मूल्य मापन एवं मूल्य संचय का कार्य भी करती है।"
- **राबर्टसन के अनुसार.** "मुद्रा बह वस्तु है जिसे विस्तृत क्षेत्र में दायित्वों के भुगतान के रूप में स्वीकार किया जाता है।"
- **केन्ट के अनुसार.** "मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जिसे साधारण विनिमय के माध्यम तथा मूल्य मापक के रूप में स्वीकार किया जाता है।"
- **सेलिगमैन के अनुसार,** "मुद्रा वह वस्तु है जिसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं में थोड़ी बहुत भिन्नता देखने को अवश्य मिलती है, परन्तु इनमें एक समानता यह देखने को मिलती है कि इन परिभाषाओं में 'सामान्य स्वीकृति' को मुद्रा का एक आवश्यक गुण माना गया है। साथ ही मुद्रा की स्वीकृति स्वतन्त्र एवं ऐच्छिक होनी चाहिए, मुद्रा विनिमय का माध्यम एवं मूल्यों को मापने का कार्य एक साथ करें तथा मुद्रा ऋणों के भुगतान के आधार एवं मूल्य संचय का कार्य पूर्ण करती हो। मुद्रा के इन सभी गुणों के आधार पर उचित परिभाषा निम्न प्रकार से दी जा सकती है:

"मुद्रा एक ऐसी वस्तु है, जो विनिमय के माध्यम, मूल्य के मापक, स्थगित भुगतानों के मान तथा मूल्यों के संचय के साधन के रूप में स्वतंत्र, विस्तृत तथा सामान्य रूप से लोगों द्वारा स्वीकार की जाती है।"

उक्त परिभाषा के अनुसार सिक्कों, बैंक नोटों, प्रतिभूतियों तथा साख-पत्रों को मुद्रा में शामिल किया जा सकता है।

## 1.4 मुद्रा के कार्य (Functions of Money)

प्रारम्भ काल से ही मुद्रा ने अपने विभिन्न कार्यो के द्वारा समाज को आर्थिक व सामाजिक रूप से विकसित करने का महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया है। मुद्रा के कार्यो को मुख्य रूप से निम्न भागों में विभाजित कर विश्लेषण किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में कहा भी गया है:- "मुद्रा के है कार्य चार, माध्यम, मापक, संचय, आधार"। अध्ययन को सरल बनाने के उद्देश्य से मुद्रा के द्वारा पूर्ण किये जाने वाले कार्यो को निम्न प्रकार से दर्शाया जा सकता है:-

(1) मुद्रा के प्रमुख कार्य (Primary Function of Money)
(2) मुद्रा के गौण कार्य (Secondary Functions Money)
(3) मुद्रा के आकस्मिक कार्य (Contingent Functions of Money)
(4) मुद्रा के अन्य कार्य (Other Functions of Money)

### 1.4.1 मुद्रा के प्रमुख या प्राथमिक कार्य (Primary Functions of Money)

मुद्रा के प्रमुख या प्राथमिक कार्य को अनिवार्य अथवा मौखिक कार्य भी कहा जा सकता है। मुद्रा के प्रमुख कार्यो को भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-

प्रथम- मुद्रा विनिमय का माध्यम है और दूसरा- यह वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य मापन का कार्य भी करती है।

**(1) विनिमय का माध्यम (Measure of value)**

मुद्रा का प्रमुख कार्य विनिमय का माध्यम है। वर्तमान युग में समाज में जितना भी लेन-देन होता है उसका भुगतान मुद्रा के द्वारा ही सम्पन्न होता है, क्योंकि मुद्रा में सामान्य स्वीकृति का गुण विद्यमान होता है। प्राचीन काल में समाज में वस्तु विनिमय प्रणाली का प्रचलन था। वस्तु के बदले में वस्तु का ही भुगतान किया जाता था। इस प्रथा में अनेकों कठिनाइयों का सामना लोगों को करना पडता था, परन्तु वर्तमान युग में मुद्रा के प्रचलन के कारण वस्तु विनिमय में होने वाली कठिनाइयों का समापन तो हो ही गया है, साथ ही साथ मुद्रा ने वर्तमान आर्थिक जगत में होने वाले व्यवसाय को अत्यन्त सरल एवं सुविधाजनक बना दिया है। उत्पादन के इस विशिष्टीकरण के युग में समाज के प्रत्येक क्रेता एवं विक्रेता को अपनी आवश्यकता की वस्तु को खरीदने तथा बेचने की क्रिया को अत्यन्त ही सरल व सुविधा जनक बना दिया है। मुद्रा में क्रय शक्ति एवं सर्वग्राहता होने के कारण सभी विनिमय कार्यो के लिये मुद्रा अत्यन्त ही महत्वपूर्ण हो गई है। अत: मुद्रा के बिना वर्तमान विनिमय व्यवस्था की कल्पना ही सम्भव नहीं है।

**(2) मूल्य का मापक (Measure of value)**

मुद्रा का दूसरा प्रमुख कार्य है, समाज या अर्थव्यवस्था में उत्पन्न अथवा प्रस्तुत विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य आंकना। अर्थात अर्थव्यवस्था की विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं को मुद्रा के रूप में प्रकट किया जा सकता है। जिस प्रकार वस्तुओं की तौल किलोग्राम और लीटर में, तथा लम्बाई, चौड़ाई मीटर व सेन्टीमीटर में मापी जाती है, उसी प्रकार सभी वस्तुओं के मूल्य को एक मात्र मुद्रा से ही मापा जा सकता है। इस प्रकार वर्तमान युग में सभी वस्तुओं एवं सेवाओं के क्रय-विक्रय का आधार

मुद्रा है। परन्तु वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में निरन्तर परिवर्तन होते रहने के कारण मुद्रा के मूल्य में भी परिवर्तन होता रहता है।

विनिमय का माध्यम तथा मूल्य का मापक, मुद्रा के यह दोनों कार्य साथ-साथ एक ही मुद्रा द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, परन्तु ऐसा भी सम्भव है कि किसी देश में किसी समय विशेष में विनिमय के माध्यम के रूप में एक मुद्रा हो और मूल्य मापक के रूप में दूसरी मुद्रा का प्रयोग किया जाता हो। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात जर्मनी में मुद्रा स्फीति के कारण मूल्य मापक का कार्य विदेशी मुद्राओं में किया जाता था, जबकि विनिमय का कार्य मार्क द्वारा ही सम्पन्न होता था। यह अलग-अलग कार्यो को अलग-अलग मुद्रा के प्रयोग का ही एक उदाहरण है।

### 1.4.2 मुद्रा के गौण कार्य (Secondary Functions Money)

मुद्रा के प्राथमिक या प्रमुख कार्यो में सहायता प्रदान करने वाले कार्यो को मुद्रा कार्य या सहायक कार्य कहा जाता है

मुद्रा के गौण या सहायक कार्यो को मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। जो निम्न है:-

(1) स्थगित भुगतानों का आधार (Standard of differred payments)

(2) मूल्य-संचय के साधन के रूप में (Money as a Means of store of value)

(3) मूल्य का हस्तांतरण (Transfer of value)

### (1) स्थगित भुगतानों का आधार (Standard of differred payments)

मुद्रा का यह कार्य अत्यन्त ही महत्वपूर्ण कार्य है। अविकसित अर्थव्यवस्था में वस्तु विनिमय प्रणाली प्रचलन में थी, जिससे उधार लेन-देन करना कठिन होता था। मुद्रा के अभाव के कारण उधार ली गई वस्तुओं को भविष्य में वस्तुओं और सेवाओं के रूप में ही लौटाया जाता था, किन्तु वस्तुओं का मूल्य बदलते रहने के कारण व्यक्ति लेन-देन के लिय तैयार नहीं होते थे, फलत: विभिन्न समस्याओं का जन्म होता था। परन्तु मुद्रा के स्थगित भुगतान के गुण ने न केवल वस्तु-विनिमय की इस कठिनाई को दूर किया है, बल्कि आधुनिक मुद्रा प्रणाली के उधार देने में सुविधा हो गई है, और वर्तमान लेन-देन को भविष्य के लिए स्थगित करने में कोई कठिनाई नहीं होतीं मुद्रा में क्रयशक्ति, सर्वग्राह्यता एवं टिकाऊपन के गुणों के कारण वर्तमान उपभोग को स्थगित किया जा सकता है और भविष्य में स्थगित भुगतानों को प्राप्त करने में किसी प्रकार की कोई भी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। इसीलिये वर्तमान में सभी व्यावसायिक क्रियाओं का आधार मुद्रा एवं साख है।

### (2) मूल्य-संचय के साधन के रूप में (Money as a Means of Store of Value)

वस्तु विनिमय प्रणाली में भविष्य के लिए धन संचय करना या बचत करना कठिन कार्य था। चूंकि वस्तुयें नाशवान होती है, अत: यदि उनको भविष्य के लिए संचित करके रखा भी जाय और वे नष्ट हो गई तो मूल्य का संचय व्यर्थ हो जाता था। शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं जैसे-फल, सब्जी, मांस, मछली आदि पर यह बात पूर्णत: लागू होती थी। इसके अतिरिक्त यदि वस्तुओं को संचित भी किया जाये तो पर्याप्त स्थान की आवश्यकता पड़ती थी। साथ ही वस्तुओं के मूल में भविष्य में बहुत परिवर्तन भी हो जाता था, जिससे वस्तुओं के रूप में बचत करने से हानि की संभावना अधिक रहती

थी। परन्तु मुद्रा के प्रचलन ने धन संचय को अत्यन्त सरल बना दिया है। चूंकि मुद्रा में सामान्य स्वीकृति, टिकाऊपन एवं तरलता होने कारण धन के रूप में संचित रखने से किसी भी समय इसे वस्तुओं और सेवाओं के रूप में परिवर्तित किया जा सकता हैं। अत: मुद्रा ने पूँजी संचय को अधिक सरल बना दिया है जिससे अर्थव्यवस्था का विकास तेजी से हुआ है।

### (3) मूल्य का हस्तांतरण (Transfer of value)

वर्तमान समय में विनिमय का क्षेत्र काफी व्यापक हो गया है। उदारीकरण और विश्वव्यापीकरण के कारण व्यापार का क्षेत्र काफी व्यापक और विस्तृत हो गया है। इन परिस्थितियों में मूल्य का हस्तान्तरण एक स्थान से दूसरे स्थान के लिए किया जाना आवश्यक हो गया है। मुद्रा के कारण मूल्य हस्तान्तरण का कार्य अत्यन्त ही सरल व सुगम हो गया है। कोई भी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को एक स्थान से बेचकर दूसरे स्थान में मुद्रा के सहयोग के कारण दूसरे स्थान पर नई सम्पत्ति क्रय कर सकता है, और यह कार्य केवल मुद्रा के द्वारा ही सम्भव है। वर्तमान समय में अर्थव्यवस्था का तीव्र विकास मुद्रा के कारण ही सम्भव हो सका है। मुद्रा के प्रचलन ने मानव के आर्थिक जीवन को अत्यन्त सरल बना दिया है।

## 1.4.3 मुद्रा के आकस्मिक कार्य (Contingent Funtions of Money)

मुद्रा के प्रमुख एवं गौण कार्यो के अतिरिक्त भी कुछ कार्य होते हैं जिन्हें मुद्रा के आकस्मिक कार्य कहा जाता है। किनले (Kinley) द्वारा मुद्रा के आकस्मिक कार्यो को निम्नलिखित चार भागों में विभाजित किया गया है:-

### (1) आय का वितरण (Distribution of Income)

अर्थ व्यवस्था में किसी भी वस्तु का उत्पादन विभिन्न साधनों (भूमि, श्रम, पूँजी तथा साहस) के सहयोग से ही प्राप्त होता है। उत्पादन के बदले में जो आय प्राप्त हो उसका वितरण इन्ही विभिन्न साधनों के मध्य होना चाहिए। अत: विभिन्न उत्पादन के साधनों के सहयोग से प्राप्त आय का वितरण प्रत्येक साधन को मुद्रा के रूप में ही किया जाना सम्भव है। देश की कुल राष्ट्रीय आय का अनुमान भी मुद्रा में ही लगाया जाता है।

### (2) मुद्रा साख का आधार है (Money is basis of credit)

वर्तमान युग में साख मुद्रा का प्रचलन अत्यधिक हो गया है। विकसित देशों में चैक, विनिमय पत्रों आदि का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में किया जाता है। यह साख पत्र मुद्रा के आधार पर ही जारी किये जाते हैं। विभिन्न व्यापारिक बैंक अपनी जमा राशियों के आधार पर ही साख का सृजन कर सकते है। जमा राशियों के कारण ही ग्राहकों का बैंक में विश्वास बना रहता है।

### (3) सभी पूँजी अर्थात सम्पत्ति को तरल बनाना (Liquidity of property)

मुद्रा सभी प्रकार की पूँजी को तरलता प्रदान करती है। मुद्रा द्वारा ही पूँजी को एक प्रयोग से निकालकर दूसरे प्रयोग में लगाया जा सकता है, जैसे- मकान,भूमि , मशीनों आदि को मुद्रा के रूप में बेचकर दूसरे लाभदायक स्थानों या विभिन्न प्रयोगों में लगाया जा सकता है।

### (4) पूँजी की उत्पादकता में वृद्धि करना (To promote the productivity of capital)

पूँजी का सबसे बड़ा आधार मुद्रा ही है। मुद्रा के द्वारा ही पूँजी को अधिक सीमान्त उत्पादन क्षमता वाले साधनों में लगाया जा सकता है, जिससे उत्पादक को अधिकतम लाभ प्राप्त हो सकें। अत: मुद्रा के द्वारा ही पूँजी की गतिशीलता एवं उत्पादकता में वृद्धि सम्भव है।

### 1.4.4 मुद्रा के अन्य कार्य (Miscellaneous functions of Money)

उपर्युक्त कार्यो के अतिरिक्त मुद्रा के कुछ अन्य कार्य भी होते है, जो निम्न हैं:-

### (1) निर्णय का वाहक (Bearer of Opinion)

संचित की गई मुद्रा को भविष्य में किसी भी वस्तु या सेवा में व्यय किया जा सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि जिस उद्देश्य के लिए मुद्रा को संचित किया गया हो, उसी में व्यय किया जाय। व्यक्ति अपनी इच्छा एवं आवश्यकतानुसार संचित मुद्रा का प्रयोग कर सकता है। अत: मुद्रा व्यक्ति की वर्तमान और भविष्य की इच्छाओं को पूरा करने में सहायोग प्रदान करती है। व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अधिक उपयोगी कार्यो में मुद्रा को व्यय कर सकता है।

### (2) भुगतान स्थिति की सूचक (Index of Repaying capacity)

किसी व्यक्ति या फर्म के पास तरल रूप में पायी जाने वाली मुद्रा उसके भुगतान करने की क्षमता की द्योतक होती है। विभिन्न बैंकों व बीमा कम्पनियों के पास यदि अपने ग्राहकों को देने के लिये पर्याप्त मुद्रा का भंडार नहीं होता तो वे दिवालिया घोषित हो जाते हैं। इस प्रकार मुद्रा किसी व्यक्ति या संस्था के भुगतान की स्थिति की सूचक होती है।

### (3) तरलता दायक (Liquid Assets)

पूँजी को मुद्रा के रूप में किसी भी प्रयोग में लाया जा सकता है, क्योंकि मुद्रा पूँजी का तरल स्वरूप होती है। व्यक्ति अपनी दिन प्रतिदिन की आवश्यकताओं की पूर्ति मुद्रा के माध्यम से ही कर सकता है प्रत्येक व्यक्ति तरल रूप में मुद्रा इसलिये भी अपने पास रखना चाहता है ताकि अचानक किसी बीमारी, दुर्घटना आदि में मुद्रा उसके काम आ सकें, साथ ही व्यवसायी व्यक्तियों द्वारा सट्टे के उद्देश्य से भी पूँजी को मुद्रा के रूप में अपने पास रखने की प्रवृत्ति होती है। प्रो. कीन्स ने इस प्रवृत्ति को सट्टा उद्देश्य के नाम से दर्शाया है।

मुद्रा के उपर्युक्त कार्यो के विवेचन से स्पष्ट है कि वर्तमान अर्थव्यवस्था के संचालन में मुद्रा अपनी अहम् भूमिका अदा कर रही है। पाल इंजिग ने भी इसी प्रकार मुद्रा के कार्यो को निम्न दो भागों में विभाजित किया है। (अ) स्थैतिक कार्य (ब) प्रावैगिक कार्य। स्थैतिक कार्य दे हैं जिन्हें मुद्रा द्वारा सभी स्थानों एवं सभी परिस्थितियों में समान रूप से सम्पन्न किया जाता है। इस दृष्टि से उपर्युक्त सभी कार्य स्थैतिक कार्यो की श्रेणी में आ जाते हैं। मुद्रा के स्थैतिक कार्यो को निष्क्रिय कार्य, परम्परागत कार्य स्थिर कार्य अथवा तकनीकी कार्य भी कहा जाता है। जबकि प्रावैगिक कार्य दे कार्य होते है जिनसे अर्थव्यवस्था में गतिशीलता उत्पन्न होती है।

मुद्रा का प्रमुख कार्य मूल्य स्तर को प्रभावित करना है - जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था प्रभावित होती है।

अत: मुद्रा के प्रावैगिक कार्यो से उत्पादन का स्तर आय स्तर आदि प्रभावित होते है। उक्त वर्गीकरण के बावजूद भी विनिमय का माध्यम, मूल्य का मापक, स्थगित भुगतानों का मान तथा क्रयशक्ति के संचय का साधन मुख्य रूप से मुद्रा के प्रावैगिक कार्यो की श्रेणी में आते हैं, क्योंकि इनसे

अर्थव्यवस्था में गति उत्पन्न होती है। विनिमय का माध्यम तथा स्थगित भुगतानों का मान होने के कारण ही मुद्रा के रूप में मूल्य का संचय किया जाता है। वर्तमान अर्थ जगत में मुद्रा के प्रावैगिक कार्यों एवं उनके प्रभाओं को ध्यान में रखकर ही केन्द्रीय बैंक और सरकारों द्वारा मुद्रानीति का निर्धारण किया जाता है। उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि मुद्रा का प्रमुख कार्य मूल्य स्तर को प्रभावित करना है, जिससे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था प्रभावित होती है।

**बोध प्रश्न-01**

1. मुद्रा के आविष्कार से पूर्व विनिमय किस प्रकार किया जाता था?
2. मुद्रा के लिए प्रयुक्त अंग्रेजी शब्द 'Money' किस भाषा से उत्पन्न माना जाता है?
3. मुद्रा की परिभाषाओं के मुख्य आधार क्या है?
4. मुद्रा की वैधानिक परिभाषाएं किस पर सर्वाधिक बल देती है?
5. मुद्रा के प्राथमिक कार्यों के नाम लिखिए
6. मुद्रा के गौण कार्य कौन-कौन से है?

## 1.5 मुद्रा का महत्व (Importance of Money)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री मुद्रा को कोई विशेष महत्व नहीं देते थे। प्रो.पीगू के अनुसार, "मुद्रा एक आवरण है, जिसके पीछे आर्थिक शक्तियों का कार्य छिपा हुआ है।" परम्परावादी अर्थशास्त्री मानते थे कि सेवा बाजार नियम मौद्रिक अर्थव्यवस्था एवं अमौद्रिक अर्थव्यवस्था दोनों में ही समान रूप से सम्पन्न होता है। परन्तु परम्परावादी अर्थशास्त्रियों का उक्त दृष्टिकोण उचित नहीं था। आधुनिक अर्थजगत में मुद्रा से अधिक महत्वपूर्ण वस्तु की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा आर्थिक क्रियाओं के नियमन के साथ सामाजिक सुधारों में भी अपनी भूमिका अदा करती है। अर्थशास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र जैसे उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण और राजस्व में मुद्रा के महत्व को झुठलाया नहीं जा सकता।

प्रो. मार्शल के शब्दों में, "मुद्रा वह धुरी है जिसके चारों ओर अर्थ-विज्ञान चक्कर लगाता है।" आधुनिक अर्थव्यवस्था को एक मशीन माना जाय तो मुद्रा ईंधन के रूप में वह शक्ति है जिसके द्वारा अर्थव्यवस्था गतिमान होती है। अर्थव्यवस्था के संचालन की कल्पना करना मुद्रा के बिना अर्थ है। मानव द्वारा किए गये आविष्कारों में मुद्रा एक महत्वपूर्ण आविष्कार है। प्रो. क्राउथर के अनुसार, "मुद्रा मानवीय आविष्कारों में सबसे महत्वपूर्ण है। ज्ञान की प्रत्येक शाखा में एक महत्वपूर्ण आविष्कार हुआ है"। जैसे यन्त्र विज्ञान में चक्र का, विज्ञान में अग्नि का तथा राजनीति में वोट का आविष्कार महत्वपूर्ण है। मुद्रा के कारण ही बचत और विनियोग को प्रोत्साहन मिला है, जिससे आर्थिक विकास की गीत तीव्र हुई है। मुद्रा के कारण ही विभिन्न वित्तीय संस्थाओं जैसे बैंक, बीमा, बीमा कम्पनियों का प्रादुर्भाव हुआ है।

सभी आर्थिक प्रणालियों में मुद्रा एक महत्वपूर्ण आर्थिक संस्था है। अत: विभिन्न आर्थिक प्रणालियों के अन्तर्गत मुद्रा के महत्व का अध्ययन किया जा सकता है।

### 1.5.1 पूँजी वादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्व (Importance of Money in Capitalistic Economy)

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व होता है और उत्पादन भी अधिक लाभ कमाने की दृष्टि से निजी उद्‌यमी ही करते हैं। ऐसी अर्थव्यवस्था मौद्रिक अर्थव्यवस्था होती है जहां आर्थिक क्रियाएँ "कीमततंत्र" द्‌वारा संचालित होती है। चूँकि कीमतों का निर्धारण मुद्रा में ही होता है इसीलिए पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। इसका विवरण निम्न प्रकार है:-

**(1) केन्द्रीय समस्याओं का समाधान (Solution of Central Problems)**

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की केन्द्रीय समस्याओं जैसे क्या, कैसे, और किसके लिए उत्पादन किया जाय, का समाधान कीमत तंत्र जो मुद्रा पर आधारित है, के द्‌वारा ही सम्भव है। इसे निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है:

**(अ) उत्पादन क्या किया जाय (What to produce?)**

पूँजी वादी अर्थव्यवस्था में उत्पादक अधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से उन्हें वस्तुओं का उत्पादन करते है जिनकी मांग उपभोक्ताओं द्‌वारा अधिक की जाती है। उपभोक्ता अपनी पसन्द की वस्तुओं के लिए अधिक मूल्य देने को हमेशा तैयार रहते हैं। प्रत्येक उत्पादक अपने उत्पादन के साधनों का प्रयोग इस प्रकार करता है जिससे अधिकतम बाजार मूल्य उत्पन्न हो सकें। अत: अर्थव्यवस्था में इन्हीं वस्तुओं का उत्पादन होता है जिसके लिए उपभोक्ता अधिक मूल्य देने को तैयार रहते

**(ब) उत्पादन कैसे किया जाय (How to produce?)**

प्रत्येक उत्पादक साधनों के उस संयोग को चुनता है जहाँ न्यूनतम लागत से अधिकतम उत्पादन संभव हो ताकि उत्पादक का लाभ अधिकतम हो सकें। प्रत्येक उत्पादक का उद्देश्य ही अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है। उत्पादन के साधनों में जो साधन सस्ता होता है, उसे महंगे साधन के स्थान पर प्रयोग कर उत्पादन लागत को कम करके अधिकतम लाभ प्राप्त करने का उत्पादक प्रयास करता है।

**(स) उत्पादन किसके लिए किया जाय (For whom to produce?)**

समाज में जिन लोगों की आय अधिक होती है, उनकी क्रयशक्ति भी अधिक होती है जिसके फलस्वरूप उनका उपभोग भी अधिक होता है। अत: वस्तुओं की मांग अधिक करते हैं, जिससे उत्पादक ऐसे वर्ग की मांग को पूरा करने के लिए उत्पादन भी उनकी मांग के आधार पर अधिक मात्रा में करते हैं। दूसरी तरफ कम आये वाले व्यक्तियों की मांग भी कम होती है, अत: उनकी मांग के अनुसार उत्पादक उत्पादन करते हैं। इस प्रकार वितरण प्रणाली की समस्या का समाधान भी कीमत प्रणाली द्‌वारा सम्पन्न होता है।

**(2) उपभोग में मुद्रा का महत्व (Importance of Money in Consumption)**

(अ) प्रत्येक उपभोक्ता कम व्यय से अधिक संतुष्टि प्राप्त करना चाहता है। समसीमान्त उपयोगिता नियम के पालन में मुद्रा सहायक होती है।

(ब) उपभोक्ता को निरंकुश राजा कहा गया है, क्योंकि वह अपनी इच्छानुसार ही उपभोग में मुद्रा का व्यय करता है। (स) (स) मुद्रा के कारण ही विनिमय कार्य अत्यन्त सरल हो गया

है, उत्पादन प्रारम्भ करते समय उपभोक्ता की रूचि को ध्यान में रखा जाता है। मुद्रा के कारण उपभोक्ता की उचित के अनुसार उसे प्राप्त होने वाली वस्तुओं की संख्या बढ गई है।

(द) मुद्रा के द्वारा ही उपभोक्ता अपनी आय को इस प्रकार व्यय करता है, जिससे उसे अधिकतम संतुष्टि प्राप्त हो सकें। इस प्रकार उपभोग की सारी क्रियाऐं जैसे आय, मांग, पूर्ति, मूल्य, बचत, आदि पर निर्भर करती है जिनका निर्धारण मुद्रा के बिना सम्भव नहीं है।

### (3) विनिमय के क्षेत्र में मुद्रा का महत्व (Importance of Money in Exchange)

वस्तु विनिमय प्रणाली की कठिनाइयों को मुद्रा के अविष्कार ने समाप्त कर दिया है। प्रत्येक वस्तु की लागत का अनुमान मुद्रा के द्वारा ही लगाया जाता है जिसके आधार पर ही वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है। आज वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन के लिए मुद्रा तो आवश्यक है ही, परन्तु साख मुद्रा का प्रयोग बढ़ गया है। बडे पैमाने के उत्पादन के लिए साख की उपलब्ध अत्यधिक महत्वपूर्ण है और साख का निर्णय केवल मुद्रा से ही संभव है। मुद्रा के कारण ही अन्तरराष्ट्रीय व्यापार सम्भव हो सकता है। अत: अर्थव्यवस्था में सम्पूर्ण क्रय विक्रय व्यवस्था मुद्रा पर ही आधारित है। अर्थात् मुद्रा ही सामान्य मूल्य का आधार है। मुद्रा के द्वारा ही बचत एवं विनियोग संभव हो सका है, क्योंकि छोटी छोटी बचतें जिनका उपयोग विनियोग के लिए किया जाता है, वह सब मुद्रा के कारण ही संभव हो सकता है।

### (4) वितरण के क्षेत्र में मुद्रा का महत्व (Importance of Money in Distribution)

आधुनिक युग में उत्पादन का कार्य बड़े पैमाने पर किया जाता है। उत्पादन उसके समस्त साधनों द्वारा सामूहिक रूप से मिलकर लिया जाता है, अत: उत्पादन के पश्चात उत्पादन के साधनों जैसे :- भूमि का लगान, श्रमिक की मजदूरी, पूँजी का ब्याज, संगठनकर्ता को वेतन और साहसी को लाभ का भुगतान मुद्रा के द्वारा ही संभव हो सका है। प्रत्येक साधनों को उनकी सीमान्त उत्पादन क्षमता के अनुसार उनका प्रतिफल देना संभव हो सका है, इस प्रकार मुद्रा के कारण ही वितरण की जटिल समस्या का समाधान हो सका है।

### (5) राजस्व के क्षेत्र में मुद्रा का महत्व (Importance of Money in Public Finance)

सरकार के कार्यो में निरन्तर हो रही वृद्धि के कारण सार्वजनिक व्यय का महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। सरकार कर, ऋण एवं व्यय का समायोजन करके ही सामाजिक कल्याण को अधिकतम करने का प्रयास करती है। सार्वजनिक व्यय को पूरा करने के लिए सरकार जनता से कर, फीस व जुर्माने आदि के रूप में धन एकत्रित करती है। चूंकि यदि मुद्रा न हो तो कर या फीस के रूप में सरकार, किसानों से अनाज, मोची से जूते, बढ़ई से मेज-कुर्सी आदि नहीं ले सकती, अत: मुद्रा ने इस समस्या को समाप्त कर दिया है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु का उत्पादक अब मुद्रा के रूप में, अपने जुर्माने, फीस व कर आदि का भुगतान सरलता से कर सकता है। सरकार कर निर्धारण से प्राप्त होने वाली आय, व्यय एवं ऋण की नीतियों द्वारा समाज के लिए अपनाई जाने वाली आर्थिक नीतियों को प्रभावित कर सकती है। परन्तु मुद्रा के अभाव में सार्वजनिक आय एवं व्यय की नीतियों का निर्धारण संभव नहीं है।

### (6) मुद्रा और औद्योगिक प्रगति (Money and Industrial Progress)

उद्योगों की प्रगति पूँजी पर ही निर्भर है और बड़ी मात्रा में पूँजी का संग्रहण मुद्रा के बिना संभव नहीं है। अत: बिना मुद्रा के उद्योगों की कल्पना करना ही व्यर्थ है।

**(7) मुद्रा और आर्थिक विकास (Money and Economic Progress)**

जिन देशों की मुद्रा की कीमत गिरती रहती है और उन्हें आर्थिक दृष्टि से पिछडा हुआ देश माना जाता है। जिस प्रकार के तापमान को मापने के लिए थर्मामीटर का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार किसी देश की आर्थिक प्रगति का सूचक मुद्रा है। लोगों की आवश्यकताओं में परिवर्तन के साथ उसी के अनुसार मुद्रा प्रणाली में भी परिवर्तन होते जाते हैं। अत: किसी देश की मौद्रिक अर्थ व्यवस्था उस देश की आर्थिक प्रगति की सूचक होती है।

**(8) आधुनिक बाजार व्यवस्था का आधार (Basic of Modern Markets)**

मुद्रा के कारण ही बड़े पैमाने का उत्पादन संभव हो सका है। उत्पादित माल मुद्रा के रूप में बिक्री हो जाता है और प्राप्त मुद्रा से पुन: कच्चा माल खरीद कर उत्पादन किया जाता है जिससे बाजार का विस्तार होता है।

**(9) आय, उत्पादन व रोजगार पर मुद्रा का प्रभाव (Effects of Money on Income, Production and Employment)**

मुद्रा की सहायता से अर्थव्यवस्था में उत्पादन व रोजगार के स्तर को बढ़ाया जा सकता है, जिससे सामाजिक आय में वृद्धि हो सकेगी। मुद्रा ब्याज दर को प्रभावित करके, विनियोग को प्रभावित करती है और इस प्रकार मुद्रा, आय, उत्पादन व रोजगार को प्रभावित करती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का एक महत्वपूर्ण स्थान है।

### 1.5.2 समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्व (Importance or Role of Money in Socialistic Economy)

समाजवादी अर्थव्यवस्था में उत्पत्ति के भौतिक साधनों पर राज्य या समाज का अधिकार होता है। राज्य का मुख्य उद्देश्य सामाजिक कल्याण में वृद्धि करना होता है, जिसे दृष्टिगत रखकर ही उत्पादन किया जाता है। अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों का संचालन शासकीय कर्मचारियों द्वारा किया जाता है। इस व्यवस्था में समस्याओं का समाधान शासन द्वारा योजनाओं के माध्यम से किया जाता है। समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा के महत्व या भूमिका का अध्ययन संक्षेप में निम्न प्रकार से किया जा सकता है:-

**(1) उत्पादन के साधनों का आवंटन (Allocation of Production Resources)**

इस व्यवस्था में साधनों का स्वामित्व सरकार के हाथों में होता है। केन्द्रीय योजना अधिकारी उत्पादन के विभिन्न साधनों का आवंटन करता है। इस आवंटन की क्रिया को सही ढंग से संचालित करने के लिए मुद्रा आवश्यक होती है। योजना अधिकारी यह निश्चित करता है कि प्रत्येक प्रबन्धक वस्तुओं और सेवाओं का निर्माण इस प्रकार करें कि औसत लागत से बराबर हो। यदि वस्तु की कीमत उसकी औसत लागत से अधिक होगी तो प्रबन्धक लाभ प्राप्त करेंगे और यदि वस्तु की कीमत उसकी उत्पादन की औसत लागत से कम होगी तो उन्हें हानि उठानी पड़ेगी।

**(2) आय का वितरण (Distribution of Income)**

समाजवादी अर्थव्यवस्था में भी मजदूरों की आय के वितरण के लिए मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है। मुद्रा के रूप में आय प्राप्त करके उपभोक्ता अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का क्रय सरलता से कर सकेगा।

### (3) पूँजी निर्माण(Foreign Trade)

समाजवादी अर्थव्यवस्था में भी पूँजी निर्माण की आवश्यकता होती है। इस अर्थव्यवस्था में भी बड़े पैमाने के उत्पादन को अर्थव्यवस्था का आधार माना जाता है। समाजवादी अर्थव्यवस्था में भी पूँजी निर्माण के वही साधन हैं जो पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में कार्य करते हैं। सरकार द्वारा लगाए गए कर, उद्योगों को प्राप्त लाभ, विदेशी व्यापार से प्राप्त आया उत्पादन पर लगाए गए करों आदि का निर्धारण मुद्रा के द्वारा ही संभव है, अत: पूँजी निर्माण में मुद्रा का अत्यन्त महत्व है।

### (4) विदेशी व्यापार (Foreign Trade)

समाजवादी अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार वस्तु के रूप में न हो कर मुद्रा के रूप में किये जाते है। आयात और निर्यात की वस्तुओं का मूल्य निर्धारण मुद्रा में करके भुगतान संतुलन को संतुलित करने का प्रयास किया जाता है।

अत: उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था में भी मुद्रा का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

## 1.5.3 मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं मे मुद्रा का महत्व (Importance or Role of Money in Mixed Economy)

नियोजित अर्थव्यवस्था दो प्रकार की होती है एक समाजवादी अर्थव्यवस्था और दूसरी मिश्रित अर्थव्यवस्था। मिश्रित अर्थव्यवस्था में मुद्रा के महत्व को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है:

मिश्रित अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र दोनों ही मिलकर देश की अर्थव्यवस्था को प्रगति की ओर ले जाने का कार्य करती है। निजी क्षेत्र द्वारा उत्पादन लाभ के लिए किया जाता है, परन्तु इन पर सरकार का पूरा नियंत्रण रहता है। श्रम अर्थव्यवस्था में मुद्रा की भूमिका को निम्न प्रकार से अध्ययन किया जा सकता है:

### (1) आर्थिक विकास (Economic Development)

किसी देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है कि उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का विदोहन पूर्ण और योजनाबद्ध ढंग से हो। इन साधनों के पूर्ण उपयोग को मुद्रा के सहयोग के बिना कर पाना कठिन एवं असंभव है। सरकार अर्थव्यवस्था के विकास हेतु कर, ऋण आदि से राशि प्राप्त करती है, परन्तु यदि योजनाओं को पूरा करने के लिए इन साधनों से आय कम पड़ती है तो घाटे की वित्त व्यवस्था का सहारा सरकार को लेना पड़ता है और घाटे की वित्त व्यवस्था मुद्रा के बिना संभव नहीं है।

### (2) योजनाओं का निर्माण (Formulation of Plans)

अर्थव्यवस्था का सम्यक विकास योजनाबद्ध ढंग से ही संभव है। योजनाओं का निर्माण और उनका संचालन बिना मुद्रा के संभव नहीं है। विकास के लिये कौन-सी योजना उपयुक्त है और उसे कैसे क्रियान्वित किया जाये इसका निर्धारण सरकार द्वारा किया जाता है। अत: पूर्व निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये मुद्रा के बिना योजनाएँ सफल नहीं हो सकती।

### (3) विदेशी विनिमय की पूर्ति (Need of Foreign Exchange)

हर विकासशील राष्ट्र के लिये आवश्यक है कि उसके पास पर्याप्त विदेशी मुद्रा का भंडार हो ताकि विदेशी विनिमय की कठिनाई का सामना न करना पड़े। विदेशी विनिमय दर में स्थिरता बनाये रखने के लिये मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है।

**(4) क्रय-विक्रय (Sale- Purchase)**

अन्तरराष्ट्रीय और आन्तरिक बाजारों में वस्तुओं और सेवाओं का क्रय-विक्रय सही ढंग से चलता रहे, इसके लिए भी मुद्रा की आवश्यकता होती है।

**(5) पूँजी की गतिशीलता (Flow of Capital)**

मुद्रा पूँजी का एक तरल रूप हैं बैंकों के माध्यम से पूँजी सरलता से एक स्थान से दूसरे स्थान को मुद्रा के रूप में तत्काल भेजी जा सकती है।

**(6) अन्य महत्व (Other Significance)**

सरकार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निजी उद्यमों को सुविधा प्रदान करती है। मौद्रिक क्षेत्र में बचत बैंक खोलकर, उद्योगों की स्थापना करके तथा निर्माण कार्य प्रारम्म करके, मुद्रा का चलन बढ़ाती है। यह सारी व्यवस्था मुद्रा के द्वारा ही संभव हो पाती है।

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि आधुनिक युग में मुद्रा को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। मानव की समस्त आर्थिक एवं सामाजिक क्रियायें मुद्रा के बिना संभव नहीं हो सकती।

ट्रेस्काट के शब्दों में, "यदि मुद्रा को हमारे अर्थतंत्र का हृदय नही तो रक्तस्त्रोत अवश्य माना जा सकता है।"

## 1.6 मुद्रा के दोष (Demerits of Money)

आधुनिक अर्थव्यवस्था में मुद्रा का अत्यधिक महत्व होते हुए भी इसके अनेक दोष भी है, जिनमें प्रमुख रूप से निम्न है:

मुद्रा के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न वक्तव्य दिये गए है। जैसे, ' 'मुद्रा जो मानव मात्र के लिए अनेक वरदानों का स्रोत है, अनियंत्रित होने पर संकट और अशांति का कारण बन सकती है"। इस सम्बन्ध में विद्वानों के अलग-अलग विचार है :

(अ) "मुद्रा एक बहुमूल्य किन्तु भयावह आविष्कार है।"

(ब) "मुद्रा एक अच्छा सेवक किन्तु बुरा स्वामी है।"

(स) "मुद्रा एक आवश्यक बुराई है।"

मुद्रा के प्रति इतनी विरोधी धारणाएँ रखने का कारण यह है कि मुद्रा के कारण समाज में अनेक बुराइयाँ तथा दुष्प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो गई है। इन बुराइयों अथवा दोषों को निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत हम अध्ययन कर सकते हैं।

### 1.6.1 मुद्रा के आर्थिक दोष (Economic Evils)

आर्थिक दृष्टि से मुद्रा के निम्न दोष हैं.

**(1) अति-पूँजीयन एवं अति-उत्पादन को प्रोत्साहन** उत्पाद कों और उद्योगपतियों को जब सरलता से ऋण उपलब्ध हो जाता है तो समाज में अति-पूँजीयन व अति-उत्पादन को बढ़ावा मिलता है, जिसके फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में अस्त-व्यस्तता फैल जाती है।

**(2) मुद्रा के मूल्य अस्थिरता** मुद्रा की क्रय शक्ति अर्थात् मुद्रा के मूल्य में होते रहने वाले परिवर्तन के कारण अर्थव्यवस्था में अनिश्चितता का वातावरण निर्मित होता है जिससे मानव जीवन तो अस्तव्यस्त होता ही है, व्यापार, उद्योग आदि की प्रगति में भी बाधा उत्पन्न होती है।

**(3) उधारी की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन** मुद्रा द्वारा उधार लेने की परम्परा में वृद्धि होती है क्योंकि उधार लेने देन की प्रक्रिया सरल हो जाती है, फलत: समाज में फिजूल खर्चा को प्रोत्साहन मिलता है।

**(4) वर्ग संघर्ष का प्रादुर्भाव** मुद्रा के बल पर समाज में कुछ व्यक्ति अत्यधिक धनी और कुछ निर्धन होते जा रहे है। जिसके फलस्वरूप ससमाज में अमीर और गरीब दो वर्ग बन गए है, जिनमें सदैव संघर्ष होता रहता है जिसके फलस्वरूप आये दिन हड़तालें एवं तालाबन्दी होती रहती है, जिससे देश में अशान्ति का वातावरण उत्पन्न होता है।

**(5) सम्पत्ति के वितरण में असमानता** मुद्रा के कारण बडे-बड़े उद्योगों की स्थापना संभव हो सकती है, जिससे उत्पादन के समस्त साधन कुछ पूँजी-पतियों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है, उत्पादन वृद्धि के साथ ही धनी वर्ग अत्यधिक धनी एवं निर्धन अत्यधिक निर्धन होता जाता है। इस प्रकार समाज में आय की असमानता के कारण असंतोष को प्रोत्साहन मिलता है और समाज में क्रान्ति एवं उपद्रव जैसी प्रवृत्तियाँ जन्म लेती है।

**(6) मुद्रा स्फीति** मुद्रा के कारण सरकार को घाटे की वित्त व्यवस्था अपनाने का प्रोत्साहन प्राप्त हो गया है जिससे मुद्रा का निर्गमन आवश्यकता से अधिक होने के कारण देश में मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। फलस्वरूप वस्तुओं के मूल्य बढ़ने लगते हैं जिसे सामान्य आय वाले व्यक्तियों को बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। विकासशील राष्ट्रों में यह स्थिति देखने को मिलती है, क्योंकि योजनाओं को पूरा करने के लिए इन राष्ट्रों में अधिक मुद्रा का निर्गमन किया जाता है।

**(7) व्यापार चक्र** विद्वानों का यह मानना है कि मुद्रा की मांग और पूर्ति में असाम्यता के कारण अर्थव्यवस्था में तेजी और मंदी की स्थिति निर्मित होती है, जिससे रोजगार, विनियोग, अन्य आदि पर गहरा प्रभाव पडता है।

### 1.6.2 मुद्रा के सामाजिक दोष

मुद्रा के कारण मानव का सामाजिक जीवन बुरी तरह प्रभावित हुआ है। अत: मुख्य सामाजिक दोष निम्न है:

**(1) शोषण की प्रवृत्ति** आज समाज का प्रत्येक व्यक्ति उचित या अनुचित तरीके से अधिक से अधिक पैसा कमाना चाहता है। अधिक धन प्राप्त करने की लालसा में मजदूरों तथा कार्यालयों में कर्मचारियों का शोषण होने लगता

**(2) `भौतिकवाद को प्रोत्साहन** मुद्रा के विकास के कारण आज का युग भौतिक-वादी हो गया है। आज मनुष्य की सफलता व असफलता का मापदण्ड मुद्रा हो गई है।

**(3) प्रतिष्ठा मूलक** अधिक मुद्रा के स्वामित्व वाले व्यक्तियों को समाज में सम्मान का घोतक माना जाने लगा है। आज समाज में धनवान व्यक्ति को बुद्धि, कौशल, ईमानदार, त्याग आदि गुणों से ऊपर समझा जाने लगा है, जिससे समाज में श्रेष्ठ व्यवस्थाओं को धक्का पहुँचा है।

### 1.6.3 मुद्रा के नैतिक दोष

मुद्रा के आर्थिक व सामाजिक दोषों के अतिरिक्त सामाज में नैतिक दोषों का भी प्रादुर्भाव हुआ है। मुद्रा ने समाज में भ्रष्टाचार, चोरी, हिंसा, बलात्कार, वैश्यावृत्ति तथा तमाम जघन्य अपराधों को जन्म दिया है। धन के लोभ में ही दहेज प्रथा को बढ़ाया है और राजनैतिक लोगों ने नैतिकता तथा समाज की सेवा भावना का त्याग करके हवाला आदि जैसे तमाम कार्यो में लिप्त हो कर राजनीति को कलंकित किया है। रस्किन के शब्दों में, "मुद्रा रूपी दानव ने आत्माओं पर अधिकार कर लिया है, और कोई भी धर्म तथा दर्शन उसे बाहर निकालने में सक्षम प्रतीत नहीं होता। "

अत: अत्यधिक मुद्रा कमाने का लालच और अधिक मुद्रा का संग्रहण अनैतिक एवं अवांछनीय है।

## 1.7 सारांश (Summary)

इस इकाई में हमने मुद्रा के अर्थ एवं परिभाषाओं के बारे में जानकारी प्राप्त की। मुद्रा की परिभाषाएँ विभिन्न आधारों पर की गई है इन्हें विस्तार के आधार पर एवं प्रकृति के आधार पर दो प्रमुख वर्गो में बाँटा गया है। इसकी चर्चा करने के बाद हमने मुद्रा के कार्यो का चार भागों में बॉटकर किया है। मुद्रा के प्राथमिक अथवा प्रमुख कार्य विनिमय का माध्यम 'मूल्य का मापन है। इन कार्यो के अतिरिक्त मुद्रा कई प्रकार के कार्य सम्पादित कराती है जिनका वर्णन हमने इस इकाई में किया है। मुद्रा के गौण कार्य स्थगित भुगतानों का आधारित, संचय का साधन एवं मूल्य का हस्तांतरण है। मुद्रा के आकस्मिक कार्य आय का वितरण, साख का आधार एवं तरलता प्रदान करना प्रमुख है। इसके साथ ही हमने मुद्रा के महत्व की चर्चा की है। मुद्रा का सभी प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं में महत्व हैं। यहां हमने पूँजीवादी अर्थव्यवस्था, सामाजवादी अर्थव्यवस्था एवं मिश्रित अर्थव्यवस्था में अलग-अलग की है। वस्तुत: हम सभी जानते है कि हाल ही के वर्षो में समाजवादी अर्थव्यवस्थाएँ भी पूँजीवादी की राह पर चल रही है। अत: विभिन्न शीर्षकों में दिए गए वर्णन का मात्र सैद्धान्तिक महत्व ही है, व्यवहार में सभी अर्थव्यवस्थाएँ मिश्रित ही है। मुद्रा के महत्व की चर्चा करने के बाद मुद्रा के आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक दोषों की चर्चा की है।

## 1.8 शब्दावली (Glossary)

| | |
|---|---|
| मुद्रा के प्राथमिक कार्य | Primary Functions of Money |
| गौण कार्य | Secondary Functions of Money |
| आकस्मिक कार्य | Contingent Functions |
| मूल्य का मापन | Measure of Value |
| मूल का संचय | Store of Value |
| वस्तु विनिमय | Barter |
| साधन आवंटन | Allocation of Resources |
| पूँजी निर्माण | Capital Formation |

## 1.9 संदर्भ ग्रन्थ (References)

एच.एल. आहूजा, "उच्चतर समष्टि अर्थशास्त्र", एस.चाँद एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, 2008

जी.एन. हाम, 'मानेन्ट्री थ्योरी', 1946.

जी. क्राउथर, 'एन आउट लाइन ऑफ मनीं'।

दीपक अग्रवाल, 'मुद्रा, बैंकिंग, लोकवित्त एवं अन्तरराष्ट्रीय व्यापार", हिमालय पब्लिशिंग हाऊस मुंबई।

## 1.10 अभ्यासार्थ प्रशन (Unit-end Questions)

1. मुद्रा की परिभाषा दीजिए एवं उसके प्राथमिक कार्यो का उल्लेख कीजिए।
2. "मुद्रा वही है जो मुद्रा का कार्य करती है" इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
3. "मुद्रा में सामान्य स्वीकृति होनी चाहिए" इस कथन के सन्दर्भ में मुद्रा के कार्यो की विवेचना कीजिए।
4. मुद्रा की परिभाषा दीजिए और इसके मौलिक तथा आधुनिक कार्यो को समझाइये।
5. मुद्रा के गौण कार्यों को समझाइये।
6. मुद्रा के आकस्मिक कार्यो को समझाइये।
7. प्रो. कीन्स, क्राउथर, राबर्टसन और सेलिगमैन की मुद्रा की परिभाषाओं की व्याख्या कीजिए।
8. मुद्रा का आविष्कार क्यों किया गया? वर्तमान समय में उसके महत्व की विवेचना कीजिए।
9. "मुद्रा वह धुरी है जिसके चारों ओर अर्थविज्ञान चक्कर लगाता है।"व्याख्या कीजिए।
10. पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा की भूमिका का वर्णन कीजिए?
11. मिश्रित अर्थव्यवस्था में मुद्रा की भूमिका क्या है? वर्णन कीजिए।
12. मुद्रा के दोषों को समझाइये।
13. "मुद्रा एक अच्छा सेवक, किन्तु बुरा स्वामी है", इस कथन को स्पष्ट करते हुए व्याख्या कीजिए।
14. मुद्रा के आर्थिक एवं सामाजिक दोषों का वर्णन कीजिए।

# इकाई -2

# मुद्रा की मांग एवं पूर्ति की अवधारणा (Demand for Money and the Concept of Money Supply $M_1$,$M_2$,$M_3$)

**इकाई की रूपरेखा**

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 मुद्रा की मांग
  2.2.1 क्लासिकी मत
  2.2.2 केन्सीय मत
2.3 तरलता जाल
2.4 मुद्रा की पूर्ति
2.5 भारत में अपनायी गयी मुद्रा पूर्ति की धारणाएं
2.6 मुद्रा की पूर्ति तथा उच्च-शक्ति मुद्रा
2.7 मुद्रा की पूर्ति का सिद्धान्त
  2.7.1 जमा गुणक
  2.7.2 मुद्रा गुणक
  2.7.3 मुद्रा गुणक का व्युत्पादन
2.8 मुद्रा पूर्ति के निर्धारक
2.9 सारांश
2.10 शब्दावली
2.11 संदर्भ ग्रन्थ
2.12 अभ्यासार्थ प्रशन

## 2.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप:.

- मुद्रा की मांग के सम्बन्ध में विभिन्न विचारधाराओं से परिचित हो जाएंगे।
- जान सकेंगे कि मुद्रा की मांग के बारे में कीन्स के विचार एवं परम्परावादी अर्थशास्त्रियों (Classical Economists) के क्या विचार हैं?
- समझ सकेंगे कि मुद्रा की मांग के सम्बन्ध में कीन्स द्वारा प्रतिपादित लेन-देन उद्देश्य, सुरक्षा उद्देश्य एवं सट्टा उद्देश्य से हमारा क्या अभिप्राय है?
- मुद्रा की पूर्ति के सम्बन्ध में विभिन्न अवधारणाओं $M_1$,$M_2$,$M_3$,से परिचित हो जाएंगे,

- समझ सकेंगे कि मुद्रा की पूर्ति के निर्धारक तत्व कौन-कौन से हैं?

## 2.1 प्रस्तावना (Introduction)

मुद्रा की मांग एवं पूर्ति की अवधारणा का अध्ययन अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है। कुछ अर्थशास्त्री मुद्रा को विनिमय के माध्यम के रूप में देखते हैं उनके मत में मुद्रा का उपयोग इसलिए है क्योंकि हम उससे वस्तुएं एवं सेवाएं खरीद सकते हैं। कीन्स की व्याख्या में लेन-देन उद्देश्य को यथावत रखते हुए मुद्रा की संचय हेतु मांग एवं सट्टा उद्देश्यों के लिए तरलता मांग को भी जोड़कर रखा गया। मुद्रा की पूर्ति के सम्बन्ध में भी अलग-अलग दृष्टिकोण हैं, कुछ लोग मुद्रा की पूर्ति केवल चलन में प्रचलित करेन्सी को लेते हैं एवं इसके साथ ही बैंक में जमा की गई मांग जमाओं (Demand Deposits) को लेते हैं। इस प्रकार जनता के पास विद्यमान करेन्सी व मांग जमा मिलकर ($M_1$) पूर्ति को बताती है। मुद्रा की पूर्ति के व्यापक दृष्टिकोण में पोस्ट ऑफिस की बचत जमाओं को सम्मिलित किया जाता है, इस प्रकार $M_2$ की अवधारणा बनती है। बैंकों की सावधि जमा (Time Deposits) को भी सम्मिलित करके मुद्रा की व्यापक परिभाषा को भारत वर्ष में $M_3$ पूर्ति माना गया है। यद्यपि अलग-अलग देशों में इन परिभाषाओं में मामूली अन्तर देखने को मिलता है। प्रस्तुत इकाई में मुद्रा की मांग की चर्चा खण्ड 2.2 में एवं मुद्रा की पूर्ति को खण्ड 2.4 में स्पष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त संक्षेप में आपको तरलता जाल, उच्च शक्ति, मुद्रा की पूर्ति के सिद्धान्त एवं मुद्रा की पूर्ति के निर्धारक तत्वों की जानकारी भी दी गई है। अन्य इकाइयों की भांति इस इकाई में भी अन्त में सारांश, शब्दावली, सन्दर्भ ग्रन्थ की सूची एवं अभ्यासार्थ दिए गये हैं।

## 2.2 मुद्रा की मांग (The Demand for Money)

मुद्रा की मांग, मुद्रा के दो महत्वपूर्ण कार्यो से उत्पन्न होती है। प्रथम कार्य यह कि मुद्रा विनिमय के माध्यम का कार्य करती है और दूसरा मुद्रा मूल का संचय है। अत: कोई भी व्यक्ति, व्यापारिक और वाणिज्यिक संस्था मुद्रा को आंशिक रूप से नकदी में और आंशिक रूप से परिसम्पत्तियों में रखना चाहते है। मुद्रा की मांग के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न विचार-धाराएँ निम्नांकित है।

### 2.2.1 क्लासिकी मत (The Classical Approach)

क्लासिक अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के मांग सिद्धान्त में मुद्रा के प्रचलन वेग (Velacity of Circulation) के रूप में मुद्रा की लेन-देन मांग पर बल दिया। मुद्रा विनिमय के माध्यम का कार्य करती है और वस्तुओं तथा सेवाओं के विनिमय को सुगम बनाती है। फिशर के विनिमय समीकरण में-

$MV=PT$

जहाँ M= मुद्रा की कुल मांग
V= मुद्रा का चलन वेग
P= सामान्य कीमत स्तर
T= मुद्रा में विनिमय की गई कुल वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा

इस समीकरण में MV= मुद्रा की पूर्ति को तथा PT= मुद्रा की मांग को व्यक्त करता है। अर्थव्यवस्था में मुद्रा की मांग कुल वस्तुओं और सेवाओं के लेन-देन के मूल्य पर निर्भर करता है। संतुलन में मुद्रा की मांग और पूर्ति बराबर होती है। इस प्रकार समीकरण-

$M_d=PT$

मुद्रा की यह लेन-देन मांग पूर्ण रोजगार आय-स्तर द्वारा निर्धारित होती है क्योंकि क्लासिकी अर्थशास्त्री से के बाजार नियम में विश्वास रखते थे, जिसके अनुसार “पूर्ति अपनी मांग का सृजन स्वयं करती है।” यह मानते हुए अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार आय-स्तर पाया जाता है। इस प्रकार, फिशर के मत में मुद्रा की मांग लेन-देन के स्तर का एक स्थिर अनुपात है जिसका आगे राष्ट्रीय आय के स्तर के साथ एक स्थिर समय पाया जाता है। मुद्रा के लिए केम्ब्रिज मांग समीकरण-

$M_d=kPY$

जहाँ $M_d$= मुद्रा की मांग है जो अर्थव्यवस्थाओं में संतुलन की स्थिति में मुद्रा की पूर्ति ($M_s$) के अवश्य बराबर होनी चाहिए।

K= वास्तविक मौद्रिक आय (PY) का भाग है जो लोग नकदी तथा मांग जमा में रखना चाहते हैं।

यह समीकरण बताता है कि अन्य बातें समान रहने पर, सामान्य रूप में मुद्रा की मांग प्रत्येक व्यक्ति के नकदी आय स्तर के समानुपातिक होगी।

### 2.2.2 केन्सीय मत: तरलता अधिमान (The Keynesian Approach: Liquidity Preferences)

कीन्स ने अपनी पुस्तक "General Theory" में मुद्रा की मांग के लिए एक नया शब्द 'तरलता अधिमान' प्रयोग किया। उन्होंने अर्थव्यवस्था में मुद्रा की मांग के तीन उद्देश्य बताये हैं-

**(1) मुद्रा की लेन-देन मांग (Transation Demand for Money)**

मुद्रा की लेन-देन मांग वस्तुओं और सेवाओं के लगातार भुगतान करने के लिए मुद्रा के विनिमय माध्यम कार्य से उत्पन्न होती है। कीन्स के अनुसार इसका सम्बन्ध 'निजी और व्यापार विनिमय के चालू लेन-देनों की नकदी के लिए आवश्यकता है। इसको व्यापार और आय उद्देश्यों में विभाजित किया जाता है।

मुद्रा की लेन-देन मांग आय-स्तर का प्रत्यक्ष समानुपातिक और धनात्मक फलन है जिसे निम्न प्रकार व्यक्त किया जाता है-

$L_t=ky$

जहाँ $L_t$ = मुद्रा की लेन-देन मांग

k= आय का भाग है जो लेन-देन उद्देश्य के लिए रखा जाता है

Y= आय

**(2) मुद्रा की सतर्कता मांग (The Precautionary Motive)**

मुद्रा की सतर्कता मांग का सम्बन्ध "आड़े समय के उन आकस्मिक खर्च और लाभप्रद क्रयों के अपूर्व दृष्ट अवसरों के लिए प्रबन्ध करने की इच्छा से होता है। ' अप्रत्याशित आवश्यकताओं को

पूरा करने के लिए व्यक्ति और व्यापारी दोनों ही कुछ नकदी रिजर्व में रखते हैं। अत: सतर्कता उद्देश्य के अन्तर्गत रखी गई मुद्रा कुछ-कुछ उस जल के समान है जो तालाब में सुरक्षित भण्डार में रखा जाता है। मुद्रा की सतर्कता मांग आय के स्तर, व्यापारिक क्रिया, अप्रत्याशित लाभप्रद सौदों के अवसरों, नकदी की प्राप्यता, तरल परिसम्पत्तियों की बैंक रिजर्व में रखने की लागत आदि पर निर्भर करती है।

कीन्स का मत है कि मुद्रा की लेन-देन मांग की तरह, सतर्कता मांग आय के स्तर का फलन होती है, परन्तु केन्जोपरान्त अर्थशास्त्रियों के अनुसार लेन-देन मांग की तरह सतर्कता मांग का ऊँची ब्याज दरों के साथ विपरीत सम्बन्ध होता है, क्योंकि दोनों ही आय और ब्याज दर का फलन है-

$L_t=f(Y,r)$

**(3) मुद्रा की सट्टा मांग (The Speculative Demand for Money)**

यह मांग इस उद्देश्य के लिए होती है कि "भविष्य के सम्बन्ध में बाजार की तुलना में अधिक जानकारी द्वारा लाभ उठाये जा सके। ' जिन व्यक्तियों और व्यापारियों के पास लेन-देन और सतर्कता उद्देश्यों के लिए मुद्रा रखने के बाद नकदी बच जाती है, उसे वे बांडों में निवेश करके सट्टाप्रद लाभ प्राप्त करना चाहते हैं। सट्टा उद्देश्य के लिए रखी गयी मुद्रा मूल्य का एक तरल संचय है जो उपयुक्त अवसर पर ब्याज-धारक बाँडों या प्रतिभूतियों में निवेश की जा सकती है।

ब्रांड कीमतों और ब्याज की दर का एक दूसरे के साथ विपरीत सम्बन्ध होता है। मुद्रा की सट्टा मांग ब्याज दर का घटता हुआ फलन है। ब्याज की दर जितनी ऊँची होगी, मुद्रा की सट्टा मांग उतनी ही कम होगी तथा बाज दर जितनी कम होगी, मुद्रा की सट्टा मांग उतनी ही ऊँची होगी।

## 2.3 तरलता पाश या जाल (Liquidity Trap)

बहुत नीची ब्याज दर पर मुद्रा की सट्टा मांग अत्यन्त लोच (पूर्णतया लोचदार) होती है। इतनी नीची ब्याज दर पर लोग बाँडों में निवेश करने की बजाय मुद्रा को नकदी में रखने को अधिमान देते है क्योंकि बाँडों को खरीदने का मतलब होगा निश्चित रूप से हानि। लोग उतनी समय तक ब्रांड नहीं खरीदेंगे जब तक ब्याज दर इस निम्न स्तर पर रहती है और वे ब्याज दर के 'सामान्य' ' स्तर पर वापिस आने तथा ब्रांड कीमतों के गिरने की प्रतीक्षा करेंगे।

कीन्स के अनुसार जब ब्याज दर शून्य के निकट आती है तो ब्रांड रखने में हानि का जोखिम बढ़ जाता है, इसलिए नगदी रखने की मांग उतनी ही अधिक होती है। परिणाम स्वरूप $L_S$ वक्र पूर्णतया लोचदार बन जाता है।

- **मुद्रा की कुल मांग (The Total Demand of Money)**

कीन्स के अनुसार लेन-देन और सतर्कता उद्देश्यों के लिए रखी गयी मुद्रा मुख्यतया आय के स्तर का फलन है-

$L_{t=}\ f(Y)$ और मुद्रा की सट्टा मांग ब्याज की दर का फलन है - $L_s = f(r)$।

इस प्रकार मुद्रा की कुल मांग आय और ब्याज दर दोनों का फलन है।

$$L_t+L_s=f(Y)+f(r)$$
$$L=f(Y)+f(r)$$
$$L=f(Y,r)$$

जहाँ

L = मुद्रा की कुल मांग

Y = आय स्तर

R = ब्याज दर

---

## 2.4 मुद्रा की पूर्ति (Money Supply)

मुद्रा पूर्ति से तात्पर्य एक देश में लोगों के अधिकार में भुगतान के माध्यम के रूप में रखी जाने वाली मुद्रा की कुल मात्रा से है। तात्पर्य "लोगों' के पास केवल व्यय योग्य रूप में रखी जाने वाली मुद्रा से है। यहाँ लोगों से अभिप्राय व्यक्तियों, व्यवसायिक उद्यमों, सरकारी तथा स्थानीय निकायों आदि सभी से है। चूंकि मुद्रा पूर्ति में केवल व्यय योग्य मुद्रा ही शामिल की जाती है। अत: इसमें वह मुद्रा जो गैर व्यय योग्य रूप में रखी जाती है को शामिल नहीं की जाती है। इस प्रकार केन्द्र अथवा राज्य सरकार के पास खजाने (Treasury) तथा केन्द्रीय बैंक व अन्य बैंक के पास गैर व्यय योग्य रूप में रखी मुद्रा को मुद्रा पूर्ति की अवधारणा में शामिल नहीं किया जाता है। दूसरे शब्दों में पूर्ति से तात्पर्य किसी समय उस तरल विनिमय माध्यम के स्टाक से है जो देश की जनता सुगमता से लेन-देन के कार्यो के लिए प्रयोग कर सके।

स्पष्टत: मुद्रा पूर्ति एक स्टाक धारणा है। अत: किसी समय बिन्दु पर अर्थव्यवस्था में मुद्रा का कुल भण्डार तथा मुद्रा की कुल पूर्ति में अन्तर पाया जाता है। चूँकि मुद्रा पूर्ति के अन्तर्गत केवल व्यय योग्य रूप में लोगों के पास उपलब्ध मुद्रा को ही सम्मिलित किया जाता है अत: शेष मुद्रा जो कि मुद्रा सृजित करने वालों (अर्थात् केन्द्रीय बैंक, वाणिज्यिक बैंक तथा सरकार के पास रखी हुई हो, उसे भारत में मुद्रा पूर्ति के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं करते। सामान्य शब्दों में मुद्रा पूर्ति से आशय किसी निश्चित समय बिन्दु पर अर्थव्यवस्था में प्रचलन में मुद्रा की कुल मात्रा से है।

विभिन्न देशों में मुद्रा की भिन्न-भिन्न धारणाओं को अपनाया गया है, किन्तु किसी देश की मुद्रा पूर्ति के मुख्य दो अंश निम्नलिखित है :

### 1. जनता के पास कुल करेन्सी (Total Currency with the Public)

भारत में करेन्सी का सबसे भारी अंश 90 प्रतिशत से भी अधिक रिजर्व बैंक द्वारा जारी किये गये नोट हैं। दूसरे नम्बर पर भारत सरकार द्वारा जारी किये गये एक-एक रूपये के नोट तथा सिक्के है और तीसरे स्थान पर भारत सरकार द्वारा जारी किये गये छोटे सिक्के। जितने भी छोटे-बड़े नोट या सिक्के परिचलन के लिए जारी किये जाते हैं उनमें से कुछ नोट तथा सिक्के बैंकों तथा सरकारी खजानों के पास नकदी के रूप में रखे जाते हैं अर्थात् जनता के पास नहीं होते हैं। अत: जनता के पास उपलब्ध करेन्सी जानने के लिए बैंकों तथा खजानों द्वारा नकदी के रूप में रख लिए गये नोट व सिक्के परिचालन में आए नोटों व सिक्कों में से घटाये जाने चाहिए।

### 2. जनता के पास मांग जमाएं (Demand Deposits with the Public)

देश की मुद्रा मात्रा का अधिकतर भाग बैंकों की मांग जमाओं के रूप में होती है और उनके लेन-देन में अधिकतर बैंकों के चैकों (Cheques) का ही प्रयोग किया जाता है। इसमें दो निम्नलिखित अंश हैं- 1. बैंकों में निवल जमाएं (Net Demand Deposits of Banks) 2. रिजर्व बैंक के पास अन्य जमाएं (Other Deposits with the Reserve Bank of India)

## 2.5 भारत मे अपनायी गयी मुद्रा पूर्ति की धारणाएं

1935 से 1968 तक भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा मुद्रा-पूर्ति की अवधारणा के लिए केवल एक माप प्रकाशित किया जाता था जिसमें नकदी + मांग जमाएं सम्मिलित होती थी। इसे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा M के रूप में प्रदर्शित किया जाता था। बाद में इसे $M_1$ कहा गया। इसे मुद्रा पूर्ति का संकीर्ण माप (Narrow Money) भी कहते हैं।

- **1967-68 से** रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा मुद्रा-पूर्ति का एक व्यापक संकल्पना प्रकाशित की जाने लगी जिसे समग्र मौद्रिक संसाधन के नाम से व्यक्त किया गया। इसे $M_2$ के रूप में परिभाषित किया गया जो M अथवा $M_1$ तथा लोगों द्वारा बैंकों में रखी गयी शुद्ध समय जमाओं के रूप में व्यक्त किया जाता था।
- **1 अप्रेल 1977 से 1998 तक** अप्रेल 1977 से रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा चार वैकल्पिक मानों के आंकडे प्रकाशित किये जाने लगे जिन्हें $M_1$ $M_2$ $M_3$ तथा $M_4$ के द्वारा व्यक्त किया गया।

$$M_1 = C + DD + OD$$

जहां

C = Currency with the Public (Coins, Currency Notes)

DD = Demand Deposits of Public with Banks

OD = Other Deposits of Public with RBI

- **OD=RBI की अन्य जमाएं** ये वे जमाएं हैं जो रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के पास सरकार (केन्द्र व राज्य सरकारें) बैंकों तथा कुछ अन्य की जमाओं के अतिरिक्त होती है। इसके अन्तर्गत वित्तीय संस्थाओं की मांग जमाएं, विदेशी केन्द्रीय बैंकों की मांग जमाएं, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक की जमाएं आदि शामिल होती है।

मुद्रा पूर्ति में इसका अंश बहुत कम होता है अत: प्राय: इसकी अवहेलना कर दी जाती है।

$M_2 = M_1$ + Saving Deposits with Post-Office Banks (डाक घरों की बचत जमाए)

$M_3 = M_1$ + Time Deposits of Public with Banks (बैंकों की कुल समय जमा)

$M_4 = M_3$ + Total Deposits (Time + Demand with Post-Office Saving excluding N.S.C (National Saving Certificate)

$M_1$ = Narrow Money (संकीर्ण)

$M_3$ = Broad Money (विस्तृत मुद्रा)

$M_4$ = High Powered Money (उच्च शक्ति मुद्रा)

चूँकि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का मौद्रिक नियंत्रण बैंकों पर होता है न कि पोस्ट ऑफिस पर। अत: जब रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया मौद्रिक अधिकारी के रूप में मुद्रा पूर्ति पर नियंत्रण करती है तो बैंकों के माध्यम से। इसलिए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के क्रिया कलापों की दृष्टि से $M_3$ ही Broad Money है। संकीर्ण मुद्रा तथा 'व्यापक मुद्रा या 'विस्तृत मुद्रा में आधारभूत अन्तर बैंकों की समय जमाओं

(सावधि जमाओ) का है। व्यापक मुद्रा के अन्तर्गत बैंकों में लोगों की समय जमाओं को समग्र मौद्रिक संसाधन के रूप में शामिल किया जाता है।

- **वाई. वी. रेड्डी समिति (1998) (Y.V. Raddy Committee)**

  24 जून 1998 को प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में रेड्डी समिति ने मुद्रा आपूर्ति के निम्न माप प्रस्तुत किये

  समग्र मौद्रिक संसाधन (Monetary Aggregate) $M_0$, $M_1$, $M_2$, $M_3$

  समग्र तरल संसाधन (Liquidity Aggregate) $L_1$, $L_2$, $L_3$

  $M_0$ –Currency + Banks Deposits with RBI + Other Deposits with RBI

  $M_1$ - Currency + Demand Deposits with Banking System (बैंकों या बैंकिंग पद्धति की अन्य जमाएं + रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की अन्य जमाएं)

- Note: Demand Deposits को दो भागों में विभाजित किया :

  1. बैंकिंग पद्धति की चालू जमाएं (Current Deposits with Banking System)
  2. Demand Liability (Portain of Saving Deposits with Banking System)

  वर्तमान में $M_1$ में केवल मांग देनदारी वाला भाग शामिल कर रहे हैं न कि समय देनदारी वाला भाग जबकि पहले दोनों का शामिल किया जाता था।

  $M_2$ - Currency + DD with Banking System + Other Deposits with RBI

  Or $M_2 = M_1$+ C.D's issued to Banks + term Deposits with a Contracual maturity up to and including One Year with banking System (बैंकिंग पद्धति में एक वर्ष की तथा एक वर्ष सहित संवित्मक जमाए)

- **C.D.'s (जमा प्रमाण-पत्र)**

  इसे 27 मार्च 1989 को प्रारम्भ किया गया। ये बैंकों द्वारा एक निश्चित समयावधि (3 माह से 12 माह तक) के लिए होते हैं। ये अपने अंकित मूल्य पर बाजार स्थितियों के आधार पर कटौती दर पर जारी किये जाते हैं।

$M_3 = M_2$ + Term Deposits with a Contractual Materity on One Year (बैंकिंग पद्धति में एक वर्ष से अधिक संविदात्मक जमाए) + Call Borrowings from Finacial Institutions by the banking Systems (बैंकों द्वारा वित्तीय संस्थाओं से लिये गये माँग उधार)

$M_3$ = Broad Money

$L_1 = M_3$ + Total Deposits with Post Office Saving Banks (डाक घर बचत बैंकों की कुल जमाएं (Excluding N.S.Cs.)

$L_2 = L_1$ + Total Deposits with the term lending Institutions and financing institutions (वित्तीय संस्थाओं की सावधि जमाए) + Term Borrowings (वित्तीय संस्थाओं द्वारा जारी किये जाने वाले सावधि उधार) + C.Ds. issued by Financial Institutions (वित्तीय संस्थाओं द्वारा जारी किये जाने वाले जमा प्रमाण-पत्र)

$L_3 = L_2 +$ Public Deposits with N.B.F.Cs (गैर बैंकिंग वित्तीय कम्पनियों में लोगों की जमाएं)

## 2.6 मुद्रा की पूर्ति तथा उच्च-शक्ति मुद्रा (Money Supply and High Powered Money)

उच्च शक्ति मुद्रा जिसे आरक्षित मुद्रा या मौद्रिक आधार भी कहा जाता है, के अन्तर्गत सरकार तथा रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा निर्गमित (नोट तथा सिक्के) सम्मिलित होते हैं।

$M = C + D$ --------------------(i)

जहां M = जनता के पास कुल मुद्रा की पूर्ति

C = जनता के पास करेन्सी

D = बैंकों में मांग जमा

निर्गमित करेन्सी का एक भाग जनता द्वारा तथा एक भाग बैंकों द्वारा आरक्षण निधि के रूप में रखा जाता है। इस प्रकार उच्च शक्ति मुद्रा जनता के पास रखी गयी करेन्सी तथा बैंकों द्वारा रखी गयी आरक्षण निधि के योगफल के

रूप में प्राप्त की जा सकती है। अतः-

$H = C + R$ ------------------(ii)

जिसमें H = उच्च शक्ति मुद्रा की मात्रा

C = जनता द्वारा रखी गयी करेन्सी

R = बैंकों में करेन्सी की नगद आरक्षण निधि

समीकरण (ii) को M से विभाजित करने पर-

$$\frac{H}{M} = \frac{C}{M} = \frac{R}{M} \qquad \text{----------------(iii)}$$

$\frac{R}{M}$ पद को एक साथ जोड़ने तथा घटाने पर समीकरण (iii) को निम्न प्रकार लिख सकते हैं-

$$\frac{R}{M} = \frac{R}{D} - \frac{R}{D} + \frac{R}{M} \qquad \text{------------(iv)}$$

इसी प्रकार समीकरण (iv) की दाहिनी पक्ष के दूसरे पद को M/M से गुणा करने तथा तीसरे पद को D/D से गुणा करने पर हम समीकरण (iv) की समानता में कोई परिवर्तन किये बिना निम्नलिखित समीकरण (v) को प्राप्त कर सकते हैं।

$$\frac{R}{M} = \frac{R}{D} - \frac{RM}{DM} + \frac{RD}{MD}$$

$$\frac{R}{D}-\left\{\frac{R(M-D)}{MD}\right\} \qquad \text{----------(v)}$$

समीकरण (1) के अनुसार (M-D)= C है। इसलिए समीकरण (v) में (M-D) के स्थान पर C को प्रतिस्थापित करने पर समीकरण (v) को निम्न प्रकार लिख सकते हैं।

$$\frac{R}{M}=\frac{R}{D}+\frac{CR}{MD} \qquad \text{---------(vi)}$$

समीकरण (vi) को समीकरण (iii) में प्रतिस्थापित करने पर-

$$\frac{H}{D}=\frac{C}{M}+\frac{R}{D}-\frac{CR}{MD} \qquad \text{-----------(vii)}$$

अब दोनों समीकरण (vii) के दोनों पक्षों को H से विभाजित करने तथा इसे उल्टा करने पर-

$$M=\frac{H}{\frac{H}{D}=\frac{C}{M}+\frac{R}{D}-\frac{CR}{MD}} \qquad \text{-------------(viii)}$$

समीकरण (vii) जनता के द्वारा प्राप्त मुद्रा की कुल पूर्ति को केन्द्रीय बैंक, वाणिज्यिक बैंकों एवं जनता के संयुक्त व्यवहार के रूप में व्यक्त करता है, वाणिज्यिक बैंकों तथा जनता का व्यवहार दिया हुआ होने पर अर्थव्यवस्था में मुद्रा की कुल पूर्ति में प्रत्यक्ष रूप से केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गम उच्च शक्ति प्राप्त मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन होने के साथ परिवर्तित होंगे। जनता का व्यवहार चलन मुद्रा तथा मुद्रा के अनुपात C/M, जिसे मुद्रा अनुपात की संख्या की संज्ञा दी गयी है, के द्वारा निर्धारित होता है। वाणिज्यिक बैंकों का व्यवहार उनके नकद कोष एवं जमाओं के अनुपात R/D (जिसे कोष अनुपात की संज्ञा दी गयी है) से प्रदर्शित होता है। भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को इस अनुपात का न्यूनतम वैधानिक मूल्य निर्धारित करने की शक्ति प्राप्त है। वास्तविक व्यवहार में वाणिज्यिक बैंक अपनी कुल जमाओं का केवल कुछ ही भाग नकद कोषों के रूप में अपने पास संचित रखते हैं, परिणामस्वरूप नकद कोष अनुपात $R_r$ का आंकिक मूल्य 1 से कम होता है। परन्तु ऐसा होते हुए भी सम्पूर्ण वाणिज्य बैंकिंग प्रणाली के सन्दर्भ में न्यूनतम नकद कोष अनुपात $R_r$ आवश्यक अथवा न्यूनतम नकद कोष अनुपात R $R_r$ से अधिक होता है, क्योंकि सामान्यत: बैंक अपने पास अपनी कुल जमाओं के न्यूनतम वैधानिक प्रतिशत से अधिक भाग नकदी कोषों के रूप में संचित रखते हैं।

## 2.7 मुद्रा की पूर्ति का सिद्धान्त (Theory of Money Supply)

मुद्रा पूर्ति का सिद्धान्त यह व्याख्या करता है कि अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति या मात्रा कैसे निर्धारित होती है। यह सिद्धान्त उच्च शक्ति मुद्रा की मांग तथा पूर्ति पर निर्भर होता है। इसलिए कुछ अर्थशास्त्री इसे मुद्रा की पूर्ति को H सिद्धान्त (The Theory of Money Supply) कहते हैं। मुद्रा की पूर्ति तथा उच्च शक्ति मुद्रा के बीच सम्बन्ध मुद्रा गुणक (Money Multiplier) द्वारा निर्धारित होता है। मुद्रा गुणक जिसे हम m से व्यक्त करते हैं, मुद्रा की कुल पूर्ति तथा उच्च शक्ति मुद्रा का अनुपात (अर्थात m = $\frac{M}{H}$ ) होता है। गुणक का मूल्य जनता की जमाओं की अपेक्षा करेन्सी रखने के अधिमान

(अर्थात् करेन्सी का जमाओं से अनुपात जिसे हम K द्वारा व्यक्त करते हैं) तथा बैंकों की आरक्षण निधि तथा जमाओं का वांछित अनुपात जिसे हम V कहते हैं, पर निर्भर करता है।

### 2.7.1 जमा गुणक (The Deposit Multiplier)

आंशिक आरक्षण निधि प्रणाली के कारण बैंकों के पास नकद कोष में थोड़ी सी वृद्धि होने पर कुल मांग जमा में कई गुना वृद्धि का सृजन होता है जो मुद्रा की पूर्ति के महत्वपूर्ण भाग होते हैं। कुल जमाओं में परिवर्तन तथा आरक्षण निधि (Cash Reserves) में परिवर्तन के अनुपात को जमा गुणक (Deposit Multiplier) कहा जाता है जो नकद कोष भुगतान पर निर्भर करता है। जमा गुणक का मूल्य नकद कोष अनुपात व्युत्क्रम $\left(dm = \frac{1}{r}\right)$=1 होता है जिसमें dm= जमा गुणक व्यक्त करता है। यदि नकद कोष अनुपात जमा का 10 प्रतिशत है तो: होगा।

$$dm = \frac{1}{0.10} = 10$$ होगा।

इस प्रकार जमा गुणक 10 यह प्रदर्शित करता है कि बैंकों के पास नकद कोष में 100 रूपये वृद्धि हाने पर, यदि यह मान लिया जाए कि बैंकों द्वारा जमा विस्तार की प्रक्रिया के अन्तर्गत नकदी का जनता में कोई रिसाव (Leakage) नहीं होता है तो बैंकों की मांग जमाओं में 1000 रूपये का विस्तार होगा।

जमा गुणक दोनों तरफ काम करता है। जब बैंकों के पास नकद कोष बढ़ जाते हैं तो धनात्मक रूप में तथा जब बैंकों के पास नकद कोष कम हो जाता है तो ऋणात्मक रूप में। अर्थात् जब बैंकों के पास करेन्सी आरक्षण निधि में कमी हो जाती है तो बैंकों की मांग जमा में कई गुना संकुचन हो जाएगा। इस प्रकार K द्वारा व्यक्त करेन्सी जमा अनुपात मुद्रा गुणक के वास्तविक मूल्य का महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व होता है।

### 2.7.2 मुद्रा गुणक (Money Multiplier)

जमा गुणक इस बात को मापता है कि यदि बैंकिंग प्रणाली से नकद का निकास नहीं होता है तो बैंकों के पास नकद कोष में निश्चित वृद्धि के परिणामस्वरूप मांग जमा (या मुद्रा की पूर्ति) में कितनी वृद्धि होती है, जो आवश्यक कोष अनुपात (r) पर निर्भर करती है। किन्तु वास्तविक जगत में करेन्सी का निकास अवश्य होते हैं जो बैंकों में नकद कोषों में वृद्धि के परिणामस्वरूप मुद्रा की पूर्ति के विस्तार की सीमा को कम कर देते हैं। अत: जमा गुणक बैंकों के पास नकद कोष में निश्चित वृद्धि से मुद्रा की पूर्ति में वास्तविक वृद्धि को बढ़ा-चढ़ा कर व्यक्त करता है।

इसके विपरीत मुद्रा गुणक बैंकिंग प्रणाली से करेन्सी के इन रिसावों पर ध्यान देता है और इसलिए जब बैंकों के नकद कोष में वृद्धि होती है तो यह गुणक मुद्रा की पूर्ति में वास्तविक वृद्धि को मापता है। इस प्रकार मुद्रा गुणक को करेन्सी के निकास का ध्यान रखते हुए नकद कोष (उच्च शक्ति मुद्रा) में प्रत्येक रूपये की वृद्धि हाने से मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। अत: मुद्रा गुणक जमा गुणक की अपेक्षा कम होता है। माना कि M मुद्रा की कुल पूर्ति, H उच्च शक्ति मुद्रा व्यक्त करते हैं तो मुद्रा गुणक निम्न प्रकार होगा-

$$m = \frac{M}{H}$$

### 2.7.3 मुद्रा गुणक का व्युत्पादन

जनता द्वारा करेन्सी की वांछित मात्रा जिसे हम C से व्यक्त करते हैं, करेन्सी जमा अनुपात (K) तथा कुल जमा (D) के गुणनफल के बराबर होती है। अत:-

$$C = kD$$

मानाकि R बैंकों द्वारा वांछित कुल कोषों को प्रदर्शित करता है जो कोष जमा अनुपात (r) तथा जमा (D) के गुणनफल के समान होंगे अर्थात्

$$R = rD$$

अत: उच्च शक्ति मुद्रा की कुल मांग निम्न होगी-

$C + R = kD + rD$ क्योंकि $C = kD$ तथा $R= rD= (k+r)\ D$

उच्च शक्ति मुद्रा की मांग तथा पूर्ति के बीच मौद्रिक संतुलन निम्न समीकरण द्वारा व्यक्त किया जाता है जिसमें

$$H = (r + k)\ D \qquad \text{---------------------(i)}$$

यदि (M) मुद्रा की कुल पूर्ति तथा D बैंक जमा है तो -

$$M = C + D$$

$$M=kD + D$$

$$= (1+k)D \qquad \text{------------------- (ii)}$$

समीकरण (i) उच्च शक्ति मुद्रा से मौद्रिक साम्य का वर्णन करता है तथा समीकरण (ii) मुद्रा की कुल पूर्ति से सम्बन्धित है। अत: मुद्रा गुणक मुद्रा की कुल पूर्ति तथा उच्च शक्ति मुद्रा का अनुपात होता है जिसे हम निम्न रूप में व्यक्त कर सकते हैं।

$$m = \frac{M}{H}$$

$= \frac{(1+k)}{(1+k)}\frac{D}{D}$ चूँकि $M=(1+k)\ D$ तथा $H= (r+k)\ D$

$$m = \frac{M}{H} = \frac{1+k}{r+k}$$

इस प्रकार मुद्रा गुणक $\frac{1+k}{r+k}$ के समान होता है जिसका मूल करेन्सी जमा अनुपात (k) तथा नकद कोष जमा अनुपात (r) पर निर्भर करता है।

Money Multiplier in India $\left(\frac{M_3}{H}\right)$ or $\left(\frac{M_1}{H}\right)$

| Year | 1991-92 | 1994-95 | 1999-2000 | 2006-07 | 2007-08 |
|---|---|---|---|---|---|

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| $\left(\frac{M_3}{H}\right)$ | 3.2 | 3.14 | 4.00 | 4.67 | 4.66 |
| $\left(\frac{M_1}{H}\right)$ | 1.06 | 1.15 | NA | NA | NA |

Source: Economic Survey 2007-08 page. http://india budget.nic.in

## 2.8 मुद्रा पूर्ति के निर्धारक (Determinants of Money Supply)

किसी अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति (i) उच्च शक्ति मुद्रा की पूर्ति (H) (ii) मुद्रा गुणक के मूल्य (m) द्वारा निर्धारित होती है।

$$\frac{M}{H} = \frac{1+k}{1+k} \quad \text{या} \quad M = H\left(\frac{1+k}{1+k}\right) \quad \text{या} \quad M=H.m$$

यद्यपि एक देश का केन्द्रीय बैंक उच्च शक्ति मुद्रा की पूर्ति नियंत्रित कर सकता है किन्तु गुणक का मूल्य दो व्यवहारवादी अनुपातों (i) जनता का वांछित करेन्सी-जमा अनुपात (k), (ii) बैंकों का वांछित आरक्षित कोष- अनुपात द्वारा निर्धारित होता है। मुद्रा की पूर्ति के निर्धारक तत्वों को व्यक्त करने वाले उपर्युक्त समीकरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि निम्न स्थितियों में मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि हो जाएगी:

1. जब उच्च शक्ति मुद्रा (अर्थात् आरक्षित मुद्रा) H में वृद्धि होती है
2. जब करेन्सी-जमा अनुपात (k) कम होता है
3. जब कोष जमा अनुपात कम होता है

एक देश में मुद्रा की पूर्ति देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा खुले बाजार की क्रियाओं, न्यूनतम आवश्यक कोष-जमा अनुपात में परिवर्तन तथा बैंक दर में परिवर्तन की विधियों का उपयोग करके परिवर्तित की जा सकती है। भारत में मुद्रा की पूर्ति का प्रमुख स्रोत रिजर्व बैंक द्वारा साख का सृजन होता है जिसे वह सरकार के घाटे को बजट की वित्त व्यवस्था तथा इस प्रकार उच्च शक्ति मुद्रा का सृजन करती है।

## 2.9 सारांश (Summary)

भारत में मुद्रा की पूर्ति निर्धारित करने वाले तत्वों तथा उसमें परिवर्तन के स्रोतों के विश्लेषण में रिजर्व बैंक मुद्रा की पूर्ति के किसी स्पष्ट सिद्धान्त का अनुसरण नहीं करता है। रिजर्व बैंक मुद्रा की पूर्ति के निर्धारक तत्वों का निम्न चार श्रेणियों में वर्गीकरण करता है -

(अ) बैंकिंग प्रणाली से सरकारी उधार लेना

(ब) बैंकिंग प्रणाली से निजी अथवा व्यापारिक क्षेत्र का उधार लेना

(स) भुगतान संतुलन की स्थिति में परिवर्तनों के कारण रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की विशुद्ध विदेश परिसम्पत्तियों में परिवर्तन

(द) जनता को सरकार की करेन्सी देयताएं

भारत में स्वतंत्रता के बाद तथा विशेष रूप में आर्थिक नियोजन के प्रारम्भ के बाद से मुद्रा की पूर्ति में निरन्तर तथा अधिक वृद्धि हुई है, जो नियोजन की अवधि में दूसरी पंचवर्षीय योजना से कीमतों में वृद्धि या मुद्रा स्फीति को तीव्र करने में महत्वपूर्ण योगदान करने वाली तत्व रही है। वर्तमान समय में मुद्रा पूर्ति की वृद्धि सारणी 2.2 में प्रदर्शित है।

**सारणी 2.2**

**Growth Rates (As on June, 4, 2008)**

| Items | 2006-07 | Financial Year Basis | | Year on Year Basis | |
|---|---|---|---|---|---|
| | | 2007-08 | 2006-07 | 2007-08 | 2006-07 |
| $M_0$ | 23.7 | 13.6 | 9.1 | 28.7 | 19.3 |
| $M_1$ | 16.8 | 4.9 | 6.4 | 15.2 | 18.2 |
| $M_3$ | 21.3 | 13.3 | 12.2 | 22.4 | 20.8 |

Source: Economic Survey 2007-08 pages -71, http://india budget.nic.in

## 2.10 शब्दावली (Glossary)

| | |
|---|---|
| चलन वेग | Velocity |
| तरलता अधिमान | Liqidity References |
| तरलता जाल | Liqidity Trap |
| मांग जमा | Demand Deposit |
| संकीर्ण मुद्रा | Narrow Money |
| विस्तृत मुद्रा | Borad Money |
| उच्च शक्ति मुद्रा | High Powered Money |
| जमा गुणक | Deposit Multipier |
| मुद्रा गुणक | Money Multipier |

## 2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ (References)

झिंगन, एम.एल., 'मुद्रा, बैंकिंग एवं अन्तरराष्ट्रीय व्यापार'', वृंदा पब्लिकेशन्स प्रा. लि. दिल्ली (2003)

वैश्य, एम.सी., 'मौद्रिक अर्थशास्त्र'', एस. चान्द एण्ड कम्पनी लि. नई दिल्ली (1998)

आहूजा, एच.एल., 'उच्चत्तर समष्टि अर्थशास्त्र'', एस. चान्द एण्ड कम्पनी लि. नई दिल्ली (2005)

Economic Survey (2007-08), http://india budget.nic.in.

Gupta,R.D. & Rana, A.S., “Keynes : Post- Keynesian Economics,” Kalyani Publishers, New Delhi (2005).

Economic Survey (2007-08), http://indiabudget.nic.in.

## 2.12 अभ्यासार्थ प्रशन (Unit-end Questions)

1. मुद्रा मांग के विभिन्न दृष्टिकोणों पर प्रकाश डालिए।

2. मुद्रा मांग और ब्याज में सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए।
3. मुद्रा पूर्ति के विभिन्न अवयवों की व्याख्या कीजिए।
4. उच्च शक्ति मुद्रा के निर्धारकों की विवेचना कीजिए।
5. भारत में मुद्रा पूर्ति के विभिन्न मापों की व्याख्या कीजिए।
6. जमा गुणक तथा मुद्रा गुणक पर टिप्पणी लिखिए।

## इकाई-3

# मुद्रा का मूल्य- मुद्रा स्फीति एवं मुद्रा संकुचन, मांग एवं लागत स्फीति, स्फीति नियंत्रण, फिलिप्स वक्र

## (Value of Money- Inflation and Deflation, Demand-Pull and Cost-Push Inflation, Phillips Curve)

**इकाई की रूपरेखा**

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 मुद्रा का मूल्य
  - 3.2.1 मुद्रा के मूल्य का अर्थ
  - 3.2.2 मुद्रा के मूल्य के निर्धारक तत्व
  - 3.2.3 मुद्रा के मूल का आय सिद्धान्त अथवा बचत विनियोग सिद्धान्त

3.3 मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन
  - 3.3.1 मुद्रा प्रसार अथवा मुद्रा स्फीति
  - 3.3.2 मुद्रा स्फीति के कारण
  - 3.3.4 मुद्रा स्फीति के प्रभाव
  - 3.3.5 मुद्रा स्फीति रोकने के उपाय

3.4 मुद्रा संकुचन अथवा मुद्रा विस्फीति

3.4.1 मुद्रा संकुचन के कारण
  - 3.4.2 मुद्रा संकुचन या विस्फीति के प्रभाव
  - 3.4.3 मुद्रा संकुचन को रोकने के उपाय

3.5 मुद्रा अपस्फीति

3.6 मुद्रा संस्फीति

3.7 मांग प्रेरित स्फीति एवं लागत वृद्धि स्फीति
  - 3.7.1 मांग प्रेरित स्फीति का अर्थ
  - 3.7.2 मांग प्रेरित स्फीति के कारण
  - 3.7.3 लागत वृद्धि स्फीति का अर्थ
  - 3.7.4 लागत वृद्धि स्फीति के कारण
  - 3.7.5 मांग प्रेरित एवं लागत वृद्धि स्फीति में अन्तर
  - 3.7.6 निष्पन्द स्फीति अथवा गति-हीन स्फीति

3.8 फिलिप्स वक्र

3.9 सारांश
3.10 शब्दावली
3.11 संदर्भ ग्रन्थ
3.12 अभ्यासार्थ प्रशन

## 3.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- समझ सकेंगे कि मुद्रा के मूल्य से हमारा क्या अभिप्राय है? एवं यह किन-किन तत्वों पर निर्भर होता है?
- मुद्रा के मूल में परिवर्तन के कारण होने वाले मुद्रा प्रसार एवं मुद्रा संकुचन की अवधारणा, अर्थ, कारण एवं प्रभावों को जान सकेंगे;
- जान जाएंगे कि लागत वृद्धि एवं मांग वृद्धि स्फीति क्या है? यह क्यों उत्पन्न होती है? एवं इसे कैसे नियंत्रित किया जा सकता है?
- रोजगार एवं मुद्रा स्फीति में क्या सम्बन्ध है? इसकी जानकारी कर सकेंगे।

## 3.1 प्रस्तावना (Introduction)

इस इकाई में आपका परिचय मुद्रा के मूल एवं इससे होने वाले परिवर्तन तथा इसके लिए उत्तरदायी कारणों से कराया गया है। इस इकाई के खण्ड 3.2 में मुद्रा के मूल के निर्धारक तत्व एवं 3.3 एवं 3.4 में मुद्रा प्रसार एवं मुद्रा संकुचन की चर्चा की गई है। खण्ड 3.5 में मुद्रा अपस्फीति एवं 3.6 में मुद्रा संस्फीति तथा 3.7 में मांग जनित एवं लागत प्रेरित स्फीति की चर्चा की गई है। 3.8 में आपका परिचय फिलिप्स वक्र की अवधारणा से कराया गया है। इकाई के अन्त में सारांश, शब्दावली संदर्भ ग्रन्थों की सूची तथा अभ्यास हेतु प्रशन दिए गए है।

## 3.2 मुद्रा का मूल्य (Value of Money)

### 3.2.1 मुद्रा के मूल्य का अर्थ (Meaning of Value of Money)

मुद्रा के मूल्य का अर्थ इस के विनिमय मूल से है। मुद्रा का अपना कोई मूल्य नहीं होता परन्तु मुद्रा के विनिमय का साधन होने के कारण मुद्रा का प्रयोग वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए किया जाता है। बाजार में उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य को मुद्रा में व्यक्त किया जाता है। परन्तु मुद्रा का कोई स्वत: का मूल्य नहीं होता। मुद्रा की एक इकाई अपने बदले में जितनी वस्तुओं और सेवाओं को खरीद सकती है, वही उसका मूल्य होता है। अर्थात् मुद्रा के मूल्य से अभिप्राय उसकी क्रय शक्ति से है। यदि मुद्रा की एक इकाई अपने बदले में किसी भी वस्तु या सेवा को क्रय करने की क्षमता नहीं रखती तो वह मुद्रा निर्मूल्य हो जायेगी। अत: मुद्रा की एक इकाई से जितनी वस्तुएं एवं सेवाएं प्राप्त होती है, वही उसका मूल्य है, जैसे यदि दो पेन एक रूपये में खरीदे जा सकते हैं तो एक रूपये का मूल्य बराबर दो पेन रह जायगा। अर्थात् पेन का मूल्य दो-गुना हो जाने पर मुद्रा का मूल्य आधा रह गया।

इस प्रकार वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य (मूल्य स्तर) और मुद्रा के मूल्य (क्रय शक्ति) में विपरीत सम्बन्ध होता है। यदि मूल्य स्तर बढ़ता है अर्थात् वस्तुएं और सेवाएं पहले से महंगी हो जाती हैं तो मुद्रा का मूल्य (क्रय शक्ति) घट जाती है, इसके विपरीत यदि वस्तुएं पहले से सस्ती हो जाती है। तो मुद्रा का मूल्य (मुद्रा की क्रय शक्ति) बढ़ जाता है। अत: मुद्रा की एक इकाई वस्तुओं और सेवाओं की जितनी मात्रा क्रय कर सकती है अर्थात् जितनी उसकी क्रयशक्ति होती है. वही मुद्रा का मूल्य होगा। इस सम्बन्ध में राबर्टसन ने कहा है, "मुद्रा के मूल्य से अभिप्राय वस्तुओं की उस मात्रा से होता है जो सामान्य रूप से मुद्रा की इकाई द्वारा विनिमय में प्राप्त होती है।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मुद्रा मूल्य का सम्बन्ध वस्तुओं और सेवाओं के रूप में उसकी क्रय शक्ति से है। क्रय शक्ति का आधार सामान्य मूल्य स्तर होता है, इसलिये मुद्रा का मूल्य सामान्य मूल स्तर पर निर्भर करता है। सामान्य मूल्य स्तर बढ़ने पर मुद्रा की क्रय शक्ति घट जाती है जिससे मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है। इसके विपरीत यदि सामान्य मूल्य स्तर कम हो जाता है तो मुद्रा की क्रय शक्ति बढ़ जाती है तथा मुद्रा का मूल्य भी बढ़ जाता है। इस प्रकार सामान्य मूल्य स्तर एवं मुद्रा के मूल्य में विपरीत समन्वय होता है।

### 3.2.2 मुद्रा के मूल्य के निर्धारक तत्व (Determinants of Value of Money)

किसी वस्तु का मूल्य उसकी मांग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। वस्तु का मूल्य बढ़ने पर उस की मांग भी बढ़ जाती है, और यदि मूल्य घट जाता है तो उसकी मांग भी घट जाती है, अत: वस्तु की मांग और उसके मूल्य में सीधा सम्बन्ध होता है। परन्तु वस्तु की पूर्ति और उसके मूल्य में विपरीत सम्बन्ध होता है, अर्थात वस्तु का मूल्य पढ़ने पर उसकी पूर्ति बढ़ जाती है, जबकि मूल्य घटने पर उस वस्तु की पूर्ति भी घट जाती है।

मुद्रा को भी एक वस्तु की संज्ञा दी गयी है। अत: मुद्रा का मूल्य भी वस्तुओं की भांति मुद्रा की मांग एवं पूर्ति पर निर्भर करता है। परन्तु मुद्रा की मांग एवं पूर्ति वस्तु की मांग एवं पूर्ति से अलग होती है। अत: मूल्य के निर्धारण करने वाले कारकों पर अर्थात् मुद्रा की मांग और पूर्ति को संक्षेप में समझना आवश्यक है।

#### (1) मुद्रा की मांग (Demand of Money)

मुद्रा की मांग उसकी क्रयशक्ति के कारण की जाती है, अर्थात मुद्रा के द्वारा वस्तुओं और सेवाओं को अपनी आवश्यकतानुसार खरीदा जा सकता है। अत: मुद्रा की मांग उपलब्ध वस्तुओं एवं सेवाओं की पूर्ति पर निर्भर करती है। वस्तुओं की पूर्ति बढ़ने पर मुद्रा की मांग भी बढ़ जाती है, तथा वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति घट जाने पर मुद्रा की मांग भी घट जाती है।

#### (2) मुद्रा की पूर्ति (Supply of Money)

मुद्रा पूर्ति से तात्पर्य उन वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति से है जो किसी समय विशेष में विनिमय माध्यम के रूप में प्रचलित होती है। कुछ विद्वानों ने मुद्रा की पूर्ति के अन्तर्गत केवल धातु मुद्रा एवं कागजी नोटों को ही सम्मिलित किया है, तथा कुछ विद्वानों ने करेन्सी तथा मांग जमाओं को शामिल किया है। जबकि कुछ विद्वानों ने नकद मुद्रा के साथ-साथ साख मुद्रा को भी मुद्रा की पूर्ति के अन्तर्गत सम्मिलित किया है। परन्तु मुद्रा की पूर्ति के सम्बन्ध में व्यक्त विचारधारायें समय विशेष के संदर्भ में ही प्रयुक्त होती है। मुद्रा के मूल्य में समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों को अलग से विद्वानों

द्वारा दिये गए सिद्धान्तों के द्वारा समझा जा सकता है। मुद्रा के मूल्य सम्बन्धी सिद्धान्तों में सर्वाधिक नवीनतमसिद्धान्त मुद्रा का आय सिद्धान्त माना गया है। जो निम्न है-

### 3.2.3 मुद्रा के मूल्य का आय सिद्धान्त अथवा बचत विनियोग सिद्धान्त

### (Income Theory or Saving and Investment Theory of Value of Money)

उक्त सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा का मूल्य मौद्रिक आय, व्यय, बचत, तथा विनियोग की सामूहिक शक्तियों पर निर्भर करता है।

- **आय सिद्धान्त (Income Theory)**

मुद्रा का आय सिद्धान्त यह बतलाता है कि मुद्रा की मात्रा को नियंत्रित करके मूल्य स्तर को नियंत्रित किया जा सकता है। परन्तु वर्तमान अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि मुद्रा की कुल मात्रा, मूल्यों का परिणाम होती है। अर्थव्यवस्था। में मूल्य स्तर में वृद्धि होने के फलस्वरूप व्यापारिक क्रियाओं में तीव्रता आती है, जिससे कुल मुद्रा की मात्रा में भी वृद्धि हो जाती है। कीन्स का मानना है कि यदि लोगों की आय में वृद्धि होती है तो उनका उपभोग स्तर भी बढ़ जायगा, साथ ही व्यापारिक कार्यो में वृद्धि के कारण बैंकों के साख निर्माण में भी वृद्धि होगी, जिसके फलस्वरूप मूल्य स्तर भी प्रभावित होगा। अत: यह कहा जा सकता है कि मूल्य स्तर आय से प्रभावित होता है। इस सम्बन्ध में प्रो. कीन्स का निम्न कथन सत्य प्रतीत होता है कि,"मुद्रा का मूल्य उसके परिमाण(मात्रा) पर निर्भर न होकर जनता की आय, बचत करने की शक्ति तथा बचत एवं विनियोग के सम्बन्ध पर निर्भर करता है।"

- **सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताएं**

**(1) आय और व्यय में निरन्तरता (Continuous Flow of Income and Expenditure)**

अर्थव्यवस्था में आय और व्यय का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। समाज में एक व्यक्ति द्वारा किया गया व्यय दूसरे व्यक्ति की आय बन जाती है, और इसकी आय स्वत: व्यय बन जाती हैं कीन्स के अनुसार प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि समाज की आय में वृद्धि कर देती है, जिससे व्यय में और अधिक विस्तार हो जायगा। परिणाम स्वरूप अर्थव्यवस्था में विस्तार होगा, उत्पादन, रोजगार व व्यापार की क्रियाओं में वृद्धि होगी और कीमत स्तर स्वत: बढ़ जायगा।

इसके विपरीत समाज में व्यय की कमी के कारण प्रभावपूर्ण मांग घट जायेगी जिससे आय का स्तर कम होगा, और व्यय में और भी कमी आ जाएगी, परिणाम स्वरूप अर्थव्यवस्था में कीमतें घटने लगेगी और अर्थव्यवस्था में संकुचन की स्थिति में हो जायेगी। अत: समाज में प्रभावपूर्ण मांग के बढ़ने का घटने के क्या कारण है? जिससे समाज के आय एवं व्यय प्रभावित होते हैं।

**(2) बचत और विनियोग में समानता (Equality between Saving and Investment)**

कीन्स के अनुसार समाज में विनियोग (I) और उपभोग (C) का योग ही आय (Y) होती है। अर्थात् $Y=C+I$ कीन्स ने इस समीकरण के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कुल बचत (S) कुल आय (Y) तथा कुल उपभोग (C) का अन्तर होता है।

अर्थात् $S=Y-C$ या $Y=S+C$

इस प्रकार स्पष्ट है कि S+C=C+I अर्थात् (C) दोनों में उभयनिष्ठ होने के कारण बचत (S) बराबर है (I) के यानी S=I

### (3) पूर्ण संतुलन (Equalibrium Position)

कीन्स ने यह माना है कि समाज में कुल उपभोग तथा कुल विनियोग के योग (C+I) कुल आय (Y) के बराबर होती है अथवा समाज की कुल आय (Y) उसके समस्त उपभोग तथा समस्त बचत (S) के बराबर होती है। अर्थात् देश की अर्थव्यवस्था पूर्ण संतुलन के बिन्दु पर उस समय होती है जब कि समाज की कुल आय (Y) उसके कुल उपभोग एवं कुल बचत (C+S) के बराबर होती है। कीन्स का मानना है कि बचत और विनियोग यदि बराबर है (S=I) तो अर्थव्यवस्था साम्य की स्थिति में होती है, क्योंकि समाज की बचत ही विनियोग के रूप में प्रयोग होती है।

### (4) बचत और विनियोग में अन्तर (Difference between Saving and Investment)

बचत और विनियोग की क्रियाएँ समाज में अलग-अलग वर्गो द्वारा की जाती है। बचत की मात्रा बचत करने वाले वर्ग की आय. परिवार का स्वरूप, ब्याजदर व दूरदर्शिता आदि पर निर्भर करती है, वही विनियोग विनियोजकों की लाभ प्राप्त करने की आशा, उत्पादन के साधनों का प्रतिफल, तत्कालीन ब्याजदर और भविष्य की आशा पर निर्भर करता है। अत: बचत और विनियोग में अन्तर होना स्वाभाविक है।

### (5) बचत और विनियोग में असमानता का प्रतिफल (Result of Inequality between Saving and Investment)

बचत और विनियोग में असन्तुलन से निम्न परिणाम उत्पन्न होते हैं :-

#### (1) जब विनियोग अधिक हो (I>S)

जब विनियोग बचत से अधिक होता है तब पूँजीगत उद्योगों में उत्पादन में वृद्धि होती है, और रोजगार के अवसर बढ़ते है, जिससे श्रमिकों की आय में वृद्धि होती है फलत: उनके उपभोक्ता वस्तुओं पर व्यय की मात्रा बढ़ जाती है, और उपभोक्ता उद्योगों का उत्पादन बढ़ जाता है जिसके परिणाम स्वरूप इन उद्योगों में भी रोजगार में वृद्धि हो जाती है। अर्थात् यदि समाज में होने वाला विनियोग बचत से अधिक है तो उत्पादन के विभिन्न साधनों को काम उपलब्ध होगा, फलत: उत्पादन में वृद्धि हो जायेगी जिसके परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि हो जायेगी और मूल्य स्तर भी बढ़ जायगा अर्थात् मुद्रा का मूल्य घट जायगा।

#### (2) जब बचत अधिक हो (S>I)

विनियोग से बचत तभी अधिक हो सकती है जब लोग अधिक बचत करने का संकल्प लें, अथवा उद्यमी कम विनियोग करें। यदि बचत विनियोग से अधिक होती है तो इसका सीधा अर्थ यह है कि प्राप्त आय कुल व्यय से कम हैं ऐसी स्थिति में उत्पादकों की वस्तुओं की मांग कम हो जायेगी और कुछ को हानि भी उठानी पड़ सकती है, जिससे उत्पादक उत्पादन में कमी कर देंगे, परिणाम स्वरूप रोजगार में भी कमी आयेगी और राष्ट्रीय आय भी घट जायेगी फलत: मूल्य स्तर गिर जायगा अर्थात मुद्रा का मूल्य बढ़ जायगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यदि समाज की कुल बचत कुल विनियोग के बराबर है तो राष्ट्रीय आय में कोई परिवर्तन नहीं होगा। मूल्य स्तर स्थिर रहेगा और मुद्रा का मूल्य भी परिवर्तित

नहीं होगा। परन्तु यदि कुल बचत कुल विनियोग से अधिक है तो उत्पादन के अनेक साधन बेकार हो जायेंगे, फलत: उत्पादन में कमी आयेगी और राष्ट्रीय आय भी कम हो जायेगी, तथा मूल्य स्तर में गिरावट होगी अर्थात मुद्रा का मूल्य बढ़ जायगा। और यदि बचत से विनियोग अधिक है तो बेकार पड़े उत्पादन के साधनों को काम मिलेगा, उत्पादन में वृद्धि होगी, राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि होगी और मूल्य स्तर भी बढ़ जायगा जिसके फलस्वरूप मुद्रा का मूल्य घट जायगा।

निकर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि मुद्रा का मूल्य मुद्रा की मात्रा के कारण परिवर्तित नहीं होता अपितु मुद्रा का मूल्य बचत एवं विनियोग के अनुपात में परिवर्तन के फलस्वरूप होता है।

**बोध प्रश्न-1**

1. मुद्रा के मूल से क्या आशय है?
2. मुद्रा का मूल्य किन-किन तत्वों पर निर्भर करता है?
3. मुद्रा मूल्य के आय सिद्धान्त, मुद्रा की मात्रा एवं मुद्रा के मूल्य के बारे में किस सम्बन्ध को आधार बनाया गया है।
4. बचत एवं विनियोग सिद्धान्त में बचत विनियोग की समानता के बारे में कीन्स का समीकरण लिखिए।

## 3.3 मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन (Change in the Value of Money)

मुद्रा के मूल्य का अर्थ समझने के बाद अर्थव्यवस्था में मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन की प्रक्रिया को समझना आवश्यक है। अर्थव्यवस्था में मुद्रा के मूल्य में पखिर्तन के कारण देश के उत्पादन, उपभोग, वितरण और रोजगार पर प्रभाव पड़ता है। जब मूल्य-स्तर में वृद्धि होती है अर्थात् मुद्रा के मूल (क्रयशक्ति) में कमी आती है तब इसे मुद्रा स्फीति या मुद्रा प्रसार कहा जाता है, परन्तु जब सामान्य मूल्य स्तर में कमी आती है अर्थात् मुद्रा के मूल्य (क्रयशक्ति) में वृद्धि होती है तब उसे मुद्रा संकुचन या मुद्रा विस्फीति कहा जाता है।

### 3.3.1 मुद्रा प्रसार अथवा मुद्रा स्फीति (Inflation)

सामान्य रूप से मुद्रा प्रसार वह स्थिति होती है, जिसमें वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में वृद्धि हो जाती है और मुद्रा का मूल्य निरन्तर गिरता जाता है। सामान्यत: कीमत स्तर में होने वाली निरन्तर वृद्धि को मुद्रा प्रसार या मुद्रा स्फीति कहा जाता है। विभिन्न अर्थ शास्त्रियों द्वारा मुद्रा प्रसार की परिभाषाएँ निम्न प्रकार से दी गई है :-

**(1)** **क्राउथर के अनुसार**, "मुद्रा स्फीति वह परिस्थिति है जिसमें मुद्रा का मूल्य गिरता है, अथवा वस्तुओं की कीमतें बढ़ती है।"

**(2)** **कैमरर के अनुसार,** "मुद्रा स्फीति की अवस्था इस समय विद्यमान होती है, जब एक ओर तो मुद्रा की मात्रा बहुत अधिक हो जाती है तथा दूसरी ओर वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा बहुत कम हो जाती है।"

**(3)** **हाट्रे के अनुसार,** "वह परिस्थिति जिसमें मुद्रा का अत्यधिक निर्गमन हो मुद्रास्फीति कहलाती है।"

**(4)** **मिल्टन फ्रीडमैन के अनुसार,** "कीमतों में सुस्थिर एवं अविरल होने वाली वृद्धि मुद्रा स्फीति है।"

**(5) पींगू के अनुसार,** "स्फीति की दशा उस समय विद्यमान होती है जब मौद्रिक आय में, उत्पादन की तुलना में अधिक वृद्धि हो जाती है।"

प्रो. कीन्स ने इस सम्बन्ध में कहा है कि, पूर्ण रोजगार बिन्दु से पूर्व यदि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होती है तो उसके एक भाग द्वारा उत्पादन में वृद्धि होगी तथा दूसरे भाग द्वारा उत्पादन लागत में वृद्धि करके कीमतों में वृद्धि उत्पन्न की जायेगी। कीन्स पूर्ण रोजगार के बिन्दु के पूर्व की अवस्था को अर्थ मुद्रा स्फीति मानते हैं, किन्तु पूर्ण रोजगार के बिन्दु के उपरान्त भी यदि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि जारी रहती है तो उससे केवल वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में वृद्धि होती हे। इस स्थिति को ही कीन्स ने पूर्ण मुद्रा स्फीति माना है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि अधिकांश अर्थ शास्त्रियों ने मुद्रा स्फीति से तात्पर्य अर्थव्यवस्था में वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यस्तर में वृद्धि से माना है, परन्तु सेवा होना सदैव आवश्यक नहीं है। अर्थव्यवस्था में होने वाले आर्थिक
उतार चढ़ाव के पीछे अन्य कारण भी, जैसे- प्राकृतिक आपदा के कारण कृषि जनित उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े और मूल्य स्तर में वृद्धि हो जाय, इसे मुद्रा स्फीति नहीं माना जा सकता। अथवा आर्थिक मन्दी के समय इसे दूर करने के लिए जब मुद्रा की मात्रा में वृद्धि की जाती है तो कीमतों में भी वृद्धि होती है, परन्तु कीमतों में होने वाली इस वृद्धि को मुद्रा प्रसार नहीं कहा जा सकता, बल्कि इसके अर्थव्यवस्था में अच्छे प्रभाव ही पड़ते हैं।

अत: मूल्य स्तर में होने वाली प्रत्येक वृद्धि को मुद्रा प्रसार नहीं कहा जा सकता। वर्तमान समय में मुद्रा स्फीति का अर्थ उस स्थिति से माना जाता है जब अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति वहां की राष्ट्रीय आय की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ रही हो। पीगू और कीन्स की दृष्टि में मुद्रा स्फीति कीमतों में वह वृद्धि है जो पूर्णरोजगार की अवस्था में पहुँचने के बाद पैदा होती है। दवे सभी प्रकार की कीमतों की वृद्धि को मुद्रा स्फीति नहीं मानते। इसी प्रकार के विचार विकसेल, वेन्ट वेन्सन. टर्वे आदि ने भी प्रकट किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि ' यद्यपि आंशिक स्फीति की घटना अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार के बिन्दु से पहले उत्पन्न हो सकती है. परन्तु वास्तविक या पूर्ण स्फीति की स्थिति केवल पूर्ण रोजगार की अवस्था के विद्यमान होने के पश्चात् ही उत्पन्न होगी।"

हम आंशिक और पूर्ण मुद्रा स्फीति को निम्न रेखा चित्र से भी स्पष्ट कर सकते है।

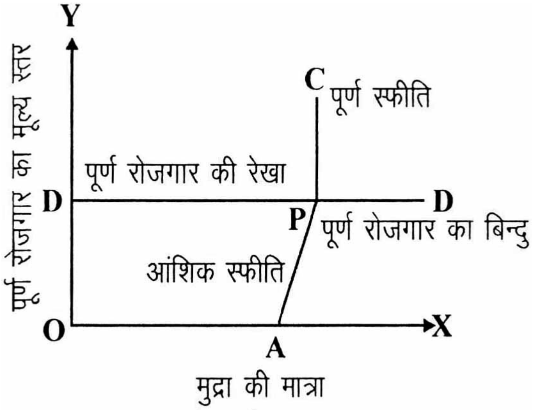

रेखा चित्र 3.1

रेखाचित्र 31 में OX पर मुद्रा की मात्रा और OY पर रोजगार का मूल्य स्तर दर्शाया गया है। चित्र में 2 बिन्दु के पूर्व कीमतों में वृद्धि के साथ ही रोजगार व उत्पादन में भी वृद्धि हो रही है, अत: सैद्धान्तिक रूप में पूर्ण स्फीति की दशा उत्पन्न नहीं होती। परन्तु P बिन्दु के उपरान्त PC पूर्ण स्फीति की स्थिति को स्पष्ट करता है जबकि चित्र में A से बिन्दु P तक की स्थिति आंशिक स्फीति की परिचायक है।

### 3.3.2 मुद्रा स्फीति या मुद्रा प्रसार के रूप अथवा प्रकार (Types of Inflation)

मुद्रा प्रसार के अनेक रूप या प्रकार है, परन्तु प्रमुख प्रकारों को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :-

(i) **चलन स्फीति (Currency Inflation)** जब किसी देश में चलन अर्थात मुद्रा की मात्रा में वृद्धि के कारण मुद्रा स्फीति उत्पन्न होती है, तब इसे चलन स्फीति कहा जाता है। सरकार द्वारा अपने घाटे को पूरा करने के लिये घाटे की वित्त-व्यवस्था को अपनाने अर्थात् अधिक मुद्रा के निर्गमन से यह स्फीति पैदा हो जाती है, क्योंकि इस स्थिति में वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो जाती है।

(ii) **साख-स्फीति (Credit Inflation)** जब देश के व्यापारिक बैंक उदारता पूर्वक ऋण प्रदान करते है तो मांग में वृद्धि होने से कीमतें बढने लगती है, जिसे साख-स्फीति कहा जाता है।

(iii) **वस्तु-स्फीति (Commodity Inflation)** जब देश में मुद्रा की मात्रा बिना किसी परिवर्तन के उत्पादन की मात्रा कम हो जाती है, जिससे कीमतों में वृद्धि उत्पन्न हो जाती है, इसे हम वस्तु स्फीति कहते है।

(iv) **लागत प्रोत्साहित स्फीति (Cost Induced or Cost Push Inflation)** वस्तुओं की उत्पादन लागत बढ़ने के कारण सरकार को उन वस्तुओं को क्रय करने में अधिक धन व्यय करना पड़ता है। कभी-कभी सरकार को अपनी योजनाओं पर पूर्व निर्धारित राशि से अधिक धन व्यय करना पडता है, जिनका परिणाम मुद्रा स्फीति होता है

(v) **मांग प्रोत्साहित स्फीति (Demand Induced Inflation)** जिन देशों की जन संख्या तीव्रगति से बढ़ती है, वहां बच्चों और सेवाओं की मांग में अधिक तीव्रता से वृद्धि होती है। फलस्वरूप मूल्यों में वृद्धि होती है और स्फीति का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगता है।

(vi) **उत्पादन जनित स्फीति (Production based Inflation)** कमी-कभी प्राकृतिक प्रकोपों, मानसून की असफलता आदि कारणों से या अन्य कारणों से फसल नष्ट हो जाती है, और उत्पादन में कमी हो जती है जिनके कारण मूल्यों में वृद्धि हो जाती है, और स्फीति की स्थिति दृष्टिगत होती है।

(vii) **पूर्ण स्फीति एवं आंशिक स्फीति (Full ot Partial Inflation)** पूर्ण रोजगार की अवस्था के पूर्व मुद्रा की मात्रा में की गई वृद्धि के फलस्वरूप कीमत स्तर में जो वृद्धि होती है, उसे आंशिक स्फीति तथा इसके विपरीत यदि पूर्ण रोजगार के बाद भी मुद्रा की मात्रा बढ़ाई जाती है और उसके कारण जो मूल्य स्तर में वृद्धि होती है, उसे पूर्ण स्फीति कहा जाता है।

(viii) **अधि विनियोग स्फीति (Over Investment Inflation)** जब किसी देश में पूँजी का विनियोग तीव्रगति से आरम्भ होता है, तो अचानक स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि पूँजी का विनियोजन ऐसी योजनाओं में होता है, जिनसे उत्पादन शीघ्र प्राप्त होने लगता है, तो स्फीति की स्थिति बहुत थोड़े समय तक ही रहती है किन्तु देर में उत्पादन देने वाली योजनाओं पर किए गये व्यय के कारण स्फीति को अधिक प्रोत्साहन मिलता है।

(ix) **लाभ प्रेरित स्फीति (Profit Induced Inflation)** कभी कभी उत्पादन लागत घटने के कारण कीमतों में गिरने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति में कृत्रिम उपायों द्वारा कीमतों को नीचे गिरने से रोका जाता है, जिससे उत्पादकों के लाभ में वृद्धि होती है। फलत: स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, ऐसी स्थिति को कीन्स ने लाभ प्रेरित स्फीति कहा है।

(x) **युद्ध कालीन मुद्रा स्फीति (War time Inflation)** युद्ध के कारण अनुत्पादक व्यय तथा वस्तुओं और सेवाओं की मांग में अप्रत्याशित वृद्धि के कारण मूल्यों में जो वृद्धि दिखाई देने लगती है, उसे युद्ध कालीन मुद्रा स्फीति कहा जाता है।

(xi) **युद्धोत्तर कालीन मुद्रा स्फीति (Post War time Inflation)** युद्ध की समाप्ति के बाद जर्जर अर्थव्यवस्था को पुन: निर्माण के लिये भारी मात्रा में पूँजी का विनियोजन किया जाता है, परन्तु वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में तत्काल वृद्धि संभव नहीं हो पाती, जिसके परिणाम स्वरूप मूल्यों में वृद्धि कहा जाता है।

(xii) **रेंगती, चलती, दौड़ती तथा सरपट दौड़ती या अति स्फीति (Creeping, Walking, Running and Hyper Inflation)** जब मूल्यों में बहुत धीमीगति से वृद्धि होती है तो इसे रेंगती स्फीति, जब मुद्रा स्फीति 2 प्रतिशत से 10 प्रतिशत प्रति वर्ष हो तो इसे चलती स्फीति, और जब मुद्रा स्फीति की गति 10 प्रतिशत प्रति वर्ष से अधिक हो तो इसे दौड़ती हुई स्फीति कहते हैं परन्तु जब मुद्रा स्फीति की वार्षिक वृद्धि दर 15 प्रतिशत अथवा इससे अधिक हो जाय तो उसे सरपट दौड़ती हुई या अतिस्फीति कहा जाता है। ऐसी मुद्रा स्फीति किसी भी देश के कुछ समय में ही अस्थिर कर देती है, क्योंकि प्रतिदिन प्रतिसप्ताह मुद्रा स्फीति होती रहती है, और वस्तुओं के मूल्यों में प्रति दिन ही नहीं बल्कि कभी-कभी तो प्रति घन्टे वृद्धि होती रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि अर्थव्यवस्था छिन्न भिन्न हो जाती है जिसके कारण लोगों का विश्वास मुद्रा से उठने लगता है, तथा समूचे देश में अशांति एवं अस्थिरता का वातारण उत्पन्न हो जाता है।

### 3.3.3 मुद्रा स्फीति के कारण (Causes of Inflation)

मुद्रा स्फीति या मुद्रा प्रसार के उत्पादन होने के प्रमुख रूप से दो कारण है

**(अ) मौद्रिक आय में वृद्धि करने वाले कारण (Causes of increase the Monetary Income)**

देश में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि लाने वाले कारण प्रमुख रूप से निम्न है :

(i) **सरकार की मुद्रा तथा साख सम्बन्धी नीतियाँ (Money and Credit Policies of Govt.)** प्राकृतिक प्रकोप, युद्ध तथा आर्थिक विकास को गति देने के लिए अधिक मुद्रा की

आवश्यकता होती है जिसे अन्य स्रोतों जैसे ऋण और करों से पूरा न हो सकने के कारण केन्द्रीय बैंक के माध्यम से सरकार पत्र मुद्रा निर्गमन की नीति अपनाती है। मुद्रा के निर्गमन के कारण मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है, जिससे स्फीति उत्पन्न हो जाती है। यदि इस प्रक्रिया को जारी रखा गया, तो स्फीति भयंकर रूप ले लेती है।

इसी प्रकार सरकार के निर्देशों पर जब केन्द्रीय बैंक खुले बाजार की क्रियाओं, बैंकदर आदि के माध्यम से अधिक साख का निर्माण करते हैं तो मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है, जिसके फलस्वरूप मुद्रा-स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है।

(ii) **घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit financing)** जब सरकार अपने घाटे के बजट की पूर्ति हेतु नई मुद्रा के सृजन का सहारा लेती है, तब मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है, जिससे वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में वृद्धि होने लगती है और स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है।

(iii) **बढ़ता हुआ निजी विनियोग (Increase in Private Investment)** जब व्यक्तिगत उद्यमी प्राविधिक नव प्रवर्तनों या अन्य कारणें से अधिक विनियोग करने लगते है और यदि अर्थव्यवस्था में कुछ बाधाओं के आ जाने अथवा पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो जाने से उत्पादन में वृद्धि की गति सीमित हो जाती है तो निजी विनियोग में वृद्धि के कारण कीमतों में वृद्धि उत्पन्न हो जाती है। क्योंकि उत्पत्ति के साधनों की मौद्रिक आय में वृद्धि होने से उपभोग व्यय बढ़ता है और मांग में वृद्धि होती है, ऐसी स्थिति में यदि पूर्ति में वृद्धि नहीं हुई तो कीमतों में वृद्धि होगी और स्फीति उत्पन्न हो जायगी।

(iv) **करारोपण में कमी (Reduction in Taxes)** करारोपण की कटौती से आम लोगों की मौद्रिक आय और वास्तविक आय में वृद्धि हो जाती है, जिससे प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि संभव हो जाती है, फलतः वस्तुओं की कमी होने लगती है, जिससे कीमतों में वृद्धि होने लगती है।

(v) **कालाधन (Black Money)** जब अकुशल एवं भ्रष्ट प्रशासन के कारण करों की राशि शत-प्रतिशत वसूली नहीं हो पाती और भ्रष्ट आचरण के द्वारा धन एकत्रित कर उसे छिपा कर लिया जाता है तो, इस काले धन के कारण वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि होती है। '

(vi) **सार्वजनिक ऋणों में कमी (Reduction in Public Debts)** जब सरकार द्वारा जनता से उधार लेने में शिथिलता दर्शाई जाती है, अर्थात् जनता से ऋण कम मात्रा में लिए जाते हैं तथा जनता से लिए गए ऋणों का भुगतान करने पर जनता के पास क्रय शक्ति बढ़ जाती है, फलतः वस्तुओं और सेवाओं की मांग में वृद्धि हो जाती है और यदि इनकी पूर्ति स्थिर रही तो कीमतें बढ़ने लगती है।

(vii) **व्यापारिक बैंकों द्वारा साख-निर्माण (Creation of by Commercial Banks)** जब व्यापारिक बैंकों द्वारा अधिकाधिक साख का निर्माण किया जाने लगता है, अर्थात् विभिन्न प्रकार के ऋण उपलब्ध कराये जाने लगते हैं तो यह क्रिया मुद्रा की मात्रा में वृद्धि के समान ही होती है, अर्थात मौद्रिक आय में वृद्धि हो जाती है, जिससे मुद्रा स्फीति उत्पन्न हो जाती है।

### (ब) उत्पादन की मात्रा को कम करने वाले कारण
### (Causes to Reduce the Quantity of Production)

जब मौद्रिक आय में वृद्धि उत्पादन की तुलना में तेजी से होती है, तब मुद्रा स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है, उत्पादन में कमी रहने के कारण निम्न है:-

(i) **जनसंख्या में वृद्धि (Increase of Population)** देश में जनसंख्या में जब तेजी से वृद्धि होती है तो वस्तुओं और सेवाओं की मांग में भी में वृद्धि होती है किन्तु उसी अनुपात में उत्पादन में वृद्धि संभव नहीं हो पाती, जिससे मुद्रा स्फीति उत्पन्न हो जाती है।

(ii) **प्राकृतिक कारण (Natural Causes)** देश में प्राकृतिक आपदाओं जैसे- अकाल, बाढ़, सूखा, भूकम्प, महामारी आदि के कारण उत्पादन घट जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप मुद्रा स्फीति उत्पन्न हो जाती है।

(iii) **सरकार की नीतियाँ (Government's Policies)** यदि सरकार उद्योगों पर अधिक नियंत्रण लगाए या लाईसेन्स नीति को जटिल बना दें जिससे नये उद्योगों की स्थापना हतोत्साहित हो तो उत्पादन वृद्धि का मार्ग अवरूद्ध हो जाता है, और उत्पादन में कमी के कारण स्फीति की स्थिति निर्मित हो जाती है। कभी-कभी सरकार नये-नये कर लगाती है, या फिर पुराने करों की दर में वृद्धि कर देती है, जिससे पूँजी विनियोग हतोत्साहित होता है और उत्पादन वृद्धि का मार्ग एक जाता है, फलस्वरूप मूल्य स्तर में वृद्धि हो जाती है।

(iv) **सरकार की व्यापार नीति (Trade Policies of Government)** जब सरकार विदेशी मुद्रा के उपार्जन के उद्देश्य से निर्यातों में वृद्धि कर देती है, जिससे देश में वस्तुएं कम रह जाती है, तब मुद्रा स्फीति उत्पन्न हो जाती है

(v) **औद्योगिक संकट (Industrial Crisis)** जब मजदूरों द्वारा अपने अधिकारों की मांग को लेकर हडताल तथा सेवायोजकों द्वारा तालाबन्दी जैसी घटनाएँ निर्मित होती है तो उत्पादन कार्य कुछ समय के लिये रूक जाता है अत: उत्पादन में कमी और मौद्रिक आय में वृद्धि न होने से भी मुद्रा स्फीति की स्थिति आ जाती है।

(vi) **व्यापारियों एंव उपभोक्ताओं दारा वस्तुओं का संचय (Hoarding of Goods by Traders and Consumers)** जब कीमतों में वृद्धि अनवरत जारी रहती है तो कीमतों में और अधिक वृद्धि की आशंका से व्यापारी बाजार से वस्तुओं का स्टॉक हटा लेते है और उपभोक्ता भी वस्तुओं को संचय करने लगते है, जिससे पूर्ति की मात्रा कम होती है और कीमतें बढ़ने लगती है।

(vii) **उत्पादन लागत में वृद्धि (Increase in Cost of Production)** देश में यदि मजदूरी में वृद्धि होती है, या उत्पादन ह्रास नियम लागू होने के कारण, उत्पादन लागत में वृद्धि होती है तो भी लागत बढ़ने के कारण मूल्य बढ़ जाते हैं और मुद्रा स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है।

(viii) **तकनीकी परिवर्तन (Technological Changes)** वर्तमान में समय-समय पर उत्पादन की प्रविधि में परिवर्तन होते रहते हैं, जिससे कुछ समय के लिए उत्पादन रूक जाता है, और वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति में कमी आ जाती है, परिणामस्वरूप मुद्रा स्फीति की स्थिति निर्मित हो जाती है।

(ix) **अन्तरराष्ट्रीय कारण (International Causes)** प्रत्येक देश का एक दूसरे देश के साथ व्यापारिक सम्बन्ध रहता है, अत: यदि किसी देश में कीमतों में परिवर्तन होता है तो इसका प्रभाव सम्बद्ध देशों पर भी बिना पड़े नहीं रह सकता जिससे दूसरे देशों में भी कीमतें बढ़ने

लगाती हैं, जैसे 2007-2008 में प्रारम्भ हुई अमेरिका की आर्थिक मन्दी का प्रभाव भारत में भी स्पष्ट देखा जा सकता है।

**(x)** **साधनों कीं पूर्ति का अभाव (Lack of Supply of Sources)** देश में उपलब्ध भूमि, श्रम, कच्चामाल, पूँजीगत उपकरणों आदि का अभाव विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने में बाधक होते हैं, ऐसी स्थिति में मुद्रा प्रसार मांग के कारण नहीं बल्कि साधनों की पूर्ति में कमी के कारण उत्पन्न होता है।

### 3.3.4 मुद्रा स्फीति के प्रभाव (Effects of Inflation)

मुद्रा स्फीति से देश की अर्थव्यवस्था पर बहुत ही गम्भीर प्रभाव पड़ते है। स्फीति का बुरा प्रभाव सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर पडता है। मूल्य स्तर में होने वाली वृद्धि देश के सामाजिक, आर्थिक, नैतिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में अस्थिरता उत्पन्न कर देती है। मुद्रा स्फीति के समाज के विभिन्न वर्गो एवं अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभाव निम्न लिखित है:-

(1) **आर्थिक प्रभाव (Economic Effects)** मुद्रा प्रसार के आर्थिक प्रभाव निम्न प्रकार से देखने को मिलते है:-

**(अ)** **उत्पादन तथा रोजगार पर प्रभाव** मुद्रा प्रसार के समय वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि इनकी लागतों से अधिक होती है। अत: मूल्य स्तर में वृद्धि या मुद्रा स्फीति के समय व्यापारियों को लाभ होता है, जिससे उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है, उत्पादन में वृद्धि होती है और अधिक से अधिक लोगों को रोजगार प्राप्त होता है, परन्तु पूर्ण रोजगार की स्थिति आते ही स्फीति तेजी से बढ़ती है जिससे मुद्रा प्रसार तेजी से होता है जिसके परिणाम स्वरूप उत्पादन में कमी और बेरोजगारी में वृद्धि होती है।

**(ब)** **धन के पुनर्वितरण पर प्रभाव** समाज के विभिन्न वर्गो पर मुद्रा प्रसार का प्रभाव अलग अलग पड़ता है जो निम्न है:-

**(i)** **उत्पादक व व्यापारी वर्ग पर प्रभाव** मुद्रा स्फीति के समय उत्पादकों और व्यापारियों को लाभ होता है क्योंकि मूल्य बढ़ने से लाभ की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। उत्पादकों व व्यापारियों को स्फीति के पूर्व उत्पादित, खरीदें गए माल की कीमत पहले की अपेक्षा बढ़ जाती है। साथ ही ब्याज और मजदूरी की दरें स्थिर रहती हैं जिससे व्यापारियों व उत्पादनकर्ताओं को लाभ होता है।

**(ii)** **ऋणी तथा ऋणदाता वर्ग पर प्रभाव** मुद्रा स्फीति के समय ऋणी को लाभ और ऋणदाता को हानि उठानी पड़ती है क्योंकि जब ऋणी उधार लिया गया रूपया ब्याज के साथ वापस करता है तब स्फीति के कारण ऋणी वास्तव रूप में कम रूपया वापस करता है क्योंकि वापस करते समय मुद्रा की क्रयशक्ति कम हो जाती है, जिससे ऋण को लाभ मिलता है, वही दूसरी ओर ऋणदाता को हानि उठानी पड़ती है क्योंकि मुद्रा प्रसार के कारण मुद्रा की क्रय शक्ति कम हो जाती है और ऋणदाता को वास्तविक आय के रूप में कम रूपया वापस मिलता है।

**(iii)** **विनियोजको पर प्रभाव** निश्चित आय वाले विनियोजकों को मुद्रा प्रसार के समय हानि होती है क्योंकि मूल्य वृद्धि के कारण वास्तविक आय कम प्राप्त होती है। दूसरी तरफ परिवर्तनीय आय वाले विनियोजकों को लाभ होता है क्योंकि व्यापार व व्यवसाय के लाभ के साथ मौद्रिक आय में भी वृद्धि हो जाती हैं।

**(iv) वेतन भोगियों पर प्रभाव** स्फीति काल में वेतन भोगियों को हानि होती है क्योंकि जिस अनुपालन में मूल्य स्तर बढ़ता है, उस अनुपात में उनके वेतन में वृद्धि नहीं होती।

**(v) श्रमिकों पर प्रभाव** मुद्रा प्रसार के समय श्रमिक वर्ग को हानि उठानी पड़ती है क्योंकि मजदूरी की दरों में अगर वृद्धि होती भी है तो कीमतों में होने वाली वृद्धि के अनुपात में काफी कम होती है।

एक दृष्टि से मुद्रा प्रसार के समय श्रमिकों को लाभ भी होता है, क्योंकि अर्थव्यवस्था में आशावादी दृष्टिकोण होने के कारण उत्पादन की मात्रा बढ़ाई जाती है, जिससे श्रमिकों के परिवार के अन्य सदस्यों को भी रोजगार उपलब्ध होता है, और उनके परिवार की आय में वृद्धि होती है।

**(vi)** उपभोक्ताओं पर प्रभाव मुद्रा प्रसार के समय निश्चित आय वाले उपभोक्ताओं को हानि होती है। यद्‌यपि समाज में प्रत्येक व्यक्ति उपभोक्ता होता है। प्रसार के समय उत्पादक और व्यापारी वर्ग को कोई विशेष कष्ट नहीं होता क्योंकि उन्हें प्राप्त होने वाला लाभ बढ़ी हुई कीमतों से कहीं अधिक होता है, जबकि सामान्य जनता को काफी कष्ट उठाना पड़ता है।

कृषक वर्ग पर प्रभाव स्फीति काल में किसानों को लाभ होता है क्योंकि उनके उत्पादन का मूल्य बढ़ जाता है, जबकि उनकी लागतों में उतनी वृद्धि नहीं होती जितनी कीमतों में वृद्धि होती है।

**(स) अन्य आर्थिक प्रभाव** मुद्रा प्रसार के अन्य आर्थिक प्रभावों को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है -

**(i)** **करारोपण** स्फीति काल में अतिरिक्त करों अथवा पुराने करों में वृद्धि करके सरकार जनता की अतिरिक्त क्रयशक्ति को वापस लेने का प्रयास करती है जिससे आमजनता को हानि उठानी पड़ती है।

**(ii)** **आयात व निर्यात पर प्रभाव** मुद्रा प्रसार के समय देश का व्यापार संतुलन प्रतिकूल हो जाता है। देश में कीमत स्तर की वृद्धि के कारण आयात उत्साहित एवं निर्यात हतोत्साहित होते हैं।

**(iii)** **बैंकिंग पर प्रभाव** मुद्रा प्रसार के समय नये-नये बैंक और बीमा कम्पनियों की स्थापना होने लगती है और पूर्व से ही कार्य कर रही संस्थाओं का विकास होता है।

**(iv)** **गैर आयोजित व्यय** पर प्रभाव स्फीति काल में गैर आयोजित व्यय में निरन्तर वृद्धि होती है क्योंकि अनुदान और सहायता उपलब्ध होने से कीमतों में और अधिक वृद्धि होती है।

**(v)** **आर्थिक विषमता में वृद्धि** मुद्रा स्फीति के समय प्राय: आय एवं लाभ का अधिकांश भाग धनवान वर्ग को मिलता है, जबकि निर्धन वर्ग इस लाभ से वंचित रह जाता है। अत: एक तरफ धनी अत्यधिक धनवान और दूसरी ओर निर्धन अत्यधिक निर्धन होता जाता है।

**(vi)** **उच्च लागत वाली अर्थव्यवस्था** स्फीति के कारण उत्पादन महंगा हो जाता है, जिससे अर्थव्यवस्था उच्च लागत वाली होती है। इस स्थिति में अन्तरराष्ट्रीय बाजार में वस्तुओं का टिक पाना कठिन हो जाता है।

(2) **मुद्रा प्रसार के सामाजिक प्रभाव** मुद्रा प्रसार के सामाजिक प्रभावों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है:

(i) **बेरोजगारी में कमी** मुद्रा स्फीति के समय नये-नये उद्‌योग धन्धे स्थापित होते हैं जिससे समाज में लोगों को रोजगार उपलब्ध होता है और बेरोजगारी में कमी आती है।

(ii) **हड़ताल पर प्रभाव** मुद्रा प्रसार के समय कीमतों में वृद्धि के कारण मजदूर वर्ग अपनी मजदूरी बढ़ाने के लिए हड़ताल आदि का सहारा लेते है, जिससे उत्पादन प्रभावित होता है।

(iii) **धन संचय में कमी** भविष्य में मुद्रा की क्रयशक्ति के और भी कम होने के भय से लोग अपनी बचत का अधिकांश भाग अन्य वस्तुओं के उपभोग पर व्यय कर देते हैं, जिससे बैंकों की तरलता में कमी आती है।

(3) **मुद्रा प्रसार के नैतिक प्रभाव** मुद्रा प्रसार के प्रमुख नैतिक प्रभाव निम्न हैं:

(i) **नैतिक पतन** मुद्रा प्रसार के समय मूल्य स्तर में वृद्धि के कारण लाभ कमाने के लालच में व्यापारी एवं उत्पादक विभिन्न अनैतिक कार्यो में लिप्त हो जाते है, जैसे वस्तु का मूल अधिक करना, वस्तुओं की किस्म में कमी करना, मुनाफा खोरी, चोर बाजारी मिलावट आदि प्रवृत्तियाँ नैतिक पतन को जन्म देती हैं।

(ii) **सट्टेबाजी में वृद्धि** मुद्रा प्रसार के समय सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है। अधिकांश लोग सट्टेबाजी की ओर आकर्षित होते हैं।

(iii) **घुसखोरी को बढ़ावा** स्फीति के समय शासकीय अधिकारियों एवं कर्मचारियों में घूसखोरी की प्रवृत्ति जन्म लेती है

(4) **मुद्रा प्रसार के राजनैतिक प्रभाव** मुद्रा प्रसार के मुख्य राजनैतिक प्रभाव निम्न है :

**(i)** **राजनीतिक क्रांति** मुद्रा स्फीति के समय सरकार के प्रति जनता का आक्रोश बढ़ता है, और इसका लाभ विभिन्न विरोधी राजनैतिक दल उठाने का प्रसास करते है। यहां तक कि कभी-कभी इसके कारण सरकारें तक भी परिवर्तित हो जाती है।

**(ii)** **लोगों की स्वतंत्रता पर प्रभाव** स्फीति के समय सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिए जाते हैं, जिससे लोगों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन होता है।

### 3.3.5 मुद्रा स्फीति रोकने के उपाय (Measures to check Inflation)

मुद्रा-स्फीति के काफी दुष्प्रभाव होते हैं। स्फीति के आर्थिक सामाजिक, नैतिक एवं राजनैतिक प्रभाव अत्यन्त गम्भीर एवं व्यापक होते हैं, अत: स्फीति को नियंत्रित करना सरकार का परम कर्तव्य हो जाता है। मुद्रा स्फीति के प्रमुख रूप से

दो कारण होते हैं- प्रथमत: मुद्रा की पूर्ति में तेजी से वृद्धि और दूसरा वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन में कमी। अत: मुद्रा स्फीति को रोकने के लिये भी इन्हीं दो स्तरों पर प्रयास करना आवश्यक है। इसके लिए एक तरफ ऐसे प्रयास करने पड़ते हैं जिससे मुद्रा की पूर्ति में कमी लाई जा सके और दूसरी तरफ ऐसे उपाय किये जाने चाहिए जिससे देश में वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन में वृद्धि हो सके।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से मुद्रा स्फीति को रोकने के उपायों को निम्न तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है -

**(1)** मौद्रिक उपाय

मौद्रिक उपायों के अन्तर्गत उन क्रियाओं को शामिल किया जाता है जिनके द्वारा देश का केन्द्रीय बैंक मुद्रा की मात्रा एवं साख पर नियंत्रण करता है। यह उपाय निम्न है:-

(i) **मुद्रा की मात्रा को कम करना** मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए आवश्यक है की मुद्रा की मात्रा को कम किया जाय। इसके लिए सरकार को देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा की जाने वाली मुद्रा निकासी पर कठोर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए। सरकार को चाहिए कि पहले से देश में प्रचलित पुरानी मुद्रा को बन्द करके नयी मुद्रा जारी करने के लिये केन्द्रीय बैंक को निर्देश जारी करना चाहिए। साथ ही पुरानी मुद्रा को नवीन मुद्रा में परिवर्तित करने हेतु जनता को एक समय सीमा निर्धारित कर देना चाहिए जिससे लोग पुरानी मुद्रा को जमा कर उसके बदले में नई मुद्रा प्राप्त कर सके।

(ii) **साख मुद्रा पर नियंत्रण** केन्द्रीय बैंक उचित मौद्रिक नीति को अपनाकर देश में साख मुद्रा की पूर्ति को बढ़ने से रोक सकता है, तथा उसे कम भी कर सकता है। इसके लिये बैंक दर में वृद्धि, न्यूनतम नकद कोष में वृद्धि, सरकारी प्रतिभूतियों को खुले बाजार में बेचना, साख की राशनिंग, व्यक्तिगत व्यय एवं विनियोग की मात्रा को कम करके तथा अन्य व्यापारिक बैंकों की साख निर्माण की क्षमता को भी केन्द्रीय बैंक सीमित कर सकता है। परन्तु उपर्युक्त उपाय अल्प विकसित देशों में अधिक प्रभावी नहीं हो पाती। इसके लिए इन देशों में प्रत्यक्ष नियंत्रण के द्वारा साख की मात्रा को नियंत्रित किया जा सकता है।

**(2) राजकोषीय उपाय**

राजकोषीय उपायों के अन्तर्गत उन कार्यो को शामिल किया जाता है जिन्हें सरकार मुद्रा की मात्रा में कमी लाने के लिये प्रयोग में लाती है। यह कार्य प्रमुख रूप से निम्न हैः-

(i) **करों में वृद्धि** मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए सरकार जनता की अतिरिक्त क्रयशक्ति को कम करने के लिए पुराने करों की दर में वृद्धि और नए कर लगाकर नियंत्रण कर सकती है।

(ii) **सार्वजनिक व्यय में कमी** स्फीति काल में सरकार को चाहिए कि वह अपने व्यय में यथा संभव कमी करें और विशेषकर अनुत्पादक कार्यो पर होने वाले व्यय पर रोक लगाकर उसे कम करें।

(iii) **सार्वजनिक ऋणों में वृद्धि** मुद्रा स्फीति को कम करने के लिये सरकार द्वारा लोगों से अधिकाधिक ऋण लेना चाहिए, जिससे जनता की क्रयशक्ति में कमी हो, साथ ही लिए गए ऋणों को उत्पादक कार्यो में व्यय करके उत्पादन वृद्धि का प्रयास करना चाहिए।

(iv) **बचतों को प्रोत्साहन** मुद्रा स्फीति को नियंत्रित करने के लिये सरकार का दायित्व है कि ऐसी योजनाओं का क्रियान्वयन करें जिससे जनता की बचतों को प्रोत्साहन मिले और उपभोग हतोत्साहित हो सके-जैसे ब्याज दरों में वृद्धि आज से प्राप्त आय पर करों में छूट तथा उपभोक्ता वस्तुओं पर कर लगा कर बचतों को प्रोत्साहित एवं उपभोग को हतोत्साहित करने जैसे उपाय किये जाने चाहिए। साथ ही अगर आवश्यक हो तो अनिवार्य बचत योजना भी लागू की जा सकती है।

(v) **विनियोग पर नियंत्रण** सरकार को चाहिए कि स्फीति काल में विनियोगों पर नियंत्रण रखें क्योंकि लाभ कमाने के प्रयास में व्यापारी एवं उद्योगपति अपनी पूँजी व्यवसाय के विस्तार में लगाते हैं जिससे मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होती है और स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(vi) **मुद्रा का अभिमूल्यन** इस प्रक्रिया से विदेशों से आयात सस्ते एवं निर्यात महंगे हो जाते हैं। फलत: आयात बढ़ने से पूर्ति में वृद्धि होती है और निर्यात कम होने से वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा में भी वृद्धि होती है, जिससे मुद्रा प्रसार पर नियंत्रण होता है।

**(3) अन्य उपाय**

मुद्रा स्फीति को नियंत्रित करने के लिये कुछ अन्य उपाय भी बतलाए गए हैं जो निम्न हैं:-

(i) **उत्पादन में वृद्धि** मुद्रा प्रसार को उत्पादन में वृद्धि करके नियंत्रित किया जा सकता है। इसके लिए कृषि व औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि आवश्यक है। आवश्यक कच्चे माल की आपूर्ति, मशीनों की व्यवस्था, वैज्ञानिक उपकरणों तथ कुशल प्रबन्धन द्वारा यह सब संभव हो सकता है। सरकार द्वारा स्वत: उद्योगों की स्थापना की जानी चाहिए। किसानों को विभिन्न सुविधाएं सरकार द्वारा उपलब्ध कराकर कृषिजनित उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है

(ii) **मूल्य नियंत्रण व राशनिंग** सरकार द्वारा वस्तुओं के अधिकतम मूल्य का निर्धारण करके लाभ कमाने पर नियंत्रण रखा जा सकता है। राशनिंग नीति के द्वारा मूल्य वृद्धि रोकी जा सकती है। आवश्यक वस्तुओं की बिक्री व्यवस्था सरकार अपने हाथ में लेकर मूल्य वृद्धि पर काबू पर सकती है।

(iii) **सट्टेबाजों पर रोक** सट्टेबाजों के द्वारा सौदों के ऊँचे मूल्यों का वातावरण निर्मित कर दिया जाता है, जिससे मूल्य स्तर बढ़ जाता है। अत: इस प्रक्रिया पर नियंत्रण आवश्यक हो जाता है।

(iv) **आयातों में वृद्धि और निर्यातों में कमी** वस्तुओं और सेवाओं की में वृद्धि हेतु आवश्यक आयातों के सरकार द्वारा प्रोत्साहन और निर्यातों को हतोत्साहित किया जाना चाहिए।

(v) **मजदूरी नीति** यदि मजदूरी की दरों को स्थिर रखा जाय अथवा मजदूरी की वृद्धि श्रम की उत्पादकता के आधार पर निर्धारित हो तो स्फीति को रोका जा सकता है। बेरोजगारी का स्तर बढ़ा कर भी स्फीति को नियंत्रित किया जा सकता है।

## 3.4 मुद्रा संकुचन अथवा. मुद्रा विस्फीति (Deflation)

मुद्रा स्फीति की विपरीत अवस्था को मुद्रा संकुचन या विस्फीति कहा जाता है। मुद्रा संकुचन वह अवस्था होती है जिसमें मुद्रा की पूर्ति मांग की अपेक्षा कम होती है। मुद्रा संकुचन की कुछ परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं:

(i) **क्राउथर के अनुसार**, ' 'मुद्रा संकुचन वह अवस्था होती है, जिसमें मुद्रा का मूल बढ़ता है अर्थात कीमतें गिरती है।

(ii) **प्रो पीगू के शब्दों में,** "मुद्रा संकुचन मूल्यों के गिरने की वह स्थिति है जो उस समय उत्पन्न होती है जब वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन मौद्रिक आय की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ता है। '

(iii) **प्रो. कीन्स के शब्दों में,** ' 'मुद्रा संकुचन वह नीति है जिसके द्वारा देश में मुद्रा की मात्रा और उसकी मांग के बीच का अनुपात इतना कर दिया जाय कि उससे मुद्रा की क्रयशक्ति बढ़ जाय तथा वस्तुओं के मूल्य गिर जायें।"

उपर्युक्त विद्वानों की परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि मुद्रा संकुचन निम्न परिस्थितियों में दृष्टिगत होता है :-

(1) मौद्रिक आय घटती हो और वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि हो।

(2) मौद्रिक आय और उत्पादन दोनों ही घट रहे हों, परन्तु मौद्रिक आय में कमी अधिक हो रही हो।

(3) मौद्रिक आय स्थिर रहे परन्तु वस्तुओं का उत्पादन बढ़ रहा हो।

(4) मौद्रिक आय और उत्पादन दोनो ही बढ़ रहे हो, परन्तु उत्पादन में वृद्धि अपेक्षाकृत अधिक हो।

(5) मौद्रिक आय घट रही हो परन्तु उत्पादन यथावत रहे।

(6) जब वस्तुओं की पूर्ति उनकी मांग से अधिक हो।

संक्षेप में मुद्रा संकुचन के समय प्रभाव पूर्ण मांग में कमी के कारण कीमतें कम होती है। परन्तु जिस प्रकार से मूल्यों की प्रत्येक वृद्धि को मुद्रा प्रसार नहीं कहा जा सकता, इसी प्रकार मूल्यों की प्रत्येक कमी को मुद्रा संकुचन नहीं कहा जा सकता। अर्थात् पूर्ण रोजगार से नीचे जब कीमतें गिरती है तो रोजगार तथा आय दोनों ही प्रभावित होते है, अत: इस स्थिति को ही मुद्रा संकुचन कहा जाता है।

### 3.4.1 मुद्रा-संकुचन के कारण

अर्थव्यवस्था में मुद्रा संकुचन उत्पन्न होने के प्रमुख कारण निम्न हैं :-

(i) **चलन मुद्रा की मात्रा कम करना** जब सरकार मुद्रा की मात्रा में कमी कर देती है तो मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि मुद्रा की मात्रा स्थिर भी रहे परन्तु वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा में वृद्धि हो जाये तब भी मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(ii) **बैंक दर में वृद्धि** यदि देश का केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक दर में वृद्धि कर देता है तब अन्य व्यापारिक बैंक भी इस प्रक्रिया का अनुसरण करके बैंक दर बढ़ा देते है जिससे देश में साख की मात्रा कम हो जाती है और कीमतें गिरने लगती है जिसके कारण देश में मुद्रा संकुचन की स्थिति निर्मित हो जाती है।

(iii) **खुले बाजार की क्रियाएं** जब देश का केन्द्रीय बैंक खुले बाजार की नीति अपनाकर साख का नियंत्रण करता है तो देश में मुद्रा संकुचन की स्थिति निर्मित हो जाती है, क्योंकि लोग बैंकों में अपनी जमा राशि को निकाल कर प्रतिभूतियों में व्यय करने लगते हैं, जिससे बैंकों की जमा राशि कम हो जाती है, और उनकी साख निर्माण की शक्ति क्षीण हो जाती है।

(iv) **भारी करारोपण** जब सरकार बड़ी मात्रा में कर लगाती है तो देश में चलन मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है, और मुद्रा संकुचन उत्पन्न हो जाता है।

(v) **उत्पादन या पूर्ति में वृद्धि** यदि वस्तुओं की पूर्ति में निरन्तर वृद्धि होती रहे और मुद्रा की मात्रा में उस अनुपात में वृद्धि न हो तो मुद्रा संकुचन की स्थिति निर्मित हो जाती है।

### 3.4.2 मुद्रा-संकुचन या विस्फीति के प्रभाव

मुद्रा-संकुचन से सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था बुरी तरह प्रभावित होती है। मुद्रा - संकुचन के प्रभाव मुद्रा प्रसार के प्रभावों से ठीक विपरीत होते हैं। मुद्रा संकुचन के मुख्य प्रभाव निम्न हैं.

(i) **विनियोजकों पर प्रभाव** मुद्रा संकुचन के परिणाम स्वरूप विभिन्न प्रकार के अंश और प्रतिभूतियों के मूल्य गिरने से विनियोजकों को हानि उठानी पड़ती है। मन्दी के कारण व्यापार व व्यवसाय के बन्द हो जाने से विनियोग पत्रों का मूल्य गिर जाता है।

(ii) **व्यापारी वर्ग एवं व्यापार** मांग में कमी तथा उत्पादन की अधिकता के कारण मूल्यों में काफी गिरावट आती है, जिससे इस वर्ग को हानि (घाटा) होता है, और व्यापार बन्द होने की स्थिति में आ जाता है।

(iii) **कृषकों को हानि** कृषि पदार्थो के मूल्य अत्यधिक गिर जाने के कारण किसानों को उनके उत्पादन का मूल्य कम मिलता है, जिससे उन्हें हानि उठानी पड़ती है।

(iv) **उद्योगपतियों पर प्रभाव** उद्योगों में मांग की कमी के कारण माल के स्टाक के जमा होने की प्रवृत्ति होती है। औद्योगिक संस्थाओं की आर्थिक स्थिति बिगड़ने से उद्योगों के बन्द होने की नौबत आ जाती है, और उद्योग जगत में निराशा का वातावरण फैल जाता है।

(v) **उपभोक्ता वर्ग पर प्रभाव** मुद्रा संकुचन से उपभोक्ता वर्ग को लाभ होता है, क्योंकि मूल्यों के कम होने से, पहले की सीमित आय से ही अब पहले से अधिक वस्तुएं खरीदी जा सकती है, और वे अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि पहले से अधिक मात्रा में करने में सक्षम होते है।

(vi) **ऋणदाता तथा ऋणी वर्ग पर प्रभाव** मुद्रा संकुचन के समय ऋणदातावर्ग को लाभ होता है तथा ऋणी वर्ग को हानि उठानी पड़ती है। मुद्रा संकुचन में मुद्रा का मूल्य बढ़ जाने से ऋणदाता वर्ग को उधार दिये गये मूलधन और ब्याज के रूप में जो राशि वापस प्राप्त होती है, उसकी क्रयशक्ति वस्तुओं व सेवाओं के रूप में पहले से अधिक होती है, जबकि ऋणीवर्ग को वस्तुओं व सेवाओं के रूप में अधिक क्रयशक्ति का त्याग करना पड़ता है।

(vii) **श्रमिकों पर प्रभाव** मुद्रा संकुचन की गति जब धीमी होती है तब श्रमिकों तथा वेतन भोगी कर्मचारियों को लाभ होता है क्योंकि उनकी क्रयशक्ति बढ़ने के कारण अब वे अपनी निश्चित आय से अधिक वस्तुएँ खरीद सकते है. परन्तु जब मुद्रा संकुचन की गति तीव्र हो जाती है तो उद्योगपतियों या नियोजकों को अधिक हानि होने लगती है और चारों ओर निराशा का वातावरण फैल जाता है, जिससे उत्पादक उत्पादन बन्द कर देते है या कम कर देते हैं, फलत: श्रमिकों की छटनी होती है तथा बेरोजगारी बढ़ जाती है। इस प्रकार मुद्रा संकुचन के समय श्रमिकों को लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है।

(viii) **सरकार पर प्रभाव** मुद्रा संकुचन के समय सरकार की आय कम हो जाती है, सरकारी समस्यायें बढ़ जाती है क्योंकि अर्थव्यवस्था में व्याप्त बेरोजगारी और भुखमरी का सामना सरकार को करना पड़ता है।

(ix) **रोजगार पर प्रभाव** मुद्रा संकुचन के समय उत्पादकों को हानि होती है जिससे वे उत्पादन बन्द कर देते है या उत्पादन कम कर देते है जिसके फलस्वरूप मजदूरों की छटनी होती है और देश में बेरोजगारी की मात्रा में वृद्धि होती है।

(x) **विदेशी व्यापार पर प्रभाव** मुद्रा संकुचन काल में देश के भुगतान संतुलन प्रय: अनुकूल हो जाते हैं क्योंकि वस्तुएँ सस्ती होने के कारण आयात हतोत्साहित होते है तथा निर्यातों को बढ़ावा मिलता है, इस प्रकार देश की मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है।

(xi) **सामाजिक व नैतिक स्तर पर प्रभाव** मुद्रा संकुचन के समय मजदूरों व सेवायोजकों के मध्य प्राय: झगड़े व विवाद होने लगते हैं जिससे देश की औद्योगिक शान्ति भंग होती है। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक जीवन अस्त व्यस्त हो जाता है।

### 3.4.3 मुद्रा संकुचन को रोकने के उपाय (Measures to check deflation)

मुद्रा संकुचन को रोकने या कम करने के लिए निम्न उपाय काम में लाये जाते है:

**(अ) मौद्रिक उपाय**

मुद्रा संकुचन के नियंत्रण हेतु निम्न मौद्रिक उपाय अपनाये जा सकते हैं:-

(i) **मुद्रा की मात्रा में वृद्धि** सरकार केन्द्रीय बैंक के माध्यम से अधिक मुद्रा का निर्गमन कराकर मुद्रा संकुचन को रोक सकती है क्योंकि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से गिरते हुए मूल्यों पर नियंत्रण किया जा सकता है।

(ii) **साख नीति में सुधार** केन्द्रीय बैंक द्वारा अधिक साख मुद्रा का विस्तार करके मूल स्तर को नियंत्रित किया जा सकता है। बैंक दर में कमी करके तथा खुले बाजार की क्रियाओं को अपनाकर जैसे प्रतिभूतियों को अधिक कीमत पर खरीद कर जनता की क्रयशक्ति को बढ़ाया जा सकता है। ब्याजदर कम होने से व्यापारी अधिक मात्रा में बैंकों से ऋण लेंगे तथा मुद्रा संकुचन 'की स्थिति में सुधार होने लगता है।

(iii) **बैंकिंग विकास** सरकार द्वारा बैंकिंग विकास हेतु आर्थिक सहायता देकर साख मुद्रा के विकास में सहायता की जाती है, जिससे मुद्रा संकुचन पर रोक लगेगी।

**(ब) राजकोषीय उपाय**

मुद्रा संकुचन को रोकने के लिये सरकार निम्न राजकोषीय उपाय अपना सकती हैं:-

(i) **सार्वजनिक व्यय में वृद्धि** मुद्रा संकुचन के समय सरकार द्वारा घाटे का बजट बनाकर अधिक से अधिक सार्वजनिक व्यय किये जाने चाहिए। इससे लोगों को रोजगार प्राप्त होगा तथा जनता की क्रयशक्ति में वृद्धि होगी। वस्तुओं और सेवाओं की मांग में वृद्धि होगी और अर्थव्यवस्था संतुलन की ओर अग्रसर होगी।

(ii) **करों में कमी** करों में कमी करके या कुछ करों को समाप्त करे उत्पादन को प्रोत्साहन दिया जा सकता है। रोजगार की स्थिति में सुधार होने से लोगों की क्रयशक्ति में वृद्धि होती है। अत: वस्तुओं और सेवाओं की मांग में वृद्धि होने से कीमत स्तर और अधिक नीचे नहीं जा पाता और मुद्रा संकुचन नियंत्रित हो जाता है।

(iii) **ऋणों का भुगतान करके** मुद्रा संकुचन के समय सरकार सार्वजनिक ऋणों का भुगतान करके कुछ सीमा तक मुद्रा संकुचन को रोकने में सफल हो सकती है। ऋणों के भुगतान से ऋणदाताओं को आय की प्राप्ति होती है।
जिससे उनकी मांग में वृद्धि हो जाती है तथा मुद्रा संकुचन में सुधार होता है।

(iv) **आर्थिक सहायता प्रदान करके** मुद्रा संकुचन की स्थिति से निपटने के लिये सरकार उद्योगों को संरक्षण तथा आर्थिक सहायता प्रदान करके उत्पादन की वृद्धि को प्रोत्साहित कर सकती है, फलत: लोगों को रोजगार उपलब्ध होगा और उत्पादन को प्रोत्साहन मिलेगा।

**(स) अन्य उपाय**

मुद्रा संकुचन पर नियंत्रण पाने के लिए सरकार उपर्युक्त मौद्रिक और राजकोषीय उपायों के अतिरिक्त कुछ अन्य उपायों को भी अपना सकती है, जो निम्न है.

(i) **विदेशी व्यापार सम्बन्धी निति में परिवर्तन करके** मुद्रा संकुचन काल में सरकार द्वारा छूट देकर निर्यातों को प्रोत्साहित किया जा सकता है, साथ ही आयातों को हतोत्साहित करने वाली नीतियों को अपना कर मुद्रा संकुचन पर नियंत्रण पाया जा सकता है। निर्यातों में वृद्धि से उद्योग जगत में गति आयेगी, बेरोजगारी कम होगी और कीमत स्तर पर वृद्धि होगी।

(ii) **अतिरिक्त उत्पादन को नष्ट करना** मुद्रा संकुचन के समय अर्थव्यवस्था में मांग से अधिक अतिरिक्त उत्पादन को नष्ट करने की प्रक्रिया भी अपनाई जा सकती है, इसके फलस्वरूप वस्तुओं की पूर्ति में कमी होगी और स्व स्तर बढ़ेगा, तथा मुद्रा संकुचन नियंत्रित होगा।

इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि देश के लिए न तो मुद्रा प्रसार उपयुक्त है और न ही मुद्रा संकुचन दोनों ही स्थितियाँ देश के लिए घातक होती है, अत: दोनों ही स्थितियाँ देश के लिये घातक होती हैं। इसीलिये विद्वानों द्वारा निम्न कथन का प्रयोग किया जाता है।

"मुद्रा स्फीति अनुचित है और मुद्रा संकुचन अव्यावहारिक (Inflation if is unjust and Deflation is Inexpedient) अर्थव्यवस्था के लिये मुद्रा प्रसार और मुद्रा संकुचन दोनों ही बुरे हैं क्योंकि यह समाज में आय का कुवितरण उत्पन्न करते है। मुद्रा प्रसार में वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाने से व्यापारियों, उद्योगपतियों व सटोरियों को लाभ होता है, परन्तु समाज के अधिकांश वर्ग मूल्य स्तर में वृद्धि के कारण हानि उठानी पड़ती है। मजदूरों व सामान्य लोगों का जीवन निर्वाह कठिन हो जाता है। मध्यम वर्ग के लोग मंहगाई के कारण कष्ट उठाते हैं। इस काल में चोर बाजारी, मुनाफाखोरी, मिलावट करने जैसी प्रवृक्तियो का जन्म होता है, जो देश व अर्थव्यवस्था के लिये घातक होती है।

इसके विपरीत मुद्रा संकुचन में कीमतों की कमी के कारण व्यापारियों को हानि होती है, उत्पादन कम होने लगता है और बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न हो जाती है तथा आर्थिक विकास अवरूद्ध हो जाता है। अत: मुद्रा प्रसार और मुद्रा संकुचन दोनों ही समाज व अर्थव्यवस्था के लिए हानिकारक होते है। इसी संदर्भ में प्रो. कीन्स ने कहा है कि ' 'मुद्रास्फीति अन्याय पूर्ण है तथा मुद्रा संकुचन अनुपयुक्त है।"

मुद्रा प्रसार अन्याय पूर्ण क्यों हैं? (Why Inflation is Unjust) इसके कई कारण है, जिनमें मुख्य कारण निम्न है.

**(i)** **मुद्रा प्रसार एक प्रकार का करारोपण है** जब सरकार योजनाओं को पूरा करने अथवा अन्य किन्हीं कारणों से नई मुद्रा का निर्गमन करती है तो उसका प्रभाव जनता पर एक प्रकार से अदृश्य करारोपण जैसा ही होता है क्योंकि वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में वृद्धि हो जाती है, जिससे लोगों की क्रयशक्ति कम हो जाने के कारण

उपभोग क्षमता भी कम हो जाती है, जो अप्रत्यक्ष रूप से करारोपण के समान ही होता है, अत: मुद्रा प्रसार को अन्यायपूर्ण कहा जाता है, क्योंकि लोगों की क्रयशक्ति सरकार के हाथों में पहुंच जाती है।

**(ii)** **कृत्रिम सम्पन्नता** मुद्रा प्रसार इसलिये भी अन्यायपूर्ण माना जाता है, क्योंकि प्रसार के समय लोगों की मौद्रिक आय तो बढ़ती है, परन्तु मूल्यस्तर बढ़ने के कारण वास्तविक आय में वृद्धि नहीं होती, अत: एक प्रकार से यह सम्पन्नता अस्थायी होती है। जब सरकार मुद्रा प्रसार को नियंत्रित करने के लिए प्रयास करती है तब कीमतों में कमी आने लगती है और मुद्रा संकुचन के प्रभाव अर्थव्यवस्था में दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

**(iii)** **आर्थिक विषमता** मुद्रा प्रसार के समय अमीरों के लाभ में तो वृद्धि होती है, परन्तु निर्धन और अधिक निर्धन होते जाते है, जिससे समाज में आर्थिक असमानता उत्पन्न होती है। धन के इस असमान वितरण से समाज में निर्धन वर्ग की स्थिति कमजोर हो जाती है।

(iv) **नैतिक पतन** मुद्रा प्रसार के समय समाज में नैतिक पतन को बढ़ावा मिलता है, उत्पादक व व्यापारी मुनाफाखोरी व चोर बाजारी से अपने लाभ को बढ़ाने में सफल होते हैं और अधिकारी भ्रष्ट हो जाते हैं जिससे चोरी, डकैती, आत्महत्याएं, वैश्यावृति आदि अनैतिक कार्यो को प्रोत्साहन मिलता है।

(v) **सामाजिक विघटन** मुद्रा प्रसार के समय मध्यम वर्ग का जीवन दूभर हो जाता है क्योंकि आय के मुकाबले व्यय बढ़ जाता है, बचतें समाप्त हो जाती है और अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है, तथा सामाजिक विघटन को जन्म मिलता है। जर्मनी की प्रथम विश्वयुद्ध के समय यही दुर्दशा हुई थी।

अत: मुद्रा प्रसार आर्थिक, सामाजिक, नैतिक एवं राजनैतिक दृष्टि से अनुचित व खतरनाक है।

- **मुद्रा संकुचन अनुपयुक्त है**

कीन्स ने जहाँ मुद्रा प्रसार को अन्यायपूर्ण कहा है, वहीं मुद्रा संकुचन को अनुपयुक्त बतलाया है। क्योंकि संकुचन भी देश व अर्थव्यवस्था के लिए घातक परिणाम प्रदान करती है मुद्रा संकुचन में निम्न प्रमुख दोष देखने को मिलते हैं :-

(1) **लाभ की अपेक्षा हानियाँ अधिक** यद्‌यपि मुद्रा संकुचन के समय मूल्य कम होने से निश्चत आय वाले उपभोक्ताओं को, ऋणदाताओं तथा श्रमिक वर्ग को लाभ होता है, परन्तु जब उत्पादक हानि उठाने के कारण उत्पादन या तो बन्द कर देते हैं, या कम कर देते हैं तो बेरोजगारी में वृद्धि होती है और उपभोक्ताओं को लाभ के स्थान पर हानि अधिक होती है, क्योंकि परिवार के कुछ सदस्य बेरोजगार हो जाते हैं। अत: लाभ कल्पना बनकर रह जाती है।

(2) **अर्थव्यवस्था का अस्त-व्यस्त होना** मुद्रा संकुचन इसलिये भी अनुपयुक्त है क्योंकि जब मुद्रा संकुचन प्रारम्भ होता है तो उसका प्रभाव अर्थव्यवस्था पर इतनी तेजी से पड़ता है कि अर्थव्यवस्था खोखली हो जाती है। उत्पादन के साधन लगभग नष्ट प्राय हो जाते हैं, और आर्थिक क्रियाएँ मन्द पड़ जाती है। संक्षेप में मुद्रा संकुचन का दौर अगर एक बार प्रारम्म हो गया हो इस पर नियंत्रण पाना कठिन हो जाता है। अमेरिका की आर्थिक मन्दी इसका उदाहरण है।

(3) **अत्यधिक नैतिक पतन** मुद्रा संकुचन के समय आय के स्त्रोत लगभग बन्द से हो जाते हैं, जिससे समाज में नैतिक पतन अधिक तेजी से फैलता है।

इस प्रकार मुद्रा संकुचन के समय निराशा व मन्दी का वातावरण व्याप्त हो जाता है। गिरते हुए मूल्यों के कारण उत्पादन ह्रास, बेरोजगारी में वृद्धि, आर्थिक विकास का अवरूद्ध हो जाना, राजनैतिक अस्थिरता आदि विभिन्न समस्याओं उत्पन्न हो जाती है, तथा समूचा राष्ट्र आर्थिक एवं राजनैतिक कठिनाइयों के जाल में उलझकर रह जाता है।

अत: यद्‌यपि अर्थव्यवस्था के लिये मुद्रा प्रसार एवं मुद्रा संकुचन दोनों ही बुरे हैं, परन्तु मुद्रा संकुचन मुद्रा प्रसार की अपेक्षा अधिक खतरनाक व अनुपयुक्त हैं इस प्रकार इन दोनों में से किसी एक को चुनना हो तो मुद्रा प्रसार ही अधिक उपयुक्त होगा यद्‌यपि मुद्रा संकुचन की अपेक्षा मुद्रा प्रसार अच्छा है, परन्तु सब से अच्छी नीति किसी प्रकार की स्फीति या संकुचन का न होना है। एक राष्ट्र के लिए आर्थिक विकास के साथ मूल्य स्तर में स्थिरता बनाये रखना ही सबसे अच्छी आर्थिक नीति है।

## 3.5 मुद्रा अपस्फीति (Dis-Inflation)

मुद्रा अपस्फीति मुद्रा प्रसार में सुधार की नीति है। जब देश में मुद्रा-प्रसार की दशा उत्पन्न हो जाती है तो मूल्य स्तर को सामान्य स्तर पर काने के लिये मुद्रा की मात्रा में क्रमश: कमी की जाती है। इस प्रक्रिया को ही मुद्रा उपस्फीति के नाम से जाना जाता है। मुद्रा उपस्फीति मुद्रा संकुचन की ही तरह है और इसे क्रियान्वित करने के लिए प्राय: मुद्रा संकुचन की ही रीतियाँ काम में लाई जाती हैं। मुद्रा संकुचन और अपस्फीति दोनों का उद्देश्य वस्तुओं के मूल्यों और मुद्रा की मात्रा में कमी लाना होता है, परन्तु संकुचन में मुद्रा की मात्रा आवश्यकता से भी कम कर दी जाती है, जब कि उपस्फीति में मुद्रा की मात्रा को एक असामान्य ऊँचे स्तर से कम करके धीरे- धीरे सामान्य स्तर पर लाने का प्रयास किया जाता है। कालबोर्न के अनुसार, ' 'कीमतों आय और व्यय में जो भी गिरावट लाभकारी होगी वह अपस्फीति कहलाएगी। '

यदि मुद्रा अपस्फीति एक सीमा के बाद भी जारी रहती है, तो वह मुद्रा संकुचन का रूप धारण। कर लेती है।

- **मुद्रा संकुचन और मुद्रा अपस्फीति में अन्तर**
  **(Distinction Between deflation and dis-Inflation)**

मुद्रा संकुचन तथा मुद्रा अपस्फीति में निम्न अन्तर है :

(1) **उद्देश्य में अन्तर** मुद्रा संकुचन देश में मंदी की स्थिति पैदा कर देता है जबकि मुद्रा अपस्फीति मूल्य स्तर को सामान्य अवस्था में करने के लिए प्रयोग किया जाता है।

(2) **प्रभाव सम्बन्धी भेद** मुद्रा संकुचन में उत्पादन के कम हो जाने से देश में बेरोजगारी बढ़ जाती है और चारों ओर मन्दी का वातावरण उत्पन्न हो जाता है, परन्तु मुद्रा अपस्फीति में ऐसे दोष नहीं पाए जाते।

(3) **स्वाभाविक अथवा योजनाबद्ध** मुद्रा संकुचन प्राय: स्वत: पैदा हो जाता है, परन्तु मुद्रा अपस्फीति सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा एक निर्धारित नीति के द्वारा सक्रिय कदम उठाकर कृत्रिम रूप से की जाती है।

(4) **परिणाम** मुद्रा संकुचन के परिणाम घातक होते हैं, क्योंकि व्यवसाय और कारखाने लगभग बन्द होने लगते हैं, और अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी फैल जाती है, जबकि मुद्रा अपस्फीति के परिणाम स्वरूप देश में सामान्य वातावरण का निर्माण होता है।

सारांश में यह कहा जा सकता है कि मुद्रा-संकुचन देश के लिए हानिकारक होती है, जबकि मुद्रा अपस्फीति देश की अर्थव्यवस्था को सुधारने के लिये प्रयोग में लाई जाती है।

## 3.6 मुद्रा संस्फीति (Reflation)

मुद्रा संकुचन के प्रभावों को दूर करने के लिये जब नियंत्रित मुद्रा-प्रसार किया जाता है तो उसे मुद्रा-संस्फीति कहते हैं। मुद्रा संकुचन के कारण उत्पन्न हुई मूल्यों की गिरावट व बेरोजगारी को सुधारने के लिए मुद्रा और साख की मात्रा में वृद्धि करके वस्तुओं के मूलों में वृद्धि लाने का जो कार्य किया जाता है, उसे मुद्रा संस्फीति कहते है। प्रो. जी. डी. एच कोल के अनुसार, ' 'जब मन्दी के प्रभाव को दूर करने के लिए जान-बूझकर मुद्रा प्रसार किया जाता है, तो उसे मुद्रा संस्फीति कहते हैं।" मुद्रा स्फीति और

मुद्रा संस्फीति दोनों मुद्रा की मात्रा और साख की मात्रा में वृद्धि के कारण उत्पन्न स्थिति हैं। दोनों से मूल्यों में वृद्धि होती है, परन्तु मुद्रा-संस्फीति जान-बूझकर अर्थव्यवस्था में गति लाने के लिए की जाती है, जबकि मुद्रा स्फीति प्राय: परिस्थिति जन्य होती है।

### (1) मुद्रा-संस्फीति एवं मुद्रा-स्फीति में अन्तर (Difference between Reflation and Inflation)

मुद्रा-संस्फीति और मुद्रा-स्फीति दोनों में प्रमुख अन्तर निम्न हैं :-

**(i)** **उद्देश्य में अन्तर** मुद्रा संस्फीति का उद्देश्य कीमतों को सामान्य स्तर पर लाना होता है, परन्तु मुद्रा स्फीति का आरम्भ ही तब होता है जब कीमतें सामान्य स्तर से ऊपर उठ जाती है।

**(ii)** **प्रभाव में अन्तर** मुद्रा संस्फीति से अर्थव्यवस्था में संतुलन की स्थिति उत्पन्न होती है जब कि स्फीति के कारण मूल्यों में वृद्धि होती है, जिससे मंहगाई की दर बढ़ जाती है और मूल्य वृद्धि के कारण जनता मंहगाई की मार झेलने के लिए विवश हो जाती है। अत: मुद्रा संस्फीति के परिणाम क्रियात्मक होते हैं, परन्तु मुद्रा स्फीति के परिणाम विनाशकारी व घातक होते है, जिससे अर्थव्यवस्था अस्त व्यस्त हो जाती है।

संक्षेप में मुद्रा संस्फीति देश की अर्थव्यवस्था के लिये सुखद व लाभ दायक होती है, जबकि निरन्तर बढ़ती हुई मुद्रा स्फीति अर्थव्यवस्था के लिए घातक व हानिकारक होती है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि कीमत-स्तर में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन हो सकते हैं। जब कीमतें निरन्तर तीव्र गति से बढ़ती रहती है तब इसे मुद्रा-प्रसार या स्फीति कहा जाता हैं जब मुद्रा स्फीति को कम करने के लिये किये जाने वाले प्रयासों से कीमतों में कमी होने की प्रवृत्ति होती है तब इसे मुद्रा अपस्फीति कहा जाता है। जब कीमत स्तर लगातार तेजी से घटने की प्रवृत्ति रखता है तो इसे मुद्रा संकुचन के नाम से जाना जाता है। कीमतों में इस प्रकार तेजी से गिरने की प्रवृति को रोकने के लिये जो प्रयत्न किये जाते है, जिससे कीमतों में कुछ वृद्धि होने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है तो उसे मुद्रा संस्फीति कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अर्थव्यवस्था में मुद्रा स्फीति एवं मुद्रा संकुचन दोनों ही स्थितियाँ उत्पन्न होने से, असंतुलन व अस्तव्यस्तता उत्पन्न होती है, जबकि मुद्रा अपस्फीति और मुद्रा संस्फीति का प्रयोग करने से अर्थव्यवस्था में संतुलन की स्थिति बनती है, जो देश के लिए हित कर होती है। उपर्युक्त वर्णित मुद्रा-स्फीति, मुद्रा-संकुचन, मुद्रा-अपस्फीति एवं मुद्रा-संस्फीति को निम्न रेखाचित्र से भली भांति स्पष्ट किया जा सकता है।

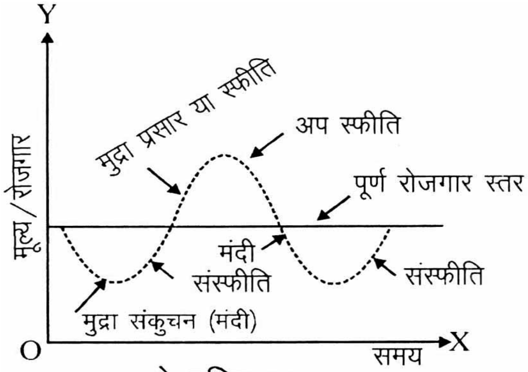

रेखाचित्र 3.2

प्रस्तुत रेखाचित्र 3.2 में मुद्रा प्रसार, मुद्रा संकुचन या मुद्रा विस्फीति, मुद्रा अपस्फीति तथा मुद्रा संस्फीति को स्पष्ट रूप से समझाने का प्रयास किया गया है। जब पूर्ण रोजगार के स्तर से कीमतें ऊपर बढ़ती हैं, तो उसे मुद्रा प्रसार या मुद्रा स्फीति कहा जाता है। परन्तु जब बढ़ते हुऐ मूल्यों को कृत्रिम उपायों के द्वारा कम करने का प्रयास किया जाता है, तब वह दशा मुद्रा अवस्फीति की होती है। इसी प्रकार पूर्णरोजगार की रेखा से जब मूल्य स्तर तेजी से नीचे गिरता है, तब उसे मुद्रा संकुचन कहते है। इस संकुचन के दुष्प्रभावों से मुक्ति हेतु जब प्रयास किये जाते है, जिससे अर्थव्यवस्था में पुन: गति उत्पन्न होती है, और मूल्य पूर्णरोजगार के स्तर तक बढ़ते है तो इस स्थिति को मुद्रा संस्फीति की संज्ञा दी जाती है।

## 3.7 मांग-प्रेरित स्फीति एवं लागत-वृद्धि स्फीति (Demand-Pull Inflation and Cost-Push Inflation)

मुद्रा का मूल्य सामान्य रूप से परिवर्तित होता रहता है। इस परिवर्तन से देश में उपभोग, उत्पादन, वितरण और रोजगार पर प्रभाव पड़ता है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में कीमतों में उतार चढ़ाव एक सामान्य घटना है। तेजी के समय वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें बढने लगती है, जबकि मन्दी काल में वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें गिरने लगती है। कीमत स्तर में इस प्रकार के होने वाले परिवर्तनों से अर्थव्यवस्था में अस्थिरता उत्पन्न हो जाती हैं मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन दो दशाओं में होता है, जब मूल्य स्तर में वृद्धि अर्थात् मुद्रा के मूल्य में कमी आती है तब इसे मुद्रा-प्रसार कहते हैं, इसके विपरीत जब सामान्य मूल्य स्तर में कमी होने से मुद्रा के मूल में वृद्धि होती है तो इसे मुद्रा-संकुचन कहा जाता है। सामान्य रूप से मुद्रा प्रसार एवं मुद्रा संकुचन का विस्तृत अध्ययन हम पिछले अध्ययाय में कर चुके हैं।

हम यहां मांग प्रेरित मुद्रा स्फीति का अध्ययन करेंगे क्योंकि मांग प्रेरित मुद्रा स्फीति का सिद्धान्त मूल्य वृद्धि का प्राचीनतम सिद्धान्त है।

### 3.7.1 मांग प्रेरित स्फीति का अर्थ (Meaning of Demand-Pull Inflation)

मांग प्रेरित स्फीति वस्तुओं और सेवाओं की मांग में अत्यधिक वृद्धि हो जाने के कारण उत्पन्न होती है। वर्तमान मूल्य पर वस्तुओं और सेवाओं की कुल मांग इनकी कुलपूर्ति से अधिक होती है, जिससे कीमतों में वृद्धि होती है। संक्षेप में इस सिद्धान्त के अनुसार अत्यधिक मुद्रा बहुत कम वस्तुओं का पीछा करती है। मांग प्रेरित मुद्रा स्फीति की दशा में वस्तुओं और सेवाओं की कुल मांग में वृद्धि होती है, रोजगार में वृद्धि होती है, परन्तु कुल मांग की तुलना में उत्पादन कम बढ़ने के कारण कीमतों में वृद्धि होने लगती हैं इसकी कुछ परिभाषायें निम्न प्रकार से दी गई है।

- **परिभाषाएँ**
  - **प्रो. पीटरसन के शब्दों में,** ' 'मुद्रा-स्फीति का कारण वर्तमान कीमतों पर उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति की तुलना में मांग का अधिक होना है। "
  - **प्रो. शेयिरों के शब्दों में,** ' 'मांग प्रेरित मुद्रा स्फीति की दशा में कीमत स्तर इसलिये बढ़ जाता है, क्योंकि वर्तमान कीमतों पर वस्तुओं तथा सेवाओं की मांग उपलब्ध पूर्ति से बढ़ जाती है।"

यह सिद्धान्त मुद्रा परिभाषा सिद्धान्त पर आधारित है, जिसमें कुल पूर्ति को स्थिर मानकर अर्थव्यवस्था में पूर्णरोजगार मान किया जाता है, अत: इस स्थिति में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने पर वस्तुओं की मांग में वृद्धि हो जाती है, परन्तु पूर्ण रोजगार की स्थिति होने की दशा में उत्पादन में वृद्धि न हो सकने के कारण वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि होना सम्भव नहीं हो पाता, जिससे वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगती है। पूर्णरोजगार की स्थिति में उत्पादन में वृद्धि नहीं हो पाती, अत: केवल मांग में ही वृद्धि होने से कीमतों में होने वाली वृद्धि को मांग प्रेरित स्फीति कहा जाता है।

### 3.7.2 मांग प्रेरित स्फीति के कारण (Causes of Demand-Pull Inflation)

मांग प्रेरित मुद्रा स्फीति किन कारणें से उत्पन्न होती है, इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपने विचार प्रस्तुत किया है:

(i) **मुद्रा की मात्रा में होने वाली वृद्धि** प्रो. फिशर तथा उनके अनुयाइयों के अनुसार अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति के पश्चात मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से कीमत स्तर में वृद्धि हो जाती है। अत: मुद्रा की मात्रा में होने वाली वृद्धि के कारण ही मांग प्रेरित स्फीति की स्थिति उत्पन्न होती है।

(ii) **कीन्स का मत** प्रो. कीन्स ने स्पष्ट किया है कि जब अर्थव्यवस्था में वस्तुओं और सेवाओं की कुल मांग कुल पूर्ति से अधिक हो जाती है तो कीमतों में वृद्धि होने लगती है। उपभोग व्यय एवं विनियोग में वृद्धि से कीमतें बढ़ने लगती है क्योंकि समाज की कुल मांग उसकी उपभोग व्यय एवं विनियोग के योग के बराबर होती है।

(iii) **आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार** इन विद्वानों के अनुसार मांग प्रेरित मुद्रा स्फीति की स्थिति मुद्रा की पूर्ति में अत्यधिक वृद्धि के कारण उत्पन्न होती है। मांग प्रेरित मुद्रा स्फीति को चित्र के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है।

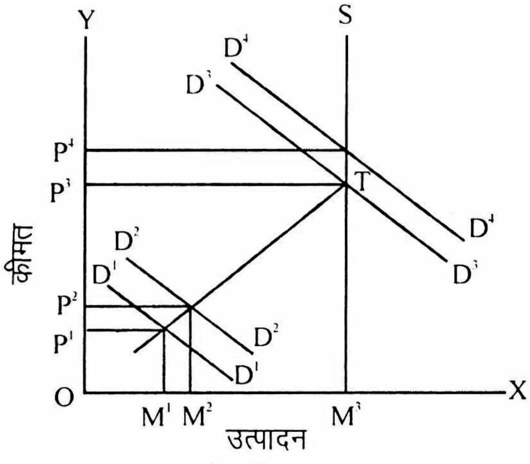

रेखाचित्र 3.3

प्रस्तुत चित्र में OX अक्ष पर वस्तु का उत्पादन एवं OY अक्ष पर कीमतों को दर्शाया गया है। वक्र $D^1 D^1$,$D^2 D^2$,$D^3 D^3$ एवं $D^4 D^4$ मांग में होने वाले परिवर्तनों को दर्शाते हैं। S S पूर्ति वक्र है जो बिन्दु T पर लोचदार है, एवं यह दर्शाता है कि मांग बढ़ने पर उत्पादन में वृद्धि T बिन्दु तक होती है, परन्तु इसके बाद मांग बढ़ने पर उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं होती और T बिन्दु के बाद पूर्ति

वक्र पूर्णत: बेलोचदार होने का यही प्रमुख कारण है। पूर्ण रोजगार बिन्दु के पूर्व मांग में वृद्धि होने पर उत्पादन तथा कीमत दोनों में ही वृद्धि होती है, परन्तु पूर्णरोजगार की स्थिति के बाद मांग में वृद्धि होने पर केवल कीमतों में ही वृद्धि होती है। उत्पादन में वृद्धि नहीं होती, जो मुद्रा प्रसार की स्थिति को स्पष्ट करता है। इस प्रकार कीन्स के अनुसार मुद्रा स्फीति पूर्ण रोजगार के बिन्दु के पश्चात कुल मांग का कुल पूर्ति में अधिकता का परिणाम होती है।

### 3.7.3 लागत वृद्धि स्फीति का अर्थ (Meaning of Cost-Push Inflation)

वस्तुओं की उत्पादन लागतों में जैसे मजदूरी एवं लाभ में वृद्धि के फलस्वरूप जो मुद्रा स्फीति अर्थात कीमतों में जो वृद्धि होती है, उसे लागत प्रेरित स्फीति कहा जाता है। इसको लागत वृद्धि स्फीति भी कहते है। इस स्थिति में अर्थव्यवस्था में जहां एक ओर कीमतों में वृद्धि होती है, वहीं दूसरी ओर रोजगार तथा उत्पादन में कमी हो जाती है, जब कि मांग प्रेरित स्फीति में कीमतें बढ़ने के साथ-साथ उत्पादन तथा रोजगार में भी वृद्धि होती है। लागत प्रेरित स्फीति का मुख्य कारण श्रमिकों की उत्पादकता की तुलना में उनकी मजदूरी में अधिक तेजी से वृद्धि होती है। मजदूरी और लाभ में वृद्धि के कारण कीमतों में वृद्धि होती है, उसे लागत प्रेरित स्फीति कहा जाता है। सन् 1970 के दशक से इसे कीमतों में वृद्धि का मुख्य कारण माना जाने लगा है। इसको नई स्फीति के नाम से भी जाना जाता है। इसकी प्रमुख परिभाषाएं निम्न लिखित हैं :-

- **परिभाषाएँ**

लागत वृद्धि स्फीति या लागत प्रेरत स्फीति की परिभाषाएँ विभिन्न विद्वानों ने निम्न प्रकार से दी है.

- **प्रो. ए.एस. कैम्पना के अनुसार,** "लागत प्रेरित स्फीति लागतों में होने वाली वृद्धि के कारण उत्पन्न होती है। इस स्थिति में कुल मांग अपर्याप्त होती है, साधन बेरोजगार होते है तथा उत्पादन क्षमता आवश्यकता से अधिक होती है।"
- **रेनलर्ट के अनुसार,** ' 'लागत प्रेरित स्फीति में श्रम तथा व्यापार दोनों में संगठित समूह अपनी वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमत सामान्य प्रतिस्पर्धा बाजारों में प्रचलित कीमतों से ऊँची रखते हैं।"
- **पॉल एम. हॉरविट्ज के अनुसार,** ' 'लागत वृद्धि या लागत प्रेरित स्फीति उस समय उत्पन्न होती है जब लागत में वृद्धि होने के कारण फर्में वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि कर देती है यद्यपि मौलिक कीमत पर उस वस्तु की मांग में कोई वृद्धि नहीं हुई है। '

इस प्रकार की कीमत वृद्धि के लिए प्राय: मजदूरी की दर में वृद्धि को उत्तरदायी ठहराया जाता है, परन्तु कभी-कभी लाभ के हिस्से में वृद्धि भी इस प्रकार की स्फीति को जन्म देती हैं।

परिभाषाओं के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि लागत-प्रेरित स्फीति उत्पादन के साधनों की लागत में वृद्धि के कारण उत्पन्न होती है, जबकि अर्थव्यवस्था में साधन बेरोजगार होते हुए उत्पादन क्षमता पर्याप्त होती है। लागत वृद्धि स्फीति को निम्न चित्र की सहायता से अधिक अच्छे ढंग से समझा जा सकता है।

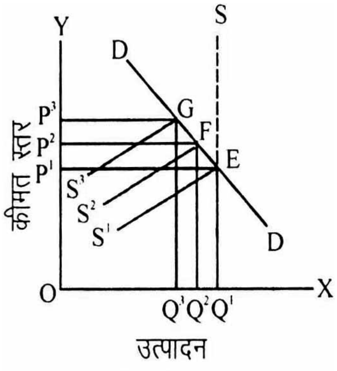

रेखाचित्र 3.4

उक्त रेखाचित्र 3.4 में OX पर उत्पादन OY पर कीमत स्तर दर्शाया गया है। मजदूरी बढ़ने से लागतों में वृद्धि होती है तो पूर्ति वक्र बाई ओर ऊपर की ओर खिसकता है जो $S^1$ $S^2$ और $S^3$ से स्पष्ट होता है। DD मांग वक्र है। $S^1$ पूर्ति वक्र मांग वक्र DD को E बिन्दु पर काटता है, जहां पर कीमत $OP^1$ तथा उत्पादन $OQ^1$ है। लागत में वृद्धि होने से पूर्ति वक्र ऊपर की ओर खिसक कर $S^2$ हो जाता है, जो मांग वक्र को F बिन्दु पर काटता है जहां उत्पादन घट कर $OQ^2$ हो जाता है, तथा कीमत बढ़कर $OP^2$ हो जाती है। अब और अब यदि और अधिक लागत में वृद्धि होती है तो पूर्ति वक्र $S^3$ हो जाता है, जो मांग वक्र को G बिन्दु पर काटेगा। इस स्थिति में कीमत बढ़ कर $OP^3$ एवं उत्पादन घटकर $OQ^3$ हो जाता है। पूर्ण रोजगार का उत्पादन बिन्दु $Q^1$ है, जिसके बाद पूर्ति वक्र पूर्णत: बेलोचदार हो जाता है जिसे ES खड़ी बिन्दु रेखाओं द्वारा दर्शाया गया है।

### 3.7.4 लागत वृद्धि स्फीति के कारण (Causes for Cost-Push Inflation)

अपूर्ण प्रतियोगी बाजारों के कारण लागत वृद्धि स्फीति सम्भव हो सकी है। इसके मुख्य कारण निम्न है:-

(1) **मौद्रिक मजदूरी में वृद्धि** उत्पादन के कार्य में मजदूरों की अहम भूमिका होती है। उत्पादन के साधनों को उनकी सीमान्त उत्पादन क्षमता के आधार पर पारिश्रमिक निश्चित होता है, परन्तु जब श्रमिकों की उत्पादकता की तुलना में उनकी मौद्रिक मजदूरी में अधिक तेजी से वृद्धि होती है तो लागत वृद्धि नियम परिलक्षित होता है। श्रम संघों की सशक्तता के कारण मजदूरों की कार्यक्षमता में बिना किसी प्रकार की वृद्धि के ही मजदूरी बढ़वाने में सफल हो जाते है, भले ही वस्तुओं की मांग में कोई वृद्धि न हुई हो। मजदूरी बढ़ने से उत्पादन लागत में भी वृद्धि हो जाती है, जिससे उत्पादक वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि कर देते है। वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि होने पर श्रम संघ पुन: मजदूरी में वृद्धि की मांग करते हैं, जिससे मजदूरी बढ़ने और लागत बढ़ने में लागत वृद्धि या लागत प्रेरित स्फीति उत्पन्न हो जाती है।

वस्तुओं की कीमतों में यह वृद्धि सभी क्षेत्रों को प्रभावित करती है क्योंकि एक क्षेत्र का उत्पादन दूसरे क्षेत्र के लिये कच्चे माल का काम करता है, और धीरे-धीरे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में लागत प्रेरित स्फीति का जाल फैल जाता है।

(2) **लाभ में वृद्धि** उत्पादन के कार्य में एकाधिकार प्राप्त होने के कारण व्यापारिक संस्थाएँ वस्तु की कीमत, मजदूरी की दर में वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादन लागत में हुई वृद्धि से कीमतें अधिक बढ़ा

देती है, ताकि उनके काम में वृद्धि हो सके। इसका परिणाम यह होता है कि अर्थव्यवस्था में स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है।

(3) **कच्चे माल की लागत में वृद्धि** जब प्रमुख कच्चे माल जैसे- कोयला, लोहा एवं पेट्रोल आदि अन्तरराष्ट्रीय बाजार एवं घरेलू बाजार में महंगे हो जाते हैं, तो उत्पादन लागतों में मत: वृद्धि हो जाती है, जिसके फलस्वरूप निर्मित वस्तुओं की कीमतें अपने आप बढ़ जाती है। जैसे हाल ही में पेट्रोलियम की कीमतों में वृद्धि उत्पन्न हो गई। हाल ही में भारत में मुद्रा प्रसार व मूल्य स्तर में हुई वृद्धि से सामान्य वर्ग पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है।

### 3.7.5 मांग प्रेरित एवं लागत वृद्धि स्फीति में अन्तर

### (Difference Between Demand-Pull Inflation and cost Push Inflation)

- **मांग प्रेरित एवं लागत -प्रेरित स्फीति में** अन्तर को हम निम्न प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं :-
  (1) मांग प्रेरित स्फीति का मूल कारण मांग में वृद्धि का होना है, जबकि लागत प्रेरित स्फीति का मुख्य कारण मौद्रिक मजदूरी में वृद्धि होने से लागतों में वृद्धि का होना है।

  (2) अर्थ व्यवस्था में पूर्ण रोजगार की अवस्था आ जाने पर मांग प्रेरित स्फीति उत्पन्न होती है, जबकि लागत प्रेरित स्फीति उत्पन्न होने का कारण मजदूरों की मौद्रिक मजदूरी में वृद्धि का होना है।

  (3) मांग प्रेरित स्फीति सार्वजनिक व्यय की पूर्ति हेतु बढ़ाई गई मुद्रा की मात्रा के कारण उत्पन्न होती है, जबकि लागत प्रेरित स्फीति अपूर्ण बाजार के कारण उत्पन्न होती है।

  (4) मांग प्रेरित स्फीति का नियंत्रण उत्पादन वृद्धि अथवा मांग में कमी करके किया जा सकता है, जबकि लागत प्रेरित स्फीति को नियंत्रण करने के लिए मजदूरों की मजदूरी पर नियंत्रण आवश्यक है, साथ ही बाजार की अपूर्णताओं को दूर करना भी अनिवार्य होता है।

  मांग-प्रेरित एवं लागत प्रेरित स्फीति में उपरोक्त अन्तर होते हुए भी दोनों को समझा पाना अत्यन्त कठिन है। अत: संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यदि कीमतें पहले बढ़ती है तो इसे मांग प्रेरित स्फीति और इसके बाद मजदूरी में वृद्धि होती है तो उसे लागत प्रेरित स्फीति समझना चाहिए।

### 3.7.6 निष्पन्द स्फीति अथवा गति हीन-स्फीति (Stagflation)

वर्तमान समय में मुद्रा प्रसार सब से बडी आर्थिक समस्या है। स्टेगफ्लेशन (Stagflation) शब्द दो शब्दों स्टेगनेशन (Stagflation) एवं इनफ्लेशन (Inflation) से मिलकर बना है, जो इस बात का परियाचक है कि अर्थव्यवस्था में एक ओर तो कीमतें बढ़ती है एवं दूसरी ओर आर्थिक विकास अवरूद्ध होकर अर्थव्यवस्था में निष्क्रियता एवं जड़ता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अर्थ शास्त्र की भाषा में इस स्थिति को ही गतिहीन मुद्रा स्फीति की स्थिति कहा जाता है।

इस प्रकार अर्थव्यवस्था में निष्पन्द स्फीति तब देखने को मिलती है जब मन्दी तथा बेरोजगारी में वृद्धि के साथ कीमतों में भी वृद्धि देखने को मिलती है। गति- हीन स्फीति की दशा में मंहगाई के साथ बेरोजगारी भी बढ़ती है और व्यापारियों को अपना माल बेचने में कठिनाई होती है।

अत: संक्षेप में कहा जा सकता है कि निष्पन्द स्फीति (Stagflation) में मुद्रा स्फीति, महँगाई, उत्पादन में जड़ता एवं बेरोजगारी अर्थव्यवस्था में साथ-साथ दृष्टिगोचर होते हैं।

**बोध प्रशन-02**

1. मांग प्रेरित स्फीति तथा लागत वृद्धियाँ, लागत प्रेरित स्फीति में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
2. मांग प्रेरित स्फीति एवं लागत प्रेरित स्फीति के कारणों तथा परिणाम को समझाइये।
3. मांग प्रेरित स्फीति और लागत प्रेरित स्फीति को नियंत्रित करने के लिए अपनाई जाने वाली नीतियों का वर्णन कीजिए।

## 3.8 फिलिप्स वक्र (The Phillips Curve)

**रोजगार और स्फीति में सम्बन्ध (Relation between Employment and Inflation) :-** अर्थशास्त्री ए.डब्ल्यू. फिलिप्स (A.W.Phillips) ने अपने अनुभवों के आधार पर 1881 से 1957 के मध्य ब्रिटेन में मजदूरी तथा बेरोजगारी के मध्य विपरीत सम्बन्ध को देखते हुए अनुभव के आधार पर मजदूरी, कीमत, एवं बेरोजगारी को स्पष्ट करने हेतु एक वक्र का निर्माण किया, जिसे फिलिप्स-वक्र के नाम से जाना जाता है। अर्थशास्त्री फिलिप्स ने ब्रिटेन के ऐतिहासिक आँकड़ों का उपयोग करते हुए 1958 में एक लेख, "The Relation between Unemployment and the rate of change in money wage rates in United Kingdom" प्रकाशित किया।

फिलिप्स ने ब्रिटेन में 1881 से 1957 के मध्य बेरोजगारी के प्रतिशत एवं मौद्रिक मजदूरी की दरों में होने वाले परिवर्तनों के प्रतिशतों से सम्बन्धित आकड़ों का विश्लेषण किया, जिसे बाद में बेरोजगारी की दरों में परिवर्तन एवं मूल्य में परिवर्तनों की दरों में परिवर्तित कर रेखाचित्र के माध्यम से प्रदर्शित किया गया। कुछ समय बाद फिलिप्स वक्र का संशोधित रूप प्रस्तुत किया गया जो मूल्यों में परिवर्तन की दर तथा बेरोजगारी की दर के मध्य सम्बन्ध को दर्शाता है। सन् 1948 के पूर्व मजदूरी बढ़ती भी थी और घटती भी थी, परन्तु बाद में मौद्रिक मजदूरी केवल बढ़ती रही, घटी नहीं। अत: यदि बेरोजगारी कम करनी है तो मुद्रा स्फीति को स्वीकार करना होगा। पूर्ण रोजगार के स्तर पर स्थिरता के दोनो लक्ष्यों को प्राप्त करना कठिन है, अर्थात् यदि कीमत स्थिरता लानी है तो पूर्ण रोजगार की स्थिति नहीं होगी और यदि पूर्ण रोजगार को प्राप्त करना है तो कीमत स्थिरता नहीं आयेगी।

फिलिप्स-वक्र बेरोजगारी की परिवर्तन दर तथा मजदूरी की परिवर्तन दर के विपरीत सम्बन्ध को दर्शाता है। इस विपरीत सम्बन्ध को हम निम्न आधारों पर अध्ययन कर सकते है :-

(1) **मजदूरों की मांग में सामान्य वृद्धि** फिलिप्स के अनुसार, "जब श्रम के लिए मांग अधिक होती है और बेरोजगार कम होते है, तो हमें आशा करनी चाहिए कि मालिक जल्दी जल्दी मजदूरी की दरें बढ़ायेंगे।" अत: बेरोजगारी एवं मजदूरी की दरों में विपरीत सम्बन्ध पाया जायगा।

(2) **प्रबन्धक वर्ग एवं श्रम संघों के मध्य मोलभाव की सापेक्षिक शक्ति का पाया जाना** जब अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी की दर ऊँची होती है तब प्रबन्धकों के मुकाबले में श्रम संघों की मोलभाव करने की शक्ति कम होती है जबकि बेरोजगारी की दर कम होने पर श्रम संघों की मोलभाव करने की शक्ति

प्रबन्धकों की तुलना में अधिक होती है और मजदूरी की दरों में वृद्धि हेतु श्रम संघ प्रबन्धकों को बाध्य कर सकते है।

(3) **व्यापार क्रियाओं में परिवर्तन** जब अर्थव्यवस्था में व्यापारिक क्रियाऐं बढ़ती है तो श्रम की मांग में वृद्धि होती है जिससे बेरोजगारी कम होती है और मजदूरी में वृद्धि होती है जिससे बेरोजगारी कम होती है और मजदूरी में वृद्धि हो जाती है, इसके विपरीत व्यापारिक क्रियायें कम होने की स्थिति में जब श्रम की मांग कम होती है और बेरोजगारी की स्थिति में वृद्धि की स्थिति आ जाती है तब सेवायोजक मजदूरी में की जानेवाली कमी को स्वीकार करने को तैयार नहीं होते, फलस्वरूप सेवायोजक श्रमिकों को कार्य से हटाने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इस प्रकार श्रम बाजार में मन्दी के कारण मजदूरी में थोड़ी सी कटौती बेरोजगारी में अधिक वृद्धि उत्पन्न कर देती है। अत: उपर्युक्त तर्कों के आधार पर फिलिप्स ने यह निकर्ष निकाला कि बेरोजगारी की दरों और मौद्रिक मजदूरी (मुद्रा-स्फीति) में परिवर्तन को जिस रेखा चित्र के माध्यम से दर्शाया जाता है, उसे ही फिलिप्स वक्र के नाम से जाना जाता है।

प्रस्तुत रेखाचित्र 3.5 में OX अक्ष पर बेरोजगारी की दर तथा OY अक्ष पर मुद्रा स्फीति की दर को दर्शाया गया है। चित्र में PC फिलिप्स वक्र है। चित्र में जब मुद्रा स्फीति की दर 10 प्रतिशत है तो बेरोजगारी की दर 3 प्रतिशत हैं परन्तु जब मुद्रा स्फीति की दर 4 प्रतिशत तक कम कर दी जाती है, तो बेरोजगारी की दर बढ़कर 8 प्रतिशत हो जाती है। मौद्रिक मजदूरी की प्रत्येक वृद्धि से स्फीति उत्पन्न नहीं होती। मजदूरी वृद्धि का केवल वही भाग स्फीति कारक होता है जिसका श्रम की उत्पादकता पर कोई अनुकूल प्रभाव नहीं पडता। प्रस्तुत रेखा चित्र फिलिप्स वक्र की गतिविधियों को प्रदर्शित करता है। जिसमें मुद्रा स्फीति की दर और बेरोजगारी की दरों में परिवर्तनों को स्पष्ट किया गया है।

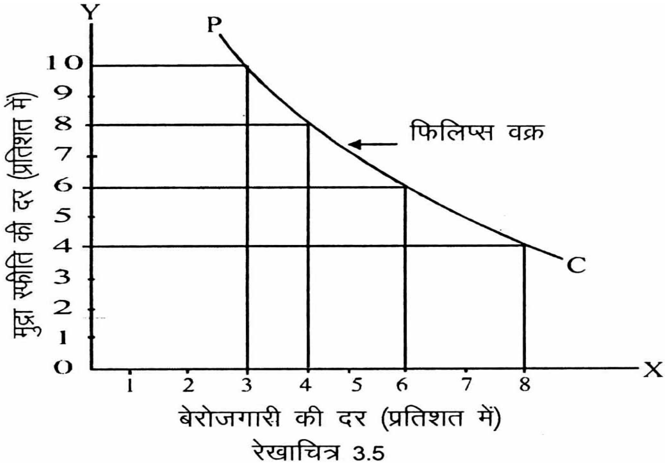

रेखाचित्र 3.5

उपर्युक्त तथ्य एवं रेखा चित्र के स्पष्टीकरण को निकर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मजदूरी प्रेरित अथवा लागत प्रेरित मुद्रा स्फीति से अर्थव्यवस्था को बचाने के लिये समाज को ऊंची दर पर बेरोजगारी को स्वीकार करना पड़ेगा। मजदूरी दर में होने वाली प्रत्येक वृद्धि स्फीति कारक नहीं होती। मजदूरी वृद्धि का केवल वह भाग स्फीति कारक होता है, जिसका श्रम की उत्पादकता पर कोई अनुकूल प्रभाव नहीं पडता। इस तथ्य को रेखाचित्र 3.6 की सहायता से सरलता से समझा जा सकता है। मजदूरी दर में वृद्धि और स्फीति सम्बन्धी रेखाचित्र 3.6 में प्रस्तुत है।

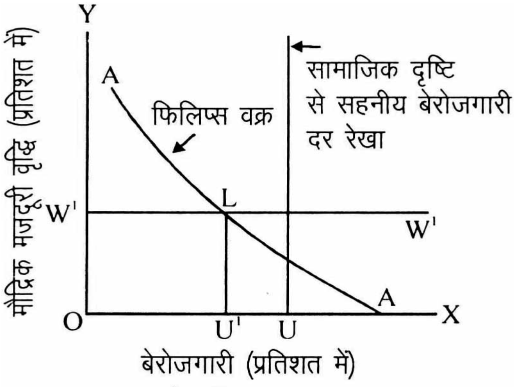

Y
मौद्रिक मजदूरी वृद्धि (प्रतिशत में)
A
फिलिप्स वक्र
सामाजिक दृष्टि से सहनीय बेरोजगारी दर रेखा
L
W'
W'
A
O
U'
U
X
बेरोजगारी (प्रतिशत में)

रेखाचित्र 3.6

प्रस्तुत चित्र में $W^1$ $W^1$ एक काल्पनिक रेखा खींचकर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि मौद्रिक मजदूरी में $W^1$ प्रतिशत वृद्धि होने पर इसी अनुपात में श्रम की उत्पादकता बढ़ेगी, अत: मौद्रिक मजदूरी में वृद्धि गैर स्फीतिक होगी। चित्र में OU बेरोजगारी स्तर को यदि सामाजिक दृष्टि से सहनीय बेरोजगारी की दर को स्वीकार किया जाये तो $W^1$ $W^1$ रेखा फिलिप्स वक्र को L बिन्दु पर काटती है, जो सामाजिक दृष्टि से सहनीय बेरोजगारी दर की रेखा से बांयी ओर स्थित है, तो इसका यह अर्थ होगा कि मजदूरी प्रेरित स्फीति को मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियों को अपनाकर समाप्त किया जा सकता है, तथा अर्थव्यवस्था में सामाजिक दृष्टि से सहनीय बेरोजगारी के प्रवेश को भी रोका जा सकता है। कीमतों में स्थिरता लाने के लिए केवल $U^1$ प्रतिशत बेरोजगारी आवश्यक होगी। बेरोजगारी का यह स्तर समाज को भी ग्राह्य होगा, क्योंकि पूर्व से ही समाज द्वारा स्वीकार्य अधिकतम बेरोजगारी OU प्रतिशत से कम है। अर्थात् समाज में कीमत स्थिरता की प्राप्ति बेरोजगारी की मात्रा को स्वीकार करने के साथ ही प्राप्त किया जा सकता है।

- **फिलिप्स वक्र के नीति विषयक तत्व** फिलिप्स वक्र के नीति सम्बन्धी निहित तत्व निम्न लिखित हैं, इन तत्वों को अधिक महत्वपूर्ण माना जाता हैं, वितरण निम्न हैं :-

**(i) मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियों का उपयोग आवश्यक** मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियों का उपयोग, स्फीति को नियंत्रित करने के लिए बेरोजगारी के ऊँचे स्तरों के बिना किसी सीमा तक प्रयोग में लाई जा सकती है, इस सम्बन्ध में फिलिप्स वक्र अपना सुझाव प्रस्तुत करता है। यह वक्र सुझाव देता है कि जब बेरोजगारी को स्तर दिया हुआ हो तो स्फीति की कितनी दर को सहन किया जा सकता हैं इस तथ्य को हम रेखाचित्र 3.7 से स्पष्ट कर सकते हैं।

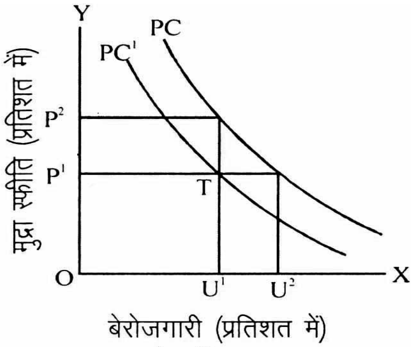

Y
PC
PC'
मुद्रा स्फीति (प्रतिशत में)
P²
P¹
T
O
U¹
U²
X
बेरोजगारी (प्रतिशत में)

रेखाचित्र 3.7

यदि फिलिप्स वक्र PC है, OX अक्ष पर बेरोजगारी प्रतिशत में और OY पर मुद्रा स्फीति (प्रतिशत मे) प्रस्तुत रेखा चित्र में दर्शाया गया है। फिलिप्स वक्र के (PC) स्थिति में या तो कीमत स्तर स्थिर रहेगी अथवा अधिक बेरोजगारी होगी, अर्थात दोनों स्थितियों में से किसी एक को चुनना होगा। फिलिप्स वक्र के आधार पर यह निश्चित किया जात सकता है कि कौन सी मौद्रिक एवं राजकोषीय उपायों को अपनाया जाय। जैसे कि रेखाचित्र 3.7 में $U^1$ बेरोजगारी के स्तर पर यदि मुद्रा स्फीति की $P^2$ दर मेल नहीं खाती, तो ऐसी मौद्रिक नीति अपनाई जानी चाहिए जिससे फिलिप्स वक्र को PC के स्थान से $PC^1$ की स्थिति पर लाया जा सके। इस स्थिति में मुद्रा स्फीति की दर गिर कर $P^2$ के स्थान पर $P^1$ हो जायगी तथा बेरोजगारी का स्तर पूर्ववत ही $U^1$ रहेगा। ऐसा मुद्रा स्फीति की दर में गिरावट के कारण हुआ हैं और यह गिरावट मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियों के परिवर्तन के कारण सम्भव हो सका है।

**(ii) बेरोजगारी की प्राकृतिक दर को घटाना** फ्रीडमैन ने बेरोजगारी की प्राकृतिक दर की व्याख्या करते हुए कहा था कि सार्वजनिक नीति के बेरोजगारी के स्तर को प्रभावित करने की गुंजाइश फिलिप्स वक्र के अनुरूप रहते हुए केवल अल्पकाल में सम्भव है। उन्होंने अनुलम्ब फिलिप्स वक्र के कारण इस सम्भावना को नहीं माना कि बेरोजगारी की दीर्घकालीन दर प्रभावित हो सकती है, परन्तु अधिकांश अर्थशास्त्री फ्रीडमैन की विचार धारा से सहमत नहीं है। उनका मानना है कि श्रम बाजार नीतियों के माध्यम से बेरोजगारी की प्राकृतिक दर घटाई जा सकती है, जिसके फलस्वरूप श्रमबाजार अधिक कुशल बनाया जा सकता है। अत: दीर्घकालीन अनुलम्ब फिलिप्स वक्र को बायीं ओर सरका कर बेरोजगारी की प्राकृतिक घटाई जा सकती है।

फिलिप्स वक्र के उपर्युक्त विवेचन से कुछ प्रमुख निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं जो निम्न हैं.

(i) फिलिप्स ने यह प्रदर्शित किया कि बेरोजगारी तथा मुद्रा स्फीति दोनों साथ-साथ रह सकते हैं, और दोनों सर्वथा अलग नहीं है।

(ii) फिलिप्स वक्र की व्याख्या के दो आधार है (अ) श्रम की अत्यधिक मांग (ब) व्यापार क्रिया की प्रकृति।

(iii) फिलिप्स ने यह प्रदर्शित किया है कि ब्रिटेन में मजदूरी की दिशा बनाए रखने के लिये बेरोजागारी की दर 55 प्रतिशत तथा मूल्य स्थिरता के लिये बेरोजगारी की दर 25 प्रतिशत आवश्यक है।

(iv) फिलिप्स वक्र के अनुसार प्रतिबन्धित मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियों के द्वारा मांग प्रेरित स्फीति को नियंत्रित किया जा सकता है, परन्तु लागत प्रेरित स्फीति को नियंत्रित करने में यह नीतियाँ सफल नहीं होती। मौद्रिक तथा राजकोषीय प्रतिबन्ध पर्याप्त मात्रा में बेरोजगारी सृजित करके (जिससे श्रम की उत्पादकता में वृद्धि के ऊपर मौद्रिक मजदूरी की वृद्धि पूर्णतया समाप्त हो जाय) मजदूरी प्रेरित स्फीति को नियंत्रित कर सकते हैं इसका सीधा अर्थ यह है कि समाज में कीमत स्थिरता को प्राप्त करने के लिए बेरोजगारी की मात्रा को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

## 3.9 सारांश (Summary)

मुद्रा के मूल्य से हमारा अभिप्राय उसकी क्रय राशि से है देश में सामान्य कीमत स्तर बढ़ने पर मुद्रा की इकाई की क्रयशक्ति घट जाती हैं अर्थात् उसका मूल्य कम हो जाता है एवं सामान्य कीमत स्तर घटने पर मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है। अर्थात् देश में सामान्य मूल्य स्तर एवं मुद्रा के मूल्य में विपरीत सम्बन्ध होता है। अर्थव्यवस्था में मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन के कारण देश के उत्पादन, उपभोग, वितरण एवं रोजगार पर प्रभाव पड़ता है। मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त हमें यह बतलाता है कि मुद्रा की मात्रा एवं सामान्य कीमत स्तर में प्रत्यक्ष आनुपातिक सम्बन्ध है। अत: मुद्रा की मात्रा से मूल्यस्तर को प्रभावित कर मुद्रा के मूल को प्रभावित किया जा सकता है। इस इकाई में हमने मुद्रा प्रसार एवं मुद्रा संकुचन का अर्थ कारण एवं प्रभावों का अध्ययन किया। इसके साथ ही मांग जमित एवं लागत प्रेरित स्फीति के बारे में जानकारी प्राप्त की। इकाई के अन्तिम भाग में हमने मुद्रा स्फीति एवं रोजगार के सम्बन्ध में प्रतिपादित फिलिप्स वक्र की अवधारण एवं इसके नीति विषयक तलों की जानकारी प्राप्त की।

## 3.10 शब्दावली (Glossary)

| | |
|---|---|
| मुद्रा प्रसार अथवा मुद्रा स्फीति | Inflation |
| मुद्रा संकुचन अथवा मुद्रा विस्फीति | Deflation |
| मुद्रा अपस्फीति | Disinflation |
| मुद्रा संस्फीति | Reflation |
| मांग प्रेरित स्फीति | Demand Pull Inflation |
| लागत प्रेरित स्फीति | Cost Push Inflation |
| निष्पन्द स्फीति | Stagflation |
| फिलिप्स वक्र | Philips Curve |

## 3.11 संदर्भ ग्रन्थ (References)

G. Halm, : Monetary Theory.

J.D. Khatri, : Money and Banking.

A. C. L. Day, : Out line of Monetary Economics.

S.B. Gupta, : Monetary Theory.

Preeti Singal and Reena Marwah, : Monetary Theory

Dr.V.C.Sinha and Dr.Pushpa Sinha, : Money Banking and Public Finance.

Dr. G.C. Singhai and Dr.J.P.Mishra, : Money Banking and International Economics.

Dr. C.S. Mishra and Jeewan lal Bharadwaj, : Macro Economics and money Banking & International Trade.

Dr. G.S. Singhai, : Unified Economics.

Dr. Anupam Goyal, : Macro Economics and Money Banking & International Trade.

D.H. Robertson, : Money.

Reserve Bank of India: Currency and Finance Reports and Monthly Bulletins.

## 3.12 अभ्यासार्थ प्रशन (Unit-end Questions)

1. "मुद्रा प्रसार अन्याय पूर्ण तथा मुद्रा संकुचन अनुपयुक्त हैं। दोनों में सम्भवत: मुद्रा संकुचन अधिक बुरा है।" स्पष्ट कीजिए।
2. मुद्रा स्फीति क्या है? समाज के विभिन्न वर्गो पर इसका प्रभाव समझाइए।
3. मुद्रा स्फीति को दूर रोकने के लिये सामान्यत: किन उपायों का प्रयोग किया जाता है।
4. मुद्रा स्फीति के कौन-कौन से रूप हैं? स्पष्ट कीजिए।
5. मुद्रा स्फीति को रोकने के उपायों का वर्णन कीजिए।
6. मुद्रा स्फीति तथा मुद्रा संकुचन में अन्तर स्पष्ट कीजिए। मुद्रा संकुचन के कारणों एवं उपचार पर अपने विचार दीजिए।
7. मुद्रा संकुचन के प्रभावों को स्पष्ट कीजिए।
8. मुद्रा संकुचन को रोकने के उपायों का वर्णन कीजिए।
9. मुद्रा अपस्फीति और मुद्रा संस्फीति को समझाइए, तथा दोनों में क्या अन्तर है? स्पष्ट कीजिए।

# इकाई - 04

# मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त, फिशर का समीकरण, कैम्ब्रिज सिद्धान्त, फ्रीडमैन सिद्धान्त

## (Quantity Theory of Money, Fischer's Equation, Cambridge Theory, Friedman's Theory)

**इकाई की रूपरेखा**

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त - फिशर का समीकरण
    4.2.1 मुद्रा की पूर्ति
    4.2.2 मुद्रा की माँग
    4.2.3 मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की मान्यताएं
    4.2.4 मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का समीकरण
    4.2.5 फिशर का समीकरण
    4.2.8 फिशर के समीकरण की आलोचनाएं
    4.2.7 फिशर के सिद्धान्त में सत्यता के अंश
4.3 कैम्ब्रिज सिद्धान्त
    4.3.1 मार्शल का समीकरण
    4.3.2 पीगू का समीकरण
    4.3.3 केन्स का संशोधित समीकरण
    4.3.4 फिशर व कैम्ब्रिज दृष्टिकोणों में समानता
    4.3.5 फिशर व कैम्ब्रिज दृष्टिकोणों में अन्तर
    4.3.6 कैम्ब्रिज सिद्धान्त की आलोचनाएँ
4.4 फ्रीडमैन का मुद्रा परिमाण सिद्धान्त
    4.4.1 फ्रीडमैन के सिद्धान्त के मुख्य तत्व
    4.4.2 फ्रीडमैन के सिद्धान्त की आलोचनाएं
4.5 सारांश
4.6 शब्दावली
4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ
4.8 अभ्यासार्थ प्रशन

## 4.0 उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ सकेगें कि:

- मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त क्या है?
- फिशर के पूर्व परिमाण सिद्धान्त का क्या समीकरण था?
- फिशर के समीकरण की विस्तृत व्याख्या क्या है?
- कैम्ब्रिज सम्प्रदाय के सभी प्रमुख अर्थशास्त्रियों ने सिद्धान्त की व्याख्या किस प्रकार की है?
- फ्रीडमैन ने इस सिद्धान्त का क्या पुनर्विवरण दिया है?

## 4.1 प्रस्तावना (Introduction)

प्रस्तुत इकाई में मुद्रा मूल्य के परिमाण सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा की गई है। मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मुद्रा के मूल्य निर्धारण का सबसे प्राचीन व महत्वपूर्ण सिद्धान्त रहा है। प्राचीन व्यापारवादी लेखकों लॉक, ह्यूम तथा कैन्टिलियन आदि ने सर्वप्रथम इस सिद्धान्त की व्याख्या की थी। परिमाण सिद्धान्त के प्राचीन रूप के अनुसार मुद्रा का मूल्य मुद्रा के परिमाण पर आधारित था व मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन के अनुसार मूल्य तन्त्र में आनुपातिक परिवर्तन होता है। यह परिमाण सिद्धान्त का कठोर रूप है। परिष्कृत रूप में परिमाण सिद्धान्त के दो दृष्टिकोण है जिनका अध्ययन इस इकाई के खण्ड 4.2 व 4.3 में किया गया है -

1. लेन देन दृष्टिकोण जिसका प्रतिपादन अमेरिकी अर्थशास्त्री प्रो0 इरविंग फिशर ने किया है।
2. नकद-शेष दृष्टिकोण जिसकी व्याख्या इंग्लैण्ड के कुछ प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों ने की है।

तत्पश्चात अमेरिकी अर्थशास्त्री मिलन फ्रीडमैन ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को नये रूप में पुर्नस्थापित किया है। इसकी चर्चा भी इस इकाई के खण्ड 4.4 में की गई है। खण्ड 4.5 में सारांश दिया गया है। इकाई के अन्त में शब्दावली, सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची एवं अभ्यासार्थ प्रशन दिये गये हैं।

## 4.2 मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money)

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के अनुसार अन्य बातें समान रहने पर मुद्रा के परिमाण तथा मुद्रा के मूल्य में विपरीत आनुपातिक समन्वय होता है तथा मुद्रा के परिमाण तथा कीमत स्तर में सीधा आनुपातिक सम्बन्ध होता है। मुद्रा के परिमाण व मूल्य में सम्बन्ध के विश्लेषण से पूर्व मुद्रा की पूर्ति व माँग को समझना आवश्यक है।

### 4.2.1 मुद्रा की पूर्ति

इकाई संख्या 2 में आप पढ़ चुके है कि किसी समय विशेष में प्रचलित मुद्रा की कुल मात्रा से है। मुद्रा की पूर्ति में सिक्के, कागजी नोट व बैंकों में चालू जमाओं का समावेश रहता है। किसी समय अवधि में (उदाहरणार्थ एक वर्ष) मुद्रा की कुल पूर्ति ज्ञात करने के लिए कुल मुद्रा के योग में मुद्रा के भ्रमण प्रवाह का गुणा किया जाता है। मुद्रा के भ्रमण प्रवाह से तात्पर्य है कि मुद्रा की एक इकाई एक दिये हुए समय में कितनी बार लेन-देन करती है। प्रो0 रार्बटसन ने मुद्रा की पूर्ति को निष्क्रिय मुद्रा या बैठी हुयी मुद्रा तथा मुद्रा के भ्रमण प्रवाह को सक्रिय मुद्रा या उड़ती हुयी मुद्रा कहा है

### 4.2.2 मुद्रा की मांग

परिमाण सिद्धान्त के लेन-देन दृष्टिकोण के अनुसार मुद्रा की माँग मुद्रा की क्रय शक्ति के कारण की जाती है। मुद्रा के द्वारा वस्तुओं व सेवाओं को क्रय किया जाता है। अत: किसी देश में एक निश्चित अवधि में मुद्रा की माँग वही क्रय की जाने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं की कुल मात्रा पर निर्भर करती है। इसे क्रय विक्रय की कुल मात्रा कहा जा सकता है। मुद्रा की कुल माँग को जानने के लिए बच्चों और सेवाओं की कुल मात्रा व इनके औसत मूल्य को ज्ञात करना होता है।

### 4.2.3 मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की मान्यताएं

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त निम्न मान्यताओं पर आधारित है -

1. अल्पकाल में मुद्रा की माँग स्थिर रहती है।
2. अल्पकाल में मुद्रा का चलन को स्थिर रहता है।
3. मूल्य स्तर एक निष्क्रिय शक्ति है।
4. बैंक जमा तथा मुद्रा में एक निश्चित सम्बन्ध होता है अत: इनके अनुपात में कोई परिवर्तन नहीं होता।
5. वस्तु विनिमय के द्वारा सम्पन्न सौदों में कोई परिवर्तन नही होता।

### 4.2.4 मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का समीकरण

उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन के फलस्वरूप कीमत स्तर में होने वाले परिवर्तन को विनिमय समीकरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। फिशर के पूर्व मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को निम्न समीकरण के रूप में व्यक्त किया जाता था। यह समीकरण एक निश्चित समयावधि से सम्बन्धित है।

$$P = \frac{M}{T}$$

इस समीकरण में P, सामान्य कीमत स्तर M, देश में प्रचलित मुद्रा की मात्रा T, देश में व्यापार हेतु उपलब्ध वस्तुओं व सेवाओं की मात्रा को व्यक्त करता है। आलोचकों ने इस समीकरण को अधूरा माना क्यों कि इसमें मुद्रा के प्रचलन वेग को सम्मिलित नहीं किया गया था। मुद्रा के प्रचलन को सम्मिलित करने पर समीकरण इस प्रकार हो गया-

$$PT = MV \quad \text{Or} \quad P = \frac{MV}{T}$$

यहाँ V मुद्रा के प्रचलन वेग को प्रदर्शित करता है। PT, एक विशेष कीमत स्तर पर उपलब्ध विनिमय योग्य वस्तुएं व सेवायें मुद्रा की माँग है व MV प्रचलित मुद्रा की मात्रा व प्रचलन वेग मुद्रा की पूर्ति है। V तथा T के अल्पकाल में स्थिर होने के कारण M की वृद्धि P को भी समानुपातिक रूप से बढ़ा देगी।

### 4.2.5 फिशर का समीकरण

उपर्युक्त समीकरण को भी अपूर्ण माना गया क्यों कि इसमें मुद्रा की पूर्ति में साख मुद्रा को सम्मिलित नहीं किया गया था । बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अमेरिका में साख मुद्रा विनिमय के

माध्यम के रूप में महत्वपूर्ण रूप से स्थापित हो गयी थी। 1911 में प्रकाशित अपनी पुस्तक The Purchasing Power of Money में इरविंग फिशर ने साख मुद्रा की मात्रा को लेन देन समीकरण में अलग स्थान दिया। उनकी मान्यता थी कि मांग जमा राशियों तथा साख मुद्रा की मात्रा का निर्धारण चलन की मात्रा के द्वारा ही होता है इसलिए चलन तथा साख मुद्रा के मध्य अनुपात स्थिर रहता है तथा चलन मुद्रा की मात्रा दुगनी हो जायेगी। इर्विग फिशर का विनिमय समीकरण निम्न है -

$$PT = MV + M'V' \text{ Or } P = \frac{MV + M'V'}{T}$$

यहाँ M’ साख मुद्रा की मात्रा व V' साख मुद्रा के चलन वेग को व्यक्त करता है। फिशर के समीकरण में MV+M’V’ मुद्रा की पूर्ति तथा PT मुद्रा की माँग के सूचक है। P अर्थात कीमत स्तर एक निष्क्रिय घटक है जो अन्य घटकों के द्वारा निर्धारित होता है। क्योकि P मुद्रा की कुल पूर्ति MV + M'V ' के बराबर है इसलिए P तथा मुद्रा की कुल पूर्ति में सीधा आनुपातिक सम्बन्ध है। फिशर की मान्यता है कि अल्पकाल में V,V' तथा T स्थिर रहते हैं और M तथा M ' के मध्य एक निश्चित अपरिवर्तनशील अनुपात रहता है। अत: मुद्रा की मात्रा तथा सामान्य मूल्य स्तर में प्रत्यक्ष आनुपातिक सम्बन्ध होता है। फिशर लिखते हैं - "अल्पकाल में व्यवसाय तथा मुद्रा द्वारा किया गया कार्य यथा स्थित रहता है क्योंकि इस काल में जनसंख्या में परिवर्तन नहीं होते है। प्रति व्यक्ति उत्पादन में कोई परिवर्तन नहीं होता। उत्पत्ति का जो प्रतिशत उत्पादकों द्वारा उपयोग किया जाता है वह भी यथा स्थिर रहता है क्योंकि इस काल में जनसंख्या में परिवर्तन नहीं होते हैं। प्रति व्यक्ति उत्पादन में कोई परिवर्तन नहीं होता। उत्पत्ति का जो प्रतिशत उत्पादकों द्वारा उपयोग किया जाता है वह भी यथा स्थिर रहता है। वस्तु विनिमय तथा मुद्रा विनिमय के अनुपात में कोई परिवर्तन नहीं होता और मुद्रा का प्रचलन वेग भी नहीं बदलता। इस काल में उत्पादन सम्बन्धी रीतियों तथा लोगों की उपभोग सम्बन्धी आदतें भी लगभग निश्चित रहती है। अत: मुद्रा की माँग स्थिर रहती है। ' इसलिए मुद्रा की मात्रा की प्रत्येक वृद्धि कीमत स्तर को समान रूप से बढ़ा देगी। इस सम्बन्ध को रेखाचित्र 4.1 के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है -

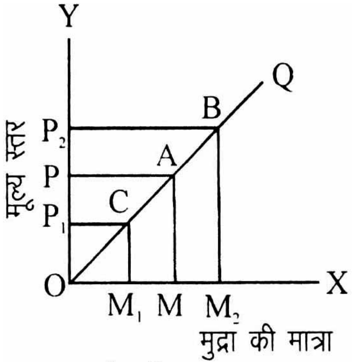

रेखाचित्र 4.1

रेखाचित्र 4.1 में प्रचलित मुद्रा की मात्रा को OX तथा कीमत स्तर को OY अक्ष पर प्रदर्शित किया गया है। प्रारम्भिक मुद्रा मात्रा OM होने पर मूल्य स्तर OP है। जब मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से मुद्रा की मात्रा $OM_2$ हो जाती है तो कीमत स्तर $OP_2$ हो जाता है। मुद्रा की मात्रा में कमी कीमत स्तर को भी कम कर देगी। मुद्रा की पूर्ति कम होकर $OM_1$ होने पर मूल्य स्तर भी कम होकर $OP_1$

हो जाता है। ABC बिन्दुओं को मिलाने पर OQ रेखा प्राप्त होती है जो मुद्रा की मात्रा तथा मूल्य स्तर में सीधा एवं आनुपातिक सम्बन्ध को व्यक्त करती है।

### 4.2.6 फिशर के समीकरण की आलोचनाएं

फिशर के परिमाण सिद्धान्त की अर्थशास्त्रियों द्वारा कटु आलोचनाएं की जाती है जिनमें से निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं -

1. आलोचकों का मानना है कि फिशर का सिद्धान्त अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित होने के कारण सत्य नही है। फिशर ने अल्पकाल में V व T को स्थिर माना है। वास्तविकता में V व T में न केवल दीर्घकाल में वरन अल्पकाल में भी परिवर्तन होते हैं जिनका प्रभाव कीमत स्तर पर पडता है। तेजी के समय मुद्रा का प्रचलन वेग बढ़ जाता है व मन्दीकाल में कम हो जाता है। T में भी अल्पकाल परिवर्तन होते हैं। मँहगाई के समय औद्योगिक क्रियाशीलता बढ़ने के कारण लेन-देन के परिमाण में वृद्धि होती है तथा मन्दी में क्रियाशीलता में कमी होने के कारण लेन देन (T) में कमी आती है।

   फिशर ने अपनी मान्यताओं में M, V तथा T को स्वतन्त्र इकाइयाँ माना है अर्थात एक का दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वास्तव में ये एक दूसरे को प्रभावित करते है। यदि M को बढ़ा दिया जाय तो V व T भी अवश्य प्रभावित होगें। अत: M, V तथा T को एक दूसरे से स्वतन्त्र इकाइयाँ मानना सही नहीं है।
2. यह सिद्धान्त यह नही स्पष्ट करता कि मुद्रा की पूर्ति (M) में परिवर्तन का मूल्य स्तर (P) पर किस प्रकार से प्रभाव पड़ता है। केन्स ने इसकी आलोचना इस प्रकार की है - "मौद्रिक सिद्धान्तों की स्वाभाविक समस्या द्रव्य की कुल मात्रा एवं इसके बदले में मिलने वाली वस्तुओं में केवल स्थायी समीकरण स्थापित करना ही नही है वरन् इस प्रकार के सिद्धान्त का मुख्य कार्य तो इस समस्या के विभिन्न तत्वों की इस प्रकार व्याख्या करनी है जिससे मूल तन्त्र के निर्धारण के समस्त कारण स्पष्ट हो जाय।"
3. यह सिद्धान्त व्यापार चक्रों के कारणों की सम्यक व्याख्या नहीं करता। हाट्रे ने व्यापार चक्र को एक विशुद्ध मौद्रिक तत्व माना है। इनके अनुसार मुद्रा के परिमाण में वृद्धि से तेजी व कमी से मन्दी का सृजन होता है। किन्तु आधुनिक समय में यह स्पष्ट हो चुका है कि केवल मुद्रा प्रसार से ही तेजी व मुद्रा संकुचन से ही मन्दी का सृजन नहीं होता। मुद्रा की मात्रा में कमी के बिना भी मन्दी की शुरूआत हो सकती है।
4. मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में मुद्रा की पूर्ति पर बहुत अधिक बल दिया गया है व मुद्रा की मांग की उपेक्षा की गई है
5. यह सिद्धान्त मुद्रा के दीर्घकालीन मूल्य का विश्लेषण करता है। केन्स का कथन है कि मुद्रा के परिमाण (M) में वृद्धि होने पर इस बढ़ी हुयी मुद्रा को सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में फैलने में समय लगता है। अत: दीर्घकाल में ही मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि मूल्य स्तर को प्रभावित कर सकेगी। वास्तविक जीवन की सभी समस्याऐं अल्पकालीन होती हैं क्योंकि दीर्घकाल में हम सभी मर जाते हैं।
6. मूल्य स्तर समीकरण में सम्मिलित M,V तथा T के अतिरिक्त अन्य तत्वों में मानवीय आवश्यकताओं, उद्योगों का विकेन्द्रीकरण, यातायात की सुविधाओं के विस्तार की चर्चा की है।

7. यह समीकरण मुद्रा के विनिमय के माध्यम के कार्य को अधिक महत्व देता है। वास्तव में मुद्रा इस कार्य के साथ ही एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य भी करती है। यह कार्य मूल्य के संचय का है। वर्तमान आवश्यकता की पूर्ति के साथ ही व्यक्ति भविष्य की सुरक्षा पर बल देता है जिसको फिशर ने अपने समीकरण में सम्मिलित नहीं किया है।

### 4.2.7 फिशर के सिद्धान्त में सत्यता का अंश

यद्यपि फिशर का सिद्धान्त अपूर्ण, काल्पनिक एवं त्रुटिपूर्ण है तथापि इन कमियों के उपरान्त भी मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में कुछ सत्यता अवश्य है। फिशर ने अपने सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए कुछ उदाहरण दिये हैं जो निम्नलिखित है-

1. अमेरिका से यूरोप के देशों में चाँदी के प्रवाह ने वहाँ चाँदी के सिक्कों की पूर्ति बढ़ा दी व कीमत स्तर ऊँचा हो गया। कालान्तर में इन देशों में जनसंख्या वृद्धि के कारण मुद्रा की माँग बढ़ी तो मूल्य स्तर कम हो गया।
2. इग्लैण्ड में सन् 1 820-1844 की अवधि में मुद्रा की पूर्ति माँग की अपेक्षा कम होने पर कीमत स्तर में भारी कमी आई।
3. प्रथम विश्व युद्ध तथा युद्धोत्तर काल में जर्मनी में पत्र मुद्रा के अधिक प्रसार के कारण कीमतें बहुत अधिक बढ़ गयी थी।
4. 1929 तथा उसके बाद के मन्दी काल में मुद्रा संकुचन के कारण कीमतें गिरीं।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि फिशर का मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त एक प्रवृति का सूचक है जो यह बताता है कि अल्पकाल की अपेक्षा दीर्घकाल में मुद्रा के मूल्य में मौद्रिक परिवर्तनों का प्रभाव अवश्य पडता है। इस सिद्धान्त के विषय में रार्बटसन लिखते है - 'मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मुद्रा का मूल्य समझने के लिए एक विचित्र सत्य है जिसको समझना वास्तविक जीवन में मुद्रा की मात्रा और वस्तुओं की कीमत में सम्पर्क स्थापित करने के लिए आवश्यक है।

**बोध प्रश्न-01**

1. मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त से क्या आशय है?
2. फिशर की मुद्रा की माँग की अवधारणा को समझाइए
3. निष्क्रिय मुद्रा से क्या तात्पर्य है?
4. मुद्रा का चलन वेग क्या है?
5. फिशर का समीकरण समझाइए
6. फिशर के सिद्धान्त की सत्यता के दो उदाहरण दीजिए।

## 4.3 कैम्ब्रिज सिद्धान्त (Cambridge Equation)

मार्शल, पीगू, राबर्टसन, केन्स आदि कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने फिशर के परिमाण सिद्धान्त में सुधार के रूप में कैम्ब्रिज व्याख्या दी है जो यूरोप विशेषत: इग्लैण्ड में अधिक मान्य है। इस व्याख्या को नकद शेष दृष्टिकोण मुद्रा की उस मात्रा से सम्बन्धित है जो एक दृष्टिकोण मुद्रा की उस मात्रा से सम्बन्धित है जो एक समय अवधि में विनिमय कार्यो अथवा नकद भुगतानों के लिए काम में आती है। इसके विपरीत कैम्ब्रिज व्याख्या उस मुद्रा मात्रा से सम्बन्धित है जिसे लोग किसी समय बिन्दु पर

नकद कोष के रूप में अपने पास रखना चाहते हैं। इस प्रकार नकद रूप में रखी गई धन राशि का उद्देश्य वस्तुओं तथा सेवाओं पर अधिकार सुरक्षित करना होता है। इस प्रकार कैम्ब्रिज समीकरण में मुद्रा की माँग का अर्थ नकद शेष की माँग से लगाया जाता है जो कुल वास्तविक राष्ट्रीय आय अर्थात अन्तिम उपभोग के लिए वस्तुओं तथा सेवाओं के वार्षिक उत्पादन से सम्बन्धित होती है। चूँकि सम्पूर्ण वास्तविक आय का उपभोग एक साथ नहीं किया जाता इसलिए नकद शेष की माँग सम्पूर्ण वास्तविक आय के लिए एक अंश के बराबर होती है। इस प्रकार मुद्रा की माँग से अभिप्राय वास्तविक आय के उस अनुपात से है जिसे मुद्रा के रूप में रखा जाता है।

### 4.3.1 मार्शल का समीकरण

कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने नकद शेष विचार धारा के अलग-अलग समीकरण दिये हैं। इनमें से मार्शल का समीकरण निम्नलिखित है -

$$M=KY+K'A$$

यहाँ M मुद्रा की मात्रा (चलन मुद्रा + बैंकों में चालू जमा) है। Y मौद्रिक आय है। k आय का वह भाग है जिसे लोग मुद्रा के रूप में रखते हैं। A कुल सम्पत्ति का मूल्य तथा k ' सम्पत्ति का वह भाग है जो मुद्रा के रूप में रखा जाता है। मार्शल का समीकरण आय व सम्पत्ति भाग में विभाजित है जो अव्यवहारिक है। वास्तव में लोग अपनी आय को ही उपभोग के लिए काम में लाते है। अत: मार्शल के सर्मथकों ने सम्पत्ति भाग को हटा कर समीकरण को निम्न रूप दिया-

$$M=kY$$

किसी भी वर्ष की कुल मौद्रिक आय उस वर्ष में कुल वास्तविक उत्पादन (O) तथा कीमत स्तर (P) उत्पादन (O) तथा कीमत का गुणनफल होता है इसलिए

$$Y = PO$$

'चूँकि $M=kPO$ अथवा $M=kY$

इसलिए कीमत स्तर को मार्शल समीकरण में सम्मिलित करने पर समीकरण निम्न रूप में होगा -

$$P=\frac{M}{KO}$$

यदि P के द्वारा वस्तु की एक इकाई की कीमत व्यक्त न करके मुद्रा की एक इकाई का मूल्य (क्रय शक्ति) व्यक्त किया जाय तो समीकरण इस प्रकार होगा:

$$P=\frac{KO}{M}$$

### 4.3.2 पीगू का समीकरण

पीगू ने नकद-शेष विचारधारा का निम्न समीकरण दिया है.

$$P=\frac{KR}{M}$$

इस समीकरण में वास्तविक आय को व्यक्त करता है जिसका किसी दिये हुये समय (एक वर्ष) में उपभोग किया जाता है। K वास्तविक आय का वह अनुपात है जो मुद्रा के मूल्य के रूप में

रखा जाता है। M मुद्रा की कुल मात्रा तथा, P मुद्रा के मूल्य का सूचक है। लोग अपनी आय नकदी के रूप में रखने के अतिरिक्त बैंक जमाओं के रूप में रखते हैं। इन बैंक जमाओं को समीकरण में सम्मिलित करने पर समीकरण निम्न रूप में होगा:

$$P = \frac{KR}{M}\left[c + h(1 - c)\right]$$

अथवा $M = \frac{KR}{P}\left[c + h(1 - c)\right]$

यहाँ C वह विधि ग्राहय नकद राशि है जिसे जनता अपने पास रखती है। h बैंक जमाओं का वह अनुपात है जिसे बैंक अपने पास नकद रूप में रखते हैं,l-c विधि ग्राहय नकद शेषों का वह भाग है जिसे लोग बैंकों में जमाओं के रूप में रखते हैं। यह समीकरण माँग की लोच को इकाई के बराबर मानता है। मुद्रा की माँग तथा उसकी क्रय शक्ति में विपरीत आनुपातिक सम्बन्ध है। अर्थात कीमत स्तर व मुद्रा की पूर्ति में सीधा आनुपातिक सम्बन्ध है।

राबर्टसन ने नकद शेष समीकरण को निम्नलिखित रूप से प्रकट किया है जिसमें उन्होंने P, M तथा T की अवधारणाओं को पीगू 'समीकरण से तथा K को मार्शल समीकरण से लिया है :

$M = PKT$ अथवा $P = \frac{M}{KT}$

### 4.3.3 केन्स का संशोधित समीकरण

कैम्ब्रिज अर्थशास्त्री केन्स पीगू द्वारा दिये गये समीकरण से असन्तुष्ट थे। उन्होंने एक नया समीकरण दिया जो इस मान्यता पर आधारित है कि उपभोग इकाइयों से सम्बन्धित वास्तविक लेन-देन की एक निश्चित मात्रा के बराबर लोग अपने वास्तविक शेष रखते है। वास्तविक शेष तथा वास्तविक लेन-देन की मात्राओं के आपसी सम्बन्ध अपरिवर्तित रहने पर नकद शेष की मात्रा वास्तविक शेष में सम्मिलित उपभोग इकाइयों की कीमतों द्वारा निर्धारित होती है। केन्स के समीकरण को वास्तविक शेष समीकरण कहते हैं जो निम्नलिखित हैं:

$n = p(k + rk')$ Or $P = \frac{n}{k + rk'}$

इस समीकरण में n चलन में नकद मुद्रा की कुल मात्रा, p एक उपभोग इकाई की कीमत, k उपभोग इकाइयों की संख्या जिन्हें समाज नकदी के रूप में रखना चाहते है r बैंकों के नकद शेष का उनकी जमाओं से अनुपात, k ' उपभोग इकाइयों की संख्या जिन्हें समाज बैंक जमाओं के रूप में रखना चाहता है। अल्पकाल में k, k ' तथा r के स्थिर रहने पर p में n के परिवर्तनों के अनुपात में परिवर्तन होता है। स्पष्ट है कि केन्स के समीकरण के अनुसार मुद्रा की माँग वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा पर ही निर्भर नहीं रहती वरन् जनता द्वारा नकदी के रूप में रखी गई मुद्रा पर भी निर्भर रहती है। कीमत स्तर लोगों की उपभोग सम्बन्धी आवश्यकताओं पर निर्भर करता है क्योंकि उसी आधार पर लोग अपनी आय का एक भाग अपने पास नकदी के रूप में रखते हैं।

### 4.3.4 फिशर व कैम्ब्रिज दृष्टिकोणों में समानता

1. दोनों ही सिद्धान्तों में मुद्रा के परिमाण को मूल्य निर्धारण का कारक माना गया है।

2. फिशर का समीकरण है तथा कैम्ब्रिज विचारधारा में राबर्टसन का समीकरण है यदि मान लिया जाय तो कैम्ब्रिज समीकरण को फिशर समीकरण में आसानी से परिवर्तित किया जा सकता है।
3. दोनों विचारधाराओं में साख मुद्रा व बैंक निक्षेपों को मुद्रा की पूर्ति में सम्मिलित किया गया है।

### 4.3.5 फिशर व कैम्ब्रिज दृष्टिकोणों में अन्तर

1. फिशर ने मुद्रा को विनिमय का माध्यम माना है जबकि कैम्ब्रिज विचार धारा के अनुसार मुद्रा मूल्य संचय का कार्य करती है।
2. फिशर ने मुद्रा की पूर्ति को मूल स्तर में परिवर्तन का मुख्यघटक माना है जबकि कैम्ब्रिज सिद्धान्त में मुद्रा की माँग को मूल्य स्तर में परिवर्तन का घटक माना है।
3. फिशर ने मुद्रा की माँग को स्थिर मान कर मुद्रा की पूर्ति को परिवर्तनशील माना है जो मूल्य स्तर को प्रभावित करती है जबकि कैम्ब्रिज सिद्धान्त में मुद्रा की पूर्ति को स्थिर माना है और मुद्रा की माँग को परिवर्तनशील माना है जो मूल्य स्तर में परिवर्तन लाती है।
4. फिशर का सिद्धान्त दीर्घकालीन सिद्धान्त है जो समयावधि पर आधारित है जबकि कैम्ब्रिज सिद्धान्त अल्पकालीन है व समय बिन्दु को दर्शाता है।
5. फिशर का सिद्धान्त मुद्रा की उस कुल मात्रा पर आधारित है जो आदान प्रदान के काम आती है जबकि कैम्ब्रिज विचारधारा में मुद्रा की मात्रा का समन्वय उस नकदी मात्रा से है जो जनता द्वारा समय विशेष में तरल रूप में रखी जाती है।
6. फिशर के सिद्धान्त में मुद्रा के चलन वेग पर बल दिया गया है जबकि कैम्ब्रिज सिद्धान्त में नकद संचित कोषों की निष्क्रियता पर बल दिया गया है। दोनों परस्पर विरोधी हे।
7. फिशर ने मुद्रा मूल्य निर्धारण में उत्पादन व उपभोग की सभी वस्तुओं का समादेश किया है जबकि कैम्ब्रिज सिद्धान्त में केवल उपभोग वस्तुओं को ही महत्व दिया गया है।

### 4.3.6 कैम्ब्रिज सिद्धान्त की आलोचनाएँ

1. इस समीकरण के अनुसार मुद्रा की माँग केवल उपभोग वस्तुओं के लिए की जाती है। जबकि वास्तविक जीवन में मुद्रा की माँग उपभोग के अतिरिक्त अन्य बहुत से कारणों से की जाती है।
2. यह सत्य नहीं है कि लोगों द्वारा अपने पास अथवा बैंकों के पस रखे नकद शेष केवल चालू आय का ही एक भाग होते है। वास्तव में इनमें पहले की आय से की गई बचतें भी सम्मिलित होती हैं।
3. इस समीकरण के अनुसार नकद शेष की मात्रा k से प्रभावित होती है। वास्तविक जीवन में मुद्रा की मात्रा (M अथवा n) में परिवर्तन होने पर R तथा K दोनों ही प्रभावित होते हैं।
4. यह सिद्धान्त अपूर्ण है। ये यह नही बताता कि कीमतों में वृद्धि से उत्पादन तथा आय में कितनी वृद्धि होगी।

5. यह सिद्धान्त मुद्रा की माँग की लोच को इकाई के बराबर मानता है जो अवास्तविक है। मुद्रा की माँग की इकाई लोच केवल स्थैतिक परिस्थिति में ही सम्भव है। अत: यह सिद्धान्त अर्थव्यवस्था में गतिशील कीमत आचरण का पर्याप्त मौद्रिक स्पष्टीकरण देने में असमर्थ है।
6. इस सिद्धान्त में तरलता पसन्दगी के सट्टा उद्देश्य की उपेक्षा की गयी है। वास्तव में सट्टा उद्देश्य की मांग और कीमतों को प्रभावित करने वाला प्रमुख घटक है।

**बोध प्रश्न - 2**

1. कैम्ब्रिज सम्प्रदाय के अर्थशास्त्री किस देश के थे? इनमें प्रमुख अर्थशास्त्रियों के नाम बताइए।
2. कैम्ब्रिज दृष्टिकोण को नकद -शेष दृष्टिकोण क्यों कहते है।
3. मार्शल का समीकरण समझाइए।
4. पीगू का समीकरण क्या है?
5. केन्स का संशोधित समीकरण दीजिए।
6. कैम्ब्रिज दृष्टिकोण व फिशर के दृष्टिकोण में क्या समानताएं है।
7. कैम्ब्रिज दृष्टिकोण व फिशर के दृष्टिकोण में क्या असमानताएं है?

## 4.4 फ्रीडमैन का मुद्रा परिमाण सिद्धान्त(Friedman's Quantity Theory of Money)

परिमाण सिद्धान्त की कैम्ब्रिज विचारधारा से शिकागो विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्री सहमत नहीं थे। इनमें से एक प्रमुख अर्थशास्त्री, 1976 के नोबेल पुरुस्कार विजेता, मिल्टन फ्रीडमैन हैं जिन्होंने अपने अनुभवाश्रित तथ्यों के आधार पर मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का पुनर्विवरण प्रस्तुत किया है -

### 4.4.1 फ्रीडमैन के सिद्धान्त के मुख्य तत्व

1. फ्रीडमैन के अनुसार मुद्रा की माँग काफी स्थिर रहती है तथा मौद्रिक आय तथा कीमतों के निर्धारण में मुद्रा की माँग की महत्वपूर्ण भूमिका है। मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित करने वाले तब मुद्रा की माँग को प्रभावित करने वाले तत्वों से स्वतन्त्र होते हैं।
2. ब्याज दर का निर्धारण मितव्ययिता तथा उत्पादकता की शक्तियों पर निर्भर करता है व यह वस्तुगत अथवा वास्तविक होती है।
3. फ्रीडमैन ने परम्परागत दृष्टिकोण को स्वीकार किया है कि मुद्रा विनिमय का माध्यम है तथा मुद्रा की माँग का कीमत स्तर के साथ प्रत्यक्ष एवं आनुपातिक सम्बन्ध होता है अर्थात कीमत स्तर के सम्बन्ध में मुद्रा की माँग की लोच इकाई के बराबर होती है।
4. फ्रीडमैन ने वास्तविक आय को भी मुद्रा की माँग का प्रमुख निर्धारक तब माना है क्योंकि वास्तविक आय में होने वाले परिवर्तन व्यवसाय तथा लेन-देन के आकार को प्रभावित करने के साथ ही लोगों के जीवन स्तर में भी परिवर्तन लाते है। वास्तविक आय में परिवर्तन होने पर वास्तविक नकद कोषों की माँग में भी परिवर्तन होने पर मुद्रा की माँग में अनुपात से अधिक परिवर्तन होता है। इस प्रकार मुद्रा की माँग की आय लोच इकाई से अधिक होती है। फ्रीडमैन की मान्यता है कि मुद्रा की माँग का व्यवहार विलासिता के पदार्थो की माँग के समान होता है।

5. फ्रीडमैन ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को उत्पादन मौद्रिक आय अथवा कीमत स्तर का सिद्धान्त नहीं मानते हुये केवल मुद्रा की माँग का सिद्धान्त माना है।
6. फ्रीडमैन के अनुसार वह आय जिसके साथ दीर्घकाल में नकद कोष समायोजित होते हैं चालू आय न होकर स्थायी आय होती है जिसका सम्बन्ध धन से प्राप्त होने वाली दीर्घकालीन आय से है।
7. फ्रीडमैन ने मुद्रा को धन का संचय करने के लिए परिसम्पत्ति माना है। उत्पादकों के लिए मुद्रा एक पूँजीगत पदार्थ के समान है क्योंकि इससे उत्पादन सरल हो जाता है। फ्रीडमैन मुद्रा की माँग को पूँजी सिद्धान्त का ही एक विषय मानते हैं।
8. धन का संचय करने वाली इकाइयों के द्वारा की जाने वाली मुद्रा की माँग तीन बातों पर निर्भर है (अ) विभिन्न प्रकार की परिसम्पत्तियों के रूप में संचय किये जाने वाले धन का आकार, (ब) विभिन्न परिसम्पत्तियों की सापेक्ष कीमत तथा उनसे प्राप्त होने वाली आय; (स) धन का संचय करने वालों की रूचि एवं तरलता पसन्दगी।

   नकद कोष की लागत की माँग दो प्रकार से की जाती है - (1) वैकल्पिक परिसम्पत्तियों (बाण्ड, शेयर आदि) पर अर्जित की जाने वाली ब्याज दर तथा (2) कीमत स्तर में परिवर्तन की सम्भावित दर। ब्याज दर अथवा कीमत स्तर में सम्भावित वृद्धि नकद कोषों की माँग में कमी उत्पन्न करती है व नकद कोष रखने की लागत को कम करती है जिससे तरलता पसन्दगी में वृद्धि होती है। इस प्रकार मुद्रा की माँग तथा नकद कोष रखने की लागत में विपरीत सम्बन्ध होता है।
9. फ्रीडमैन ने धन संचय के पाँच वैकल्पिक रूप बताये हैं। नकद कोष इनमें से एक है। अन्य रूप बाण्ड, इक्विटी, भौतिक अमानवीय पदार्थ तथा मानवीय पूँजी हैं। एक उपभोग पदार्थ के रूप में मुद्रा सुविधा, सुरक्षा तथा पूर्ण तरलता के रूप में धारक को वास्तविक उपयोगिता प्रदान करती है। मुद्रा से ब्याज के रूप में आय भी प्राप्त होती है। मुद्रा से प्राप्त वास्तविक प्रतिफल का आकार कीमत स्तर के विपरीत दिशा में परिवर्तित होता है। कीमतों में कमी होने से मुद्रा का मूल्य बढ़ता है व नकद कोषों से एक प्रकार का पूँजीगत लाभ प्राप्त होता है। बाण्ड तथा इक्विटी से प्राप्त होने वाली आय उनकी बाजार कीमतों में होने वाले परिवर्तनों तथा ब्याज दरों में होने वाले परिवर्तनों से प्रभावित होती है। वास्तविक पदार्थों के रूप में संचित धन से प्राप्त होने वाली आय की माप ब्याज दरों के माध्यम से नहीं की जा सकती है किन्तु कीमत स्तर में होने हाले परिवर्तन उनसे प्राप्त होने वाले वास्तविक प्रतिफल को प्रभावित करते हैं। मानव पूँजी अनुमानित आय प्राप्ति का बट्टागत मूल्य है। अन्य परिसम्पत्तियों की तुलना में इसमें प्रति स्थानापन्नता की मात्रा बहुत सीमित होती है। इसी आधार पर फ्रीडमैन ने मानवीय तथा अमानवीय भौतिक पूँजी में भेद किया है। माँग फलन की व्याख्या में फ्रीडमैन ने मुद्रा कोष की तुलना आवश्यक पदार्थों से की है तथा अन्य परिसम्पत्तियों की आरामदायक तथा विलासिता के पदार्थों से। आय में वृद्धि होने पर अन्य परिसम्पत्तियों के रूप में धन के संचय में वृद्धि होती है।
10. मुद्रा की माँग के चार निर्धारक तत्व हैं (1) कीमत स्तर (2) वास्तविक आय या उत्पादन का स्तर (3) ब्याज दर तथा (4) सामान्य कीमत स्तर में वृद्धि की दर। प्रथम दो तत्वों में

परिवर्तन होने पर मुद्रा की माँग में उसी दिशा में परिवर्तन होता है जबकि अन्तिम दो तत्वों में होने वाले परिवर्तनों का मुद्रा की माँग से आनुपातिक सम्बन्ध होता है व वास्तविक आय में परिवर्तन होने पर मुद्रा की माँग में अनुपात से अधिक परिवर्तन होता है। मिल्टन फ्रीडमैन ने मुद्रा के मॉगफलन को निम्न समीकरण द्‌वारा व्यक्त किया है -

$$M = f\left(P, Y, \frac{1}{P}, \frac{dp}{dt}, rb, re, w, u,\right)$$

इस समीकरण में M मुद्रा की कुल माँग, Y कुल आय प्रवाह, $\frac{1}{P}, \frac{dp}{dt}$ वास्तविक परिसम्पत्तियों (भौतिक पदार्थों) के प्रति मौद्रिक मूल्य में वृद्धि अथवा ह्रास के रूप में सांकेतिक प्रतिफल का आकार है जो P के साथ मिल कर इन परिसम्पत्तियों की वास्तविक प्रतिफल दर को व्यक्त करता है। rb बाण्डों पर बाजार की ब्याज दर है। re इक्विटी पर बाजार की ब्याज दर, w अमानवीय पूँजी का मानवीय पूँजी से अनुपात (धन और आय का अनुपात) व u उपयोगिता को निर्धारित करने वाले चर हैं जो धन संचय करने वालों की रूचियों को प्रभावित करते है।

मिल्टन फ्रीडमैन की मान्यता है कि माँगफलन अल्पकाल में स्थिर रहता है इसलिए कीमत स्तर में परिवर्तन मुद्रा की पूर्ति से होता है। मुद्रा की माँग स्थिर होने पर मुद्रा की पूर्ति में एक सामान्य वृद्धि दर बनाये रखना आवश्यक होता है। यह वृद्धि दर वास्तविक आय की वृद्धि दर के बराबर या कुछ ऊँची होनी चाहिए। मुद्रा की पूर्ति की वृद्धि दर को मौद्रिक नीति के द्‌वारा नियमित किया जा सकता है।

### 4.4.2 फ्रीडमैन के सिद्धान्त की आलोचनाएं

मिल्टन फ्रीडमैन के द्‌वारा प्रस्तुत मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के पुनर्विवरण की अनेक अर्थशास्त्रियों द्‌वारा आलोचना की जाती है। कुछ प्रमुख आलोचनाएँ निम्न है:

1. आलोचकों का मत है कि फ्रीडमैन ने मुद्रा की परिभाषा को अत्यधिक विस्तृत कर दिया है व इसमें चलन मुद्रा माँग जमा राशियों के साथ काल जमा राशियों को भी सम्मिलित किया है व मुद्रा की माँग के निर्धारण में ब्याज दरों को अधिक महत्व नहीं दिया है। जब कि ब्याज दरों का मौद्रिक साधनों की उपलब्ध तथा लागत पर व्यापक प्रभाव पड़ता है।
2. फ्रीडमैन की स्थायी आय की अवधारणा धन से सम्बन्धित है जो भ्रामक है।
3. फ्रीडमैन के अनुसार मुद्रा की माँग में परिवर्तन आय में होने वाले परिवर्तनों के अनुपात से अधिक होते हैं जो व्यवहारिक अनुभव से सिद्ध नहीं होता। साथ ही नकद कोषों की माँग को विलासिता की वस्तुओं की माँग के समान मानना भी अनुचित है।
4. मुद्रा की पूर्ति कीमतों तथा आय स्तर के परिवर्तन से स्वतन्त्र होती है। यह मान्यता भी व्यवहारिक रूप से सत्य नहीं है।
5. फ्रीडमैन ने मौद्रिक स्टॉक, मौद्रिक आय तथा कीमतों के बीच धनात्मक सह सम्बन्ध बताया है जो सत्य नहीं है।

6. आर्थिक स्थिरता तथा विकास के लिए फ्रीडमैन ने सुस्थिर मौद्रिक नीति का समर्थन किया है। आज के अनिश्चित व प्रावैगिक विश्व में सुस्थिर मौद्रिक नीति का विचार व्यवहारिक नहीं है।

   यद्यपि फ्रीडमैन की व्याख्या में भी अनेक त्रुटियाँ हैं फिर भी फ्रीडमैन ने अपने सिद्धान्त द्वारा यह बताने का प्रयास किया कि मौद्रिक अस्थिरता आर्थिक परिवर्तनों को अत्यधिक प्रभावित करती है इसलिए उचित मौद्रिक नीति के द्वारा मौद्रिक सन्तुलन प्राप्त करना आवश्यक होता है।

**बोध प्रशन -03**

1. फ्रीडमैन को नोबेल पुरस्कार कब प्राप्त हुआ था?
2. फ्रीडमैन की व्याख्या के मुख्य तत्व क्या हैं?
3. फ्रीडमैन के समीकरण को समझाइए।
4. फ्रीडमैन ने अपने समीकरण में अमानवीय पूँजी व मानवीय पूँजी के अनुपात को किससे व्यक्त किया है?
5. फ्रीडमैन के अनुसार मुद्रा की माँग के चार निर्धारक तत्व कौन से हैं?
6. फ्रीडमैन के सिद्धान्त में u क्या है?

## 4.5 सारांश (Summary)

इस अध्याय में मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के फिशर समीकरण, कैम्ब्रिज सिद्धान्त व फ्रीडमैन सिद्धान्त का वर्णन किया गया है। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के दो रूप हैं जिन्हें लेन-देन का दृष्टिकोण तथा नकद शेष दृष्टिकोण कहा गया है। लेन-देन के दृष्टिकोंण का सम्बन्ध फिशर से है जबकि नकद शेष दृष्टिकोण कैम्ब्रिज विचारधारा से सम्बद्ध है। फिशर के सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की क्रय शक्ति खरीदी जाने वाली वस्तुओं की मात्रा के सापेक्ष में मुद्रा की मात्रा पर निर्भर करती है। यदि मुद्रा की मात्रा उससे विनिमय की जाने वाली वस्तुओं की अपेक्षा अधिक है तो सामान्य कीमत स्तर ऊँचा हो जायेगा व मुद्रा का मूल्य कम हो जायेगा। फिशर द्वारा दी गई व्याख्या मुद्रा की उस मात्रा से सम्बन्धित है जो एक समयावधि में विनिमय माध्यम के रूप में काम आती है। जबकि कैम्ब्रिज विचारधारा मुद्रा की उस मात्रा से सम्बन्धित है जो लोग किसी समय बिन्दु पर अपने पास नकद रूप में रखना चाहते हैं।

मिल्टन फ्रीडमैन ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का पुनर्कथन प्रस्तुत किया है व आर्थिक क्रिया में मुद्रा की भूमिका को सुदृढ़ किया है। फ्रीडमैन ने मुद्रा के सिद्धान्त को पूँजी के सिद्धान्त से जोड़ा है। उनके अनुसार व्यक्ति अपने धन या मुद्रा को विभिन्न परिसम्पत्तियों में इस प्रकार विभाजित करता है कि वह उसका सर्वोत्तम आवंटन प्राप्त कर सके। इसके लिए वह परिसम्पत्ति के एक रूप के स्थान पर उसके अधिक लाभकारी रूप का प्रतिस्थापन करता जायेगा व सर्वोत्तम सन्तुलन की स्थिति को प्राप्त कर लेगा।

## 4.6 शब्दावली (Glossary)

| | |
|---|---|
| नकद लेन देन दृष्टिकोंण | Cash Transation Approach |

| | |
|---|---|
| नकद शेष दृष्टिकोंण | Cash Balance Approach |
| भ्रमण प्रवाह | Velocity of Circulation |
| बैठी हुयी मुद्र | Money Sitting |
| निष्क्रिय मुद्रा | Passive Money |
| सक्रिय मुद्रा | Money on Wings |
| सामान्य कीमत स्तर | General Price Level |
| व्यापार चक्र | Trade Cycle |
| विकेन्द्रीकरण | Decentralization |
| वास्तविक राष्ट्रीय आय | Real National Income |
| चलन मुद्रा | Money in Circulation |
| मौद्रिक आय | Money Income |
| उपभोग इकाइयाँ | Consumption Units |
| वास्तविक लेन देन | Real Transaction |
| अनुभवाश्रित तथ्य | Empirical Evidence |
| इकाई के बराबर माँग की लोच | Unitary Elastic Demand |
| गतिशील कीमत आचरण | Dynamic Price Behaviour |
| परिसम्पत्ति | Asset |
| सापेक्ष कीमत | Relative Price |
| वैकल्पिक परिसम्पत्तियाँ | Alternative Assets |
| भौतिक अमानवीय पूँजी | Physical NonHuman Capital |
| मानवीय पूँजी | Human Capital |
| बट्टा मूल्य | Discounted Value |
| प्रतिस्थानापन्नता | Substitutability |
| आरामदायक पदार्थ | Comforts |
| विलासिता के पदार्थ | Luxuries |
| बाण्ड एवं इक्विटी | Bonds and Equity |
| वास्तविक प्रतिफल | Real Return |
| चर | Variables |

## 4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ (References)

Crowther: An Outline of Money

Halm, G.N.: Monetary Theory

Jhingan, M.L. (2005-06): Monetary Economics, Vrinda Publication, Delhi.

Nathu Ranka, Laxmi Narain (2005): Money, Banking and Public Finance, College Book

House, Jaipur.

Ojha, B.L. (2006): Money, Banking and Public Finance, Adarsh Publication, Jaipur.

Sethi, T.T. (2007) Monetary Economics, Laxmi Narain Agarwal, Agra.

## 4.8 अभ्यासार्थ प्रश्न (Unit-end Question)

1. मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। मुद्रा मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त में क्या सुधार हुये है?
2. "यह सत्य है कि नकद-शेष समीकरण नये बीज गणितीय परिधान में परिमाण सिद्धान्त ही है।" इस कथन के संदर्भ में परिमाण सिद्धान्त की फिशर तथा कैम्ब्रिज व्याख्याओं का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
3. "परिमाण सिद्धान्त सामान्य कीमत स्तर को निर्धारित करने वाली शक्तियों का सर्वाधिक प्रकाश पूर्ण सारांश है"। क्या आप इस विचार से सहमत हैं? विस्तार से समझाइए।
4. मिल्टन फ्रीडमैन के मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। यह प्रतिष्ठित परिमाण सिद्धान्त से किस प्रकार भिन्न है?
5. "मुद्रा की माँग वास्तविक शेषों की माँग है।" विवेचना कीजिए।
6. "परिमाण सिद्धान्त मूलतः मुद्रा की माँग का सिद्धान्त है"। विवेचना कीजिए।

# इकाई-5

# व्यापारिक बैंकिंग : योगदान एवं कार्य, साख सृजन की प्रक्रिया (Commercial Banking: Role and Functions, Process of Credit Creation)

**इकाई की रूपरेखा**

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 व्यापारिक बैंकों की परिभाषा, प्रकार एवं महत्व
  5.2.1 व्यापारिक बैंकों की परिभाषा
  5.2.2 व्यापारिक बैंकों के प्रकार
  5.2.3 व्यापारिक बैंक व आर्थिक विकास
5.3 व्यापारिक बैंकों के कार्य
  5.3.1 व्यापारिक बैंकों के परम्परागत कार्य
  5.3.2 व्यापारिक बैंकों के आधुनिक कार्य
5.4 साख निर्माण एवं साख सृजन की प्रक्रिया
  5.4.1 साख निर्माण
  5.4.2 साख निर्माण की प्रक्रिया
  5.4.3 लीफ-कानन की साख निर्माण की आलोचना
  5.4.4 साख सृजन की सीमाएँ
5.5 सारांश
5.6 शब्दावली
5.7 सन्दर्भ ग्रन्थ
5.8 अभ्यासार्थ प्रशन
5.9 बोध प्रशन के उत्तर

## 5.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन बाद आप समझ सकेंगे कि:

- बैंकिंग से क्या अभिप्राय है?
- व्यापारिक बैंकों के कितने प्रकार है?
- विकासशील देशों के विकास में व्यापारिक बैंकों की क्या भूमिका है?
- व्यापारिक बैंकों के परम्परागत कार्य कौन से है?
- व्यापारिक बैंकों के नये कार्य कौन से है?

- व्यापारिक बैंक साख सृजन किस प्रकार करता है?
- साख सृजन की क्या सीमाएँ है?

## 5.1 प्रस्तावना (Introduction)

विश्व में आर्थिक विकास के साथ साख की माँग में काफी वृद्धि हुई है। कृषि, उद्योग एवं व्यापार क्षेत्र में बडे पैमाने पर उत्पादन करने के लिये अधिक मुद्रा की आवश्यकता होती है, जिसे साख द्वारा पूरा किया जा सकता है। साख प्राप्त करने के लिये प्रमुख दो स्रोत होते हैं। क- संस्थागत स्रोत ख- गैर संस्थागत स्रोत। व्यापारिक बैंक, मुद्रा बाजार में संस्थागत साख के प्रमुख स्रोत है। इस इकाई में खण्ड 5.2 में व्यापारिक बैंक की परिभाषा, प्रकार एवं महत्व दिया गया है। इसके पश्चात् इनके कार्य एवं साख सृजन प्रक्रिया को उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है। इकाई के अन्त में शब्दावली, सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची तथा अभ्यासार्थ प्रश्न दिए गये हैं।

**बोध प्रश्न-1**

1. साख की आवश्यकता क्यों बढ़ी है ?
2. साख प्राप्त करने के लिये प्रमुख दो स्रोत कौन से हैं ?

## 5.2 व्यापारिक बैंकों की परिभाषा, प्रकार एवं महत्व (Definitions , Types and Importance of Commercial Banks)

### 5.2.1 व्यापारिक बैंकों की परिभाषा

व्यापारिक बैंक, लाभ कमाने वाली एक बाजार संस्था है। यह उन जनता से जमाएँ स्वीकार करती है जिनके पास आवश्यकता से अतिरिक्त मुद्रा है और पुन: उस मुद्रा को उन व्यक्तियों या निवेशकर्ताओं को उधार देती हैं जिसे उनको आवश्यकता है। अत: जो संस्था मुद्रा को जमा के रूप में स्वीकार करती है और उन्हें उधार भी देती है, वही बैंक कहलाती है। इस दृष्टिकोण से पोस्ट ऑफिस बैंक नहीं है क्योंकि वे जमाएँ तो स्वीकार करते हैं पर उधार नहीं देते।

आर.एस.सेयर्स के अनुसार "हम एक बैंक की परिभाषा एक ऐसी संस्था के रूप में कर सकते हैं जिसके कर्ज (बैंक जमाएं) अन्य व्यक्तियों के कर्ज़ों को आपस में चुकाने के लिये व्यापक रूप से स्वीकार किये जाते हैं।

भारतीय बैंकिंग नियमन अधिनियम के अनुसार बैंकिंग का आशय जनता से मुद्रा की ऐसी जमाओं को उधार देने अथवा विनिमय के उद्देश्य के लिये स्वीकार करना होता है जो माँगने पर अथवा अन्यथा वापस करनी होती है, और चैक, ड्राफ्ट, आज्ञा या अन्य तरीकों से निकाली जा सकती है।"

### 5.2.2 व्यापारिक बैंकों के प्रकार

व्यापारिक बैंक मुख्यत: दो प्रकार के होते हैं :

(1) **अनुसूचित व्यापारिक बैंक (Scheduled Commercial Banks)** ये वे बैंक है जिनकी परिदत्त पूँजी (Paid up Capital) व रिजर्व राशि कम से कम 5 लाख रूपये की होती है। ये निगम व कम्पनी के रूप में संगठित होती है न कि साझेदारी या व्यक्तिगत फर्म के रूप में।

रिजर्व बैंक आवश्यकता पड़ने पर अनुसूचित व्यापारिक बैंकों को रियायती शर्तों पर उधार देती है। एवं उनकी मदद करती है। बदले में इन बैंकों की रिजर्व बैंक के पास नियमानुसार वैधानिक नकद रिजर्व की राशि रखनी होती है एवं समय-समय पर आवश्यक रिटर्न भेजने होते हैं। ये भारतीय रिजर्व बैंक अधिनियम, 1934 की द्‌वितीय अनुसूची में शामिल किये गये है।

(2) **गैर अनुसूचित व्यापारिक बैंक** ये बैंक भारतीय रिजर्व बैंक अधिनियम 1934 की द्‌वितीय अनुसूची में शामिल नहीं किये गये हैं। इन बैंकों को भी वैधानिक नगद रिजर्व अलग रखना होता है, परन्तु ये चाहे तो इसे रिजर्व बैंक के पास रख सकते हैं या चाहे तो अपने पास भी। इनकी आमतौर पर रिजर्व बैंक से रियायतों पद पर उधार नहीं मिल सकता है। भारत में कोई भी गैर अनुसूचित व्यापारिक बैंक नहीं हैं।

### 5.2.3 व्यापारिक बैंक व आर्थिक विकास

व्यापारिक बैंकों का देश में आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। प्राय: यह देखा गया है कि जनता अपनी छोटी छोटी बचतों को जेवर, भूमि, मकान व वस्तुओं की खरीदने में व्यय कर देती है। बचत के ये उपयोग आर्थिक दृष्टि से अनुत्पादक होते हैं। बैंक इन छोटी बचतों को एकत्रित व संग्रहित कर उत्पादनकर्ताओं व निवेशकर्ताओं को उधार देती है जिससे कि वे देश में उत्पादन बढ़ा सकें। उत्पादन बढ़ने से, रोजगार एंव प्रतिव्यक्ति आय बढ़ती है जिससे कि देश का विकास होता है। इसके अतिरिक्त सभी व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक की नीति अनुसार अपना कर ये निष्पादन कर देश में मौद्रिक नीति व साख नियोजन को सफल बनाने में अपना योगदान देते हैं ताकि सीमित साख एवं पूँजी का उपयोग उत्पादन, विनियोग, निर्यात आदि को बढ़ाने में किया जा सकें।

**बोध प्रश्न-2**

1. व्यापारिक बैंक कितने प्रकार व कौन से हैं?
2. व्यापारिक बैंक आर्थिक विकास में किस प्रकार योगदान देती है?

## 5.3 व्यापारिक बैंकों के कार्य (Functions of Commercial Banks)

### 5.3.1 व्यापारिक बैंकों के परम्परागत कार्य

आर्थिक विकास के साथ-साथ व्यापारिक बैंक की जिम्मेदारियाँ भी बढ़ गयी है और वे नये-नये कार्यों का निष्पादन कर रहे हैं परन्तु कुछ परम्परागत कार्य ऐसे हैं जिनका निष्पादन बैंकों ने आर्थिक विकास के सभी स्तरों पर किया है। उन्हीं कार्यो का विवेचन हम नीचे करेंगे।

**(1) जमाएँ स्वीकार करना**

व्यापारिक बैंक जनता से तीन प्रकार की जमाएँ स्वीकार करता है।

**(क) अवधि जमा खाता** इस खाते में एक, दो या पाँच वर्ष के लिये पैसा जमा किया जाता है। अवधि पूरी होने पर ही पैसा बैंक से निकाला जा सकता है। पहले निकालने पर पेनल्टी लगती है। ब्याज की दर इस खाते में अन्य खाते से अधिक होती है। जितने अधिक समय के लिये बैंक में पैसा जमा किया जाता है, ब्याज की दर उतनी ही अधिक होती है।

**(ख) चालू खाता** यह खाता विशेषकर व्यापारियों की सुविधा के लिये होता है। व्यापारी जब चाहें इसमें पैसा जमा कर सकता है और निकाल भी सकता है। चूंकि व्यापारी एक ही दिन में कई बार भी पैसा निकाल सकता है, अत:

बैंक को हमेशा इस खाते का पैसा अपने पास ही रखना पडता हैं यह बैंक के लिये एक देनदारी है। अत: इस खाते में जमा पैसे पर ब्याज की दर बहुत कम होती हैं।

**(ग) बचत खाता** इस खाते से जनता को पैसा निकालने में -हर वक्त पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं होती है। वे प्रत्येक सप्ताह एक निश्चित मुद्रा ही खाते से निकाल सकते हैं इसमें आज की दर चालू खाते से ज्यादा परन्तु सावधि जमा से कम होती है। यह खाता देश में छोटी बचतों को प्रोत्साहन देता है।

(2) **ऋण व अग्रिम राशि**

बैंक अपने पास जमा पूँजी की उधार भी देती है। इस कार्य से व्यक्तियों को अपनी आवश्यकता पूरी करने में सुविधा रहती है एवं कृषि, उद्योग एवं व्यापार को बढ़ावा मिलता है व्यापारिक बैंक निम्न विधियों से ऋण प्रदान करती है।

**(क) नकद साख** इसके अन्तर्गत बैंक जनता से प्रतिभूति राशि लेने के पश्चात ही ऋण देती है। यह ऋण एक मुश्त नहीं दिया जाता वरन् ऋण प्राप्त कर्त्ता के नाम एक खाता खोलकर उसमें जमा कर दिया जाता है। अब इस खाते से ऋण प्राप्तकर्ता आवश्यकतानुसार ऋण लेता रहता है। खाते से जितना ऋण लिया जाता है उसी पर ब्याज लिया जाता है। नकद साख भारतीय व्यापारियों में काफी प्रचलित है।

**(ख) ओवर ड्राफ्ट** यह सुविधा बैंक अपने प्रतिष्ठित ग्राहकों को देती है। इसके अन्तर्गत बैंक अपने ग्राहक को खाते में पड़ी उसकी जमा रकम से ज्यादा राशि निकालने की सुविधा देती है। मान लीजिये, यदि ग्राहक के खाते में एक लाख रूपये जमा है, तो इस सुविधा के अन्तर्गत बैंक, ग्राहक को एक लाख रूपया से ज्यादा का रूपया निकालने की अनुमति देता है।

**(ब) विनिमय बिलों की कटौती** आधुनिक बैंकों में उधार देने की यह प्रणाली बहुत प्रचलित है। यदि विनिमय बिल के धारक को जल्द ही रुपयों की आवश्यकता है तो वह इन बिलों की कटौती बैंक से करवा सकता हैं। बैंक स्वयं का कमीशन काटने के बाद विनिमय बिल के वर्तमान मूल्य को धारक को दे देता है। जब विनिमय बिल की मियाद पूरी होती है बैंक वह पैसा दूसरी पार्टी जिसने की बिल को कबूला था उससे हासिल कर लेती है।

### 5.3.2 व्यापारिक बैंकों के आधुनिक कार्य

(1) **पूँजी का निवेश करना** आधुनिक बैंक, ऋण व अग्रिम राशि उपलब्ध करवाने के अतिरिक्त अपने पास रखी अतिरिक्त पूँजी को सरकारी प्रतिभूतियों में निवेश भी एक निश्चित प्रतिशत सरकारी प्रतिभूतियों में निवेश करने के लिये बाध्य है। यद्यपि इन प्रतिभूतियों में निवेश से बैंकों को अधिक लाभ नहीं प्राप्त होता है परन्तु इस तरह के निवेश बैंक की पूँजी को तरलता प्रदान करते है। और बैंक की जोखिम को भी कम करते है।

**(2) सरकार एवं ग्राहकों के लिये एजेन्सी कार्य**

(i) बैंक सरकार व ग्राहकों को मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान हस्तान्तरण करते हैं।

(ii) बैंक अपने ग्राहकों के चैक, बिल व अन्य प्रपत्र उनके खातों में जमा करते हैं।

(iii) बैंक अपने ग्राहकों के लिये प्रतिभूतियों व शेयरों का क्रय विक्रय करते हैं। एवं इन पर प्राप्त लाभांशों को उनके खाते में जमा करते हैं।

(iv) बैंक अपने ग्राहकों की वसीयत को संभालकर रखते हैं और जरूरत पड़ने पर उन्हें क्रियान्वित करते हैं।

(v) उपरोक्त सभी कार्यो के लिये बैंक ग्राहकों से अपना कमीशन वसूल करता है।

(vi) बैंक अपने ग्राहकों को लॉकर की सुविधा उपलब्ध करवाते हैं।

(1) **कुछ अधिकृत व्यापारिक बैंक विदेशों विनिमय बैंकों के साथ विदेशों विनिमय का लेन देन भी करते है।**

(2) **कई प्रमुख व्यापारिक बैंक अपने ग्राहकों को साख कार्ड की सुविधा उपलब्ध करवाता है।** विशिष्ट स्थानों पर इन Credit Card की सहायता से ग्राहक अपना भुगतान कर सकता है और प्रत्येक समय भारी राशि अपने पास रखने का जोखिम नहीं उठाना पड़ता है।

उपर्युक्त सभी कार्यो के अतिरिक्त व्यापारिक बैंकों का एक प्रमुख कार्य साख निर्माण है, जिसका वर्णन नीचे उपलब्ध है।

**बोध प्रश्न-3**

1. व्यापारिक बैंक के प्रमुख कार्य से है?
2. व्यापारिक बैंक आमतौर पर कहां और क्यों अपने पूँजी को निवेश कराती है?

## 5.4 साख निर्माण एवं साख सृजन की प्रक्रिया (Credit Creation and Process of Credit Creation)

साख निर्माण बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य है। आधुनिक अर्थव्यवस्था में साख निर्माण का अपना अलग ही महत्व है। कीन्स, हॉम एवं सेयर्स के अनुसार साख निर्माण बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य है। इसके विपरीत कई अन्य प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री जैसे वाल्टर लीफ एवं एडविन कॉनव का मत है कि बैंक साख का निर्माण नहीं करता है।

### 5.4.1 साख निर्माण

जैसा कि सर्वविदित है जब बैंक अपने ग्राहकों को ऋण देता है, उसको ऋण की राशि नगद न देकर उसके नाम एक खाता खोलकर उसमें जमा कर दिया जाता है। इसलिये जब कभी बैंक अपने ग्राहकों को ऋणदेता है तब एक खाता खोलकर व अपनी देनदारियों को बढ़ाता है। चूंकि बैंक के खाते में उपलब्ध मुद्रा बाजार में प्रवाहित होती है, अत: जब बैंक एक नया खाता खोलता है तो अर्थव्यवस्था में मुद्रा स्टॉक में वृद्धि हो जाती है। इस तरह साख निर्माण कर, देश की मुद्रा स्टॉक में वृद्धि कर बैंक एक अर्थव्यवस्था की आर्थिक गतिविधियों पर बहुत दूरगामी प्रभाव छोडता है।

इस प्रकार खोले गये खाते को Active Deposits(क्रियाशील खाते) या Derivative Deposits (डेरिवेटिव खाते) कहा जाता है।

### 5.4.2 साख निर्माण की प्रक्रिया

सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि साख सृजन मुख्यत: दो बातों पर निर्भर करता है

(1) बैंक की नकद जमा राशि

(2) नकद रिजर्व अनुपात

बैंक अपने अनुभव से यह जानते है कि ग्राहक जो नकद राशि बैंक में जमा करवाते है, उसे एक साथ कभी नहीं निकालते। इसलिये बैंक नकद जमा का कुछ अंश अपने लाभ कमाने के लिये तत्पर रहती हैं बैंक अपने पास कितना अंश सुरक्षित रखती है वह नकद रिजर्व अनुपात पर निर्भर करता है। जिसे सामान्यत: रिजर्व बैंक निर्धारित करती हैं इसी प्रक्रिया में साख सृजन होते हैं।

नीचे हम एक एकाधिकारी बैंक के लिये साख सृजन की प्रक्रिया को स्पष्ट करेंगे।

सर्वप्रथम मान लीजिए की नकद रिजर्व अनुपात 10 प्रतिशत है और एक व्यक्ति पंजाब नेशनल बैंक (PNB) में 2000/- रूपये जमा करवाता है। पंजाब नेशनल बैंक को लेन देन चिट्ठा (Balance Sheet) निम्न होगा :

**पंजाब नेशनल बैंक का लेन देन चिट्ठा**

पंजाब नेशनल बैंक

| देनदारियाँ | लेनदारियां | |
|---|---|---|
| प्राथमिक जमा रूपये-2000/- | जमा रूपये | 2000/- |
| | नकद रिजर्व रूपये | 200/- |
| | ऋण रूपये | 1800/- |

बैंक अपनी प्राथमिक जमा रूपये 2000/- में से रिजर्व अनुपात 10 प्रतिशत अर्थात् रूपये 200/- नकद रिजर्व में रख लेगा और शेष रूपये 1800/- जो कि अतिरिक्त जमा है उसे उधार दे देगा। यह उधार देने के पश्चात् पंजाब नेशनल बैंक का लेन देन चिट्ठा निम्न होगा।

**पंजाब नेशनल बैंक**

| देनदारियाँ | लेनदारियां | |
|---|---|---|
| प्राथमिक जमा रूपये 2000/- | जमारूपये | 2000/- |
| डेरिवेटिव जमा रूपये 1800/- | ऋणरूपये | 1800/- |

मान लीजिये की पंजाब नेशनल बैंक 1800/- रूपये का उधार श्री "ए" को देती है श्री "ए' यह रूपये 1800/- श्री "बी' को अपना उधार चुकाने के लिये देता है श्री "बी' जिसका कि खाता मान लीजिये राजस्थान बैंक में है, यह पैसा अपनी बैंक में जमा करा देता है। अत: राजस्थान बैंक का लेन देन चिट्ठा निम्न होगा।

**राजस्थान बैंक**

| देनदारियाँ | लेनदारियां |
|---|---|
| प्राथमिक जमा रूपये 1800/- | जमा रूपये 1800/- |
| | नकद रिजर्व रूपये 1800/- |
| | अतिरिक्त जमा रुपये 1620/- |

उपरोक्त से विदित है कि श्री "बी' के पैसा जमा करवाने से राजस्थान बैंक की प्राथमिक जमा रूपये 1800/- बढ़ जायेगा। इस जमा का 10 प्रतिशत अथवा रूपये 180/- बैंक नकद रिजर्व में रखकर, अतिरिक्त जमा रूपये 1620/- उधार देन को स्थिति में होगा। मान लीजिये यह बैंक श्री "सी' को रूपये 1620/- उधार देती है। इस स्थिति में राजस्थान बैंक का लेन देन चिट्ठा निम्न हो जायेगा।

**राजस्थान बैंक**

| देनदारियाँ | | लेनदारियां | |
|---|---|---|---|
| प्रारंभिक जमा रूपये | 1800/- | जमा रूपये | 1800/- |
| डेरिवेटिव जमा रूपये | 1620/- | ऋणरूपये | 1620/- |

अब मान लीजिये श्री "सी' यह रूपये 1620/- श्री "डी' को उधार देता है जो अपने सेन्ट्रल बैंक में इसे जमा करवा देता है। अब सेंट्रल बैंक को देनदारियों रूपये से 1620/- से बढ़ जायेगा, और उसका लेन देन चिट्ठा निम्न होगा-

**सेन्ट्रल बैंक**

| देनदारियाँ | | लेनदारियां | |
|---|---|---|---|
| प्राथमिक जमा रूपये | 1620/- | नकद रूपये | 1620/- |
| | | नकद रिजर्व रूपये | 162/- |
| | | अतिरिक्त जमा रूपये | 1458/- |

सेन्ट्रल बैंक भी नयी रूपये 1620/ - जमा का दस प्रतिशत अथवा रूपये 162/ - नकद रिजर्व में रखकर रूपये 1458/- किसी अन्य को ऋण देने के लिये तत्पर हो जायेगा। यह क्रम चलता रहेगा। जब तक कि रूपये 1800/ - जो कि सर्वप्रथम अतिरिक्त राशि पंजाब नेशनल बैंक के साथ थी, वह कई बैंकों में वितरित न हो जाय। इसका कुल नतीजा यह होगा कि कुल नया ऋण जो दिया जायेगा वह पहली प्राथमिक जमा रूपये 2000/- का दस गुणा अधिक होगा यह प्रक्रिया नीचे दी गयी तालिका से स्पष्ट है।

**साख निर्माण की प्रक्रिया**

| बैंक का नाम | देनदारियाँ (प्राथमिक जमा)- | नकद रिजर्व | ऋण (डेरिवेटिव जमा) |
|---|---|---|---|
| पंजाब नेशनल बैंक | 2000 | 200 | 1800 |
| राजस्थान बैंक | 1800 | 180 | 1620 |
| सेन्ट्रल बैंक | 1620 | 162 | 1458 |
| यूनियन बैंक | 1458 | 145 | 1313 |

| | | | |
|---|---|---|---|
| | : | : | : |
| | : | : | : |
| | 20000 | 20000 | 18000 |

उपर्युक्त उदाहरण में नकद रिजर्व अनुपात 10 प्रतिशत है। कुल साख का निर्माण 18000/- रूपये हु आ जो सर्वप्रथम अतिरिक्त जमा रूपये 1800/- का दस गुणा है।

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट हो जाना चाहिये कि कुल साख का निर्माण कितना होगा वह नकद रिजर्व अनुपात पर निर्भर करता है। यदि नकद रिजर्व अनुपात कम है तो साख गुणा अधिक होगा और यदि नकद रिजर्व अनुपात अधिक है तो साख गुणक कम होगा। वास्तव में साख गुणक नकद रिजर्व अनुपात का विपरीत (Reciprocal) है।

हमारे उदाहरण में जब नकद रिजर्व अनुपात दस प्रतिशत था तो साख गुणक 10 था यदि नकद रिजर्व अनुपात पांच प्रतिशत होता है तो साख गुणक $\frac{1}{5}$ /100 या $1\times\frac{100}{5}$ बराबर 20 होगा। अर्थात साख निर्माण, सर्वप्रथम अतिरिक्त जमा का 20 गुणा अधिक होगा। और यदि नकद रिजर्व अनुपात 20 प्रतिशत है तो साख गुणक 1/$\frac{20}{100}$ या $1\times\frac{100}{20}$ बराबर 5 होगा। अर्थात् साख निर्माण सर्वप्रथम अतिरिक्त जमा का पाँच गुणा ही अधिक होगा।

### 5.4.3 लीफ-कानन की साख निर्माण की आलोचना

लीफ-कानन ने यह तीखी आलोचना की है कि बैंकों के पास साख निर्माण को कोई ताकत नहीं है। इन अर्थशास्त्रियों का कहना है कि वास्तव में साख निर्माण की रीति तो जमाकर्ता की है क्योंकि इन्हीं जमाकर्ताओं के पैसे का उपयोग कर बैंक साख उपलब्ध करवाता हैं इनका कहना यह भी है कि बैंक कमी भी जमाकर्ताओं द्वारा जमा की गयी पूँजी से अधिक कमी भी साख उपलब्ध नहीं करवा सकता हे।

प्रो. कानन ने उदाहरण देते हु ये बताया कि यदि मान लीजिये कि किसी क्लब में 100 व्यक्ति प्रति दिन आते है और वे अपना छाता काऊण्टर पर जमा करवा देते हैं। काउण्टर के मालिक को पता है कि सभी व्यक्ति ताश खेलेंगे और एक घंटे के भीतर सिर्फ 10 व्यक्तिओं को ही छाते की आवश्यकता पड़ सकती है। अत: वह 90 छाते को एक घंटे के लिये अन्य व्यक्तिओं को किराये पर देता है और स्वयं आय कमाता है। प्रो. कानन का मत है कि इस आधार पर कहना कि क्लब काऊण्टर का मालिक 90 छाते का निर्माता है पूरी तरह से गलत है। अत: प्रो. कानन का निष्कर्ष है कि बैंक साख का निर्माण कर्त्ता नहीं हो सकता है।

परन्तु वर्तमान में यह धारणा है कि यद्यपि एक बैंक साख का निर्माण नहीं कर सकता, परन्तु यदि देश की सम्पूर्ण बैंक व्यवस्था को देखा जाय तो साख का निर्माण अवश्य होता ह

### 5.4.4 साख सृजन की सीमाएँ

(1) बाजार में मुद्रा का प्रवाह जितना मुद्रा का प्रवाह बाजार में अधिक होगा, जनता के पास भी मुद्रा अधिक होगी इस स्थिति में वे बैंक में नकद जमा अधिक जमा करायेंगे, जिससे कि साख निर्माण भी अधिक होगा।

(2) नकद रिजर्व अनुपात जैसा कि विदित है कि नकद रिजर्व अनुपात एवं साख गुणक में विपरीत सम्बन्ध हैं अत: जब नकद, रिजर्व अनुपात अधिक होगा तो साख गुणक एवं साख निर्माण कम होगा अन्यथा इसके विपरीत होगा।

(3) केन्द्रीय बैंक की निति सभी बैंकों को केन्द्रीय बैंक के पास भी अपनी कुल जमा का एवं निश्चित प्रतिशत रखना पडता हैं। यदि केन्द्रीय बैंक इस प्रतिशत को बढ़ा देती है तो व्यापारिक बैंकों के पास जमाएँ कम हो जायेगी और उनकी साख निर्माण की क्षमता भी कम हो जायेगी।

(4) विनियोग के अनुसार विनियोग के अवसर अनुकूल होने पर हो बैंक साख सृजन अधिक कर पायेगा। यदि निवेशकर्ता कर्ज के लिये इच्छुक नहीं रहेंगे तो बैंक अपने पास साख सृजन क्षमता हुये भी साख निर्माण नहीं कर पायेगा।

इन सीमाओं के तत्पश्चात भी साख सृजन बैंकों का एक महत्वपूर्ण कार्य है। बैंक को यही साख सृजन क्षमता आर्थिक विकास में बैंक को महत्ता को बढ़ावा देती है।

**बोध प्रश्न-4**

1. साख सृजन को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला कारक कौन सा है?
2. नकद रिजर्व अनुपात एवं साख गुणक में किस तरह का सम्बन्ध है?

## 5.5 सारांश (Summary)

व्यापारिक बैंक जनता की प्राथमिक जमाओं के आधार पर उधार देकर पुन: उस राशि को अपने ही पास ग्राहक के खाते में जमा कर साख का सृजन करते हैं। व्यापारिक बैंक एक लाभ कमाने वाली संस्था है। व्यापारिक बैंक मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं (i) अनुसूचित व्यापारिक बैंक एवं (ii) गैर अनुसूचित व्यापारिक बैंक। व्यापारिक बैंक जनता से जमाएँ स्वीकार करता है एवं ऋण एवं अग्रिम के रूप में उधार देता है। आधुनिक बैंक ग्राहकों के लिए विभिन्न प्रकार के एजेन्सी कार्य भी करता है। लीफ कानन ने साख निर्माण शब्द के प्रयोग को अनुचित बताया है। परन्तु यह सही है कि बैंक साख की मात्रा में वृद्धि करते हैं, यद्यपि इसकी कुछ सीमाएँ भी है।

## 5.6 शब्दावली (Glossary)

| | |
|---|---|
| साख सृजन | Credit Creation |
| प्राथमिक जमा | Primary Deposit |
| द्वितीयक जमा | Secondary or Derived Deposits |
| साख गुणक | Credit Multiplier |
| ओवर ड्राफ्ट | Over Draft |
| बिल कटौती | Discount of Bill |

## 5.7 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference)

Mithani, D.N., 1996, Money Banking, International Trade and Public Finance, Himalaya Publishing House.

Seth, M.L., 2001, Macro Economics, Educational Publishers, Agra.

Nahuramka, 2005, Money Banking and Public Finance, College Book House, Jaipur.

## 5.8 अभ्यासार्थ प्रश्न (Unit-end Questions)

1. व्यापारिक बैंक से आपका क्या अभिप्राय है? इसके विभिन्न प्रकार कौन-कौन से है'
2. व्यापारिक बैंक के प्रमुख कार्यो का वर्णन कीजिए।
3. साख-निर्माण से आपका क्या अभिप्राय है? व्यापारिक बैंक की साख निर्माण प्रक्रिया को उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।
4. साख सृजन की प्रक्रिया एवं इसकी सीमाओं का उल्लेख कीजिए।

## 5.9 बोध प्रश्नों के उत्तर (Answers to SAQs)

बोध प्रश्न संख्या -01

1. कृषि, उद्योग एवं व्यापार क्षेत्र में बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के लिए साख की आवश्यकता बढ़ी है।
2. संस्थागत एवं गैर संस्थागत स्रोत।

बोध प्रश्न संख्या -02

1. व्यापारिक बैंक मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं। अनुसूचित व्यापारिक बैंक एवं गैर अनुसूचित व्यापारिक बैंक।
2. व्यापारिक बैंक जनता की छोटी छोटी बचतों को संग्रहित कर, बडे पैमाने पर निवेश के लिये निवेशकर्ताओं को उपलब्ध करवा कर देश के आर्थिक विकास में सहयोग देती है।

बोध प्रश्न संख्या -03

1. व्यापारिक बैंक के प्रमुख कार्य जमाएँ स्वीकार करना एवं ऋण व अग्रिम प्रदान करना है।
2. व्यापारिक बैंक आमतौर पर अपनी पूँजी सरकारी प्रतिभूतियों में निवेश करती है, जिससे बैंक को लाभ प्राप्त होता है, और जहां जोखिम भी कम होता है।

बोध प्रश्न संख्या -04

1. नकद रिजर्व अनुपात
2. विपरीत सम्बन्ध

# इकाई-6

# केन्द्रीय बैंक की प्रकृति एवं कार्य- भारत जैसे विकासशील देशों में बदलती भूमिका

# (Nature and Function of a Central Bank-Changing Role of Central Banks in Developing Countries like India)

**इकाई की रूपरेखा**

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 केन्द्रीय बैंक की प्रकृति
  6.2.1 केन्द्रीय बैंक का अर्थ एवं परिभाषा
  6.2.2 केन्द्रीय बैंक की मुख्य विशेषताएँ
  6.2.3 केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता
  6.2.4 केन्द्रीय बैंक का महत्व
  6.2.5 केन्द्रीय बैंक के निर्देशक सिद्धान्त
6.3 केन्द्रीय बैंक का स्वामित्व
6.4 केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों की तुलना
  6.4.1 समानताएँ
  6.4.2 असमानताएँ
6.5 केन्द्रीय बैंक के कार्य
  6.5.1 केन्द्रीय बैंक के प्रमुख कार्य
  6.5.2 केन्द्रीय बैंक के प्रतिबन्धित कार्य
6.6 भारत का केन्द्रीय बैंक रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया
6.7 विकासशील देशों में केन्द्रीय बैंक की भूमिका-भारत के विशेष सन्दर्भ में सारांश
6.8 शब्दावली
6.10 सन्दर्भ ग्रन्थ
6.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

## 6.0 उदेश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप समझ सकेंगे कि :

- केन्द्रीय बैंक क्या और उसकी आवश्यकता क्यों है?

- केन्द्रीय बैंक का किसी भी अर्थव्यवस्था में क्या महत्व है?
- केन्द्रीय बैंक के निर्देशक सिद्धान्त कौन से हैं?
- केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों में क्या अन्तर है?
- केन्द्रीय बैंक के प्रमुख कार्य कौन से है?
- भारत जैसे विकासशील देशों में केन्द्रीय बैंकों की क्या भूमिका है?

## 6.1 प्रस्तावना (Introduction)

वर्तमान समय में प्रत्येक देश की मौद्रिक तथा बैंकिंग अवस्था में वहाँ के केन्द्रीय बैंक का महत्वपूर्ण स्थान होता है, क्योंकि यह एक सेवा बैंक होता है जो देश के अन्य सभी बैंकों के लिये एक सच्चे मित्र, पथ-प्रदर्शक एवं दार्शनिक का कार्य करता है। इस बैंक की देश की मौद्रिक व्यवस्था तथा बैंकिंग कार्य प्रणाली को नियमित करने में महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। इसीलिए विल रोजर्स ने लिखा है कि, "मानवता के इतिहास में तीन महत्वपूर्ण आविष्कार हुए हैं- अग्नि, पहिया तथा केन्द्रीय बैंक।" विभिन्न देशों में केन्द्रीय बैंक के अलग-अलग नाम है। भारत के केन्द्रीय बैंक का नाम रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया है।

केन्द्रीय बैंकों का प्रारम्भ 1656 में स्वीडन के रिस्क बैंक की स्थापना के साथ हुआ। सन् 1694 में बैंक ऑफ इंग्लैण्ड की स्थापना हुई, जो 1844 में एक आधुनिक केन्द्रीय बैंक की जननी के रूप में उभर कर सामने आया। बाद में विश्व के अन्य देशों में भी, जैसे- 1817 में बैंक ऑफ नार्वे तथा बैंक ऑफ आस्ट्रिया, 1800 में बैंक ऑफ फ्रान्स, 1875 में जर्मनी में रिश बैंक, 1882 में बैंक ऑफ जापान तथा 1935 में भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई। आज विश्व के सभी देशों में केन्द्रीय बैंक की स्थापना हो चुकी है। 1930 की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी के बाद व्यापार चक्रों से छुटकारा पाने हेतु एक सुव्यवस्थित मौद्रिक व्यवस्था तथा सुसंगठित बैंकिंग प्रणाली के विकास की आवश्यकता महसूस होने के साथ केन्द्रीय बैंक की स्थापना करना प्रत्येक देश के लिये आवश्यक हो गया। भारत में भी 1927 में हिल्टन यंग आयोग के सुझाव पर 1 अप्रेल, 1935 को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गयी। केन्द्रीय बैंक के अर्थ एवं प्रकृति के बारे में आप इस इकाई के खण्ड 6.2 में अध्ययन करेंगे। इस इकाई में केन्द्रीय बैंक एवं व्यापारिक बैंकों की तुलना करने के बाद आपको खण्ड 6.5 में केन्द्रीय बैंक के प्रमुख कार्यो से अवगत कराया जाएगा। इसके बाद भारत के केन्द्रीय बैंक जिसे रिजर्व बैंक कहा जाता है से आपको परिचित कराया गया है। खण्ड 6.7 में भारत के विशेष सन्दर्भ में केन्द्रीय बैंक की विकासशील देशों में भूमिका स्पष्ट की गई है। इकाई के अन्त में सारांश, शब्दावली, सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची तथा अभ्यासार्थ प्रश्न दिए गए हैं।

## 6.2 केन्द्रीय बैंक की प्रकृति (Natural of Central Bank)

केन्द्रीय बैंक की प्रकृति को भली-भांति समझने के लिए केन्द्रीय की परिभाषा, इसकी मुख्य विशेषताएँ, इसकी आवश्यकता एवं महत्व तथा इसके निर्देशक सिद्धान्तों का अध्ययन करना आवश्यक है।

### 6.2.1 केन्द्रीय बैंक का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of a Central Bank)

विभिन्न विद्वानों ने केन्द्रीय बैंक को उसके कार्यों के आधार पर परिभाषित किया है चूँकि केन्द्रीय बैंक के कार्यो में समय-समय पर परिर्वतन होते रहे हैं, इसलिए विभिन्न विद्वानों ने अपनी परिभाषाओं में भिन्न-भिन्न कार्यो को महत्व दिया है

- **वेरा स्मिथ के अनुसार**, ' 'केन्द्रीय बैंकिंग से आशय उस बैंकिंग प्रणाली से है जिसके अन्तर्गत किसी एक बैंक को नोट प्रचलन का पूर्ण अथवा अवशेष अधिकार प्राप्त होता है।"
- **शॉ के अनुसार,** "केन्द्रीय बैंक बह बैंक है जो साख को नियन्त्रित करता है। '
- **हाट्रे के शब्दों में**, 'केन्द्रीय बैंक बैंकों का बैंक है, क्योंकि यह अन्य बैंकों के अन्तिम ऋणदाता का कार्य करता है। "
- **क्राउथर के अनुसार** "केन्द्रीय बैंक का अन्य बैंकों के साथ ठीक वही सम्बन्ध होता है जैसा स्वयं अन्य बैंकों का जनता के साथ होता है।"
- **केन्ट के शब्दों में.** "केन्द्रीय बैंक को एक ऐसी संस्था के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसे जन-हित में मुद्रा की मात्रा के विस्तार तथा संकुचन का कार्य दिया गया है।"
- **प्रो. सेयर्स के विचारानुसार,** "केन्द्रीय बैंक सरकार का वह अंग है जो सरकार के प्रमुख वित्तीय संस्थाओं के व्यवहार को ऐसे ढंग से प्रभावित करता है जिससे सरकार की आर्थिक नीति का समर्थन हो।"
- **डी. कॉक के मतानुसार,** ' 'केन्द्रीय बैंक वह बैंक है जो मौद्रिक एवं बैंकिंग रचना के शीर्ष पर बनाया जाता है।" बैंक ऑफ इन्टरनेशनल सेटलमेण्ट के मत में केन्द्रीय बैंक देश की साख मुद्रा पर नियन्त्रण रखने बाला बैंक है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि केन्द्रीय बैंक के कार्य व्यापक है और यह देश में सर्वोच्च बैंक के रूप में जाना जाता है। अत: इसकी सबसे उपयुक्त परिभाषा इस प्रकार से की जा सकती है, "केन्द्रीय बैंक से तात्पर्य उस बैंक से है जो देश की मौद्रिक एवं बैंकिंग व्यवस्था की सर्वोच्च संस्था है तथा जो राज्य के अधीन देश के सम्पूर्ण आर्थिक विकास हेतु अन्य बैंकों पर आदेश द्वारा नियन्त्रण का कार्य करता है।" इन कार्यो को करने के लिए सरकार द्वारा केन्द्रीय बैंक को कई अधिकार दिये जाते हैं तथा इन अधिकारों का दुरूपयोग न हो इसके लिए भी सरकार द्वारा केन्द्रीय बैंक पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं।

### 6.2.2 केन्द्रीय बैंक की मुख्य विशेषताएँ (Main Characteristics of Central Bank)

केन्द्रीय बैंक की मुख्य विशेषताएँ निम्न लिखित हैं :

**(1) केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य लाभ अर्जित करना नही होता** केन्द्रीय बैंक का मुख्य उद्देश्य अन्य बैंकों की तरह लाभ प्राप्त करना न होकर केवल राष्ट्र-हित होता है, चाहे उससे बैंक को लाभ हो या हानि। जब केन्द्रीय बैंक पर स्वामित्व सरकार का नहीं होता तब बैंक के अंशधारियों को मिलने वाला, लाभांश विधान द्वारा नियत किया जाता है, ताकि लोभ वश बैंक कोई ऐसा कार्य न कर पाये जिससे देश का हित ने हो।

(2) **केन्द्रीय बैंक का सरकार से एक विशेष सम्बन्ध होता है** प्रत्येक देश की सरकार का मुख्य उद्देश्य वहां के देशवासियों के जीवन को सुखी बनाना होता है। उस देश के आर्थिक विकास का आधार सरकारी नीति ही होती है। इसीलिये सरकार देश के आर्थिक विकास के लिये विभिन्न प्रकार की योजनाएँ बनाती है और इन योजनाओं के लिये समुचित अर्थ- प्रबन्ध की आवश्यकता होती है। साथ ही देश में मुद्रा तथा साख के उचित नियन्त्रण की भी जरूरत होती है। इन सभी उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिये सरकार तथा केन्द्रीय बैंक में पूर्ण सहयोग तथा समन्वय की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि सामान्यत: सभी देशों में केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण किया गया है।

(3) **केन्द्रीय बैंक साधारण व्यापारिक बैंकों से प्रतिस्पर्धा नहीं करता** देश में बैंकिंग प्रणाली को सुचारू रूप से संचालित करने के लिये आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों से प्रतियोगिता न करें क्योंकि केन्द्रीय बैंक तो अन्य बैंकों का मार्गदर्शन, निर्देशक तथा संकट के समय का सच्चा मित्र होता है।

(4) **सरकार द्वारा विशेषाधिकार** केन्द्रीय बैंक अपने कार्यो को सुचारू रूप से पूर्ण कर सकें, इसके लिये सरकार उसे कुछ विशेषाधिकार देती है, जो अन्य बैंकों को प्राप्त नहीं होते। इन अधिकारों में पत्र मुद्रा निर्गमन का एकाधिकार, सरकारी धन का संरक्षण, चलन विधि को व्यवस्थित करना, अन्य बैंकों की जमाएँ रखना, अन्य बैंकों को आर्थिक सुविधाएँ देना आदि प्रमुख है। अत: केन्द्रीय बैंक सरकार ताकि अन्य बैंकों के बैंकर के रूप में कार्य करता है।

(5) **राजनैतिक प्रभावों से स्वतन्त्र** केन्द्रीय बैंक के सिद्धान्त विशुद्ध आर्थिक होते हैं। इसलिए राजनैतिक प्रभाव केन्द्रीय बैंक के कार्यो को अधिक प्रभावित नहीं करते है।

### 6.2.3 केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता (Need of the Central Bank)

केन्द्रीय बैंक की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर स्पष्ट होता है कि प्रत्येक देश को अपने समुचित आर्थिक विकास के लिये, साख प्रणाली का नियमन तथा नियन्त्रण करने के लिये, मौद्रिक नीति तथा बैंकिंग प्रणाली को सुव्यवस्थित रूप से करने के लिये एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता होती है। केन्द्रीय बैंक की स्थापना के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं :

(1) **नोट निर्गमन का कार्य** पत्र मुद्रा मान के प्रारम्भ के साथ ही इसके समुचित संचालन व नियमन हेतु केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता महसूस की गयी। अत: सभी देशों में केन्द्रीय बैंक की स्थापना पर विशेष जोर दिया गया।

(2) **साख नियन्त्रण एवं नियमन** देश की अर्थव्यवस्था को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिये साख निर्माण के साथ-साथ उसका उचित नियंत्रण तथा नियमन भी आवश्यक होता है। केन्द्रीय बैंक अपनी साख नियंत्रण नीति में लोचता लाकर अर्थव्यवस्था के स्थगित हेतु साख निर्माण योगदान करता है।

(3) **मौद्रिक नीति की सफलता हेतु** सरकार की मौद्रिक नीति को सफल बनाने के लिये केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता होती, जो अर्थव्यवस्था को सही दिशा व वांछित गति प्रदान करने तथा उत्पादन, व्यापार और रोजगार में आने वाले उच्चावचनों को नियन्त्रित कर सके।

(4) **बैंकिंग प्रणाली के विकास हेतु** केन्द्रीय बैंक देश का सर्वोच्च बैंक तथा बैंकों का बैंक होता है। वह अन्य बैंकों के लिये पथ-प्रदर्शक, दार्शनिक तथा सच्चे मित्र का कार्य करता है। साथ ही बैंकिंग प्रणाली के उचित विकास तथा संचालन हेतु अन्य बैंकों को समय समय पर आवश्यकता के अनुसार निर्देशित करता रहता है। यह एक ओर अन्य बैंकों पर नियन्त्रण रखता है तो दूसरी ओर यह आर्थिक संकट काल में उन्हें सहायता भी पहुँचता है।

(5) **अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय समस्याओं का समाधान हेतु** आज के युग में विदेशी व्यापार में लगातार वृद्धि बढ़ते अन्तरराष्ट्रीय ऋण एवं सहयोग तथा प्रतिस्पर्धा से अनेक द्वितीय समस्याओं का उदय हुआ है। इसका समाधान किसी देश का केन्द्रीय बैंक आसानी से कर सकता है।

### 6.2.4 केन्द्रीय बैंक का महत्व (Importance of Central Bank)

केन्द्रीय बैंक की परिभाषाओं तथा इसकी स्थापना के कारणों के अध्ययन से केन्द्रीय बैंक का महत्व स्वत: ही स्पष्ट हो जाता है। केन्द्रीय बैंक का महत्व निम्न प्रकार से है

(1) किसी देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा उस देश की सरकार के निर्देशानुसार नोट निर्गमन का कार्य समुचित ढंग से किया जाता है जिससे राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय लेन-देनों में सुविधा रहती है।

(2) केन्द्रीय बैंक साख निर्माण, उसका उचित नियमन तथा नियन्त्रण करके देश में आर्थिक विकास में योगदान देते है

(3) केन्द्रीय बैंकिंग प्रणाली का विकास तथा नियन्त्रण करता है। यह बैंक अन्य बैंकों के लिये एक सच्चे मित्र, दार्शनिक तथा पथ प्रदर्शक के रूप में कार्य करता है तथा उन्हें आर्थिक संकट के समय सुरक्षा भी प्रदान करता है।

(4) किसी देश की सरकार की मौद्रिक नीति के सफल क्रियान्वयन में केन्द्रीय बैंक का महत्वपूर्ण योगदान रहता है।

(5) किसी देश के निवासियों का आर्थिक कल्याण केन्द्रीय बैंक की उचित नीति पर निर्भर करता है।

(6) केन्द्रीय बैंक राजनैतिक प्रभावों से मुक्त होने के कारण देश हित में कार्य कर सकते हैं।

(7) देश में आय, उत्पादन, रोजगार तथा व्यापार में आने वाले उतार-चढावों को रोकने में केन्द्रीय बैंक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

(8) अपने दायित्वों तथा अधिकारों के प्रयोग करने हेतु केन्द्रीय बैंक को सम्पूर्ण अधिकार सरकार से प्राप्त होते हैं।

(9) केन्द्रीय बैंक देश में स्वर्ण एवं विनिमय कोषों का संरक्षक होता है।

(10) आधुनिक अन्तरराष्ट्रीय वित्त व्यवस्था का आधार भी केन्द्रीय बैंक ही है।

(11) केन्द्रीय बैंक मुद्रा, बैंकिंग तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी आँकडों और सूचनाओं का प्रकाशन करता है, जो सरकार की नीतियों के निर्धारण में सहायक होते हैं।

(12) केन्द्रीय बैंक निकासी गृह के रूप में भी कार्य करते है जिसके माध्यम से विभिन्न बैंकों के पारस्परिक भुगतानों का निपटारा आसान हो जाता है।

### 6.2.5 केन्द्रीय बैंक के निर्देशक सिद्धान्त (Guiding Principles of a Central)

केन्द्रीय बैंक का स्वरूप, संगठन, उद्देश्य लाभ अर्जित करना न होकर राष्ट्रीय कल्याण में वृद्धि करना होता है। केन्द्रीय बैंक के उद्देश्यों में भिन्नता के कारण ही उसके निर्देशक सिद्धान्त भी भिन्न होते हैं।

(1) **राष्ट्रीय हित तथा लोक कल्याण की भावना** केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य अपने आर्थिक लाभ को अधिकतम करना न होकर राष्ट्रीय कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपने कार्यो को पूर्ण करना होता है।

(2) **मौद्रिक एवं वित्तीय स्थिरता** केन्द्रीय बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी होता है कि यह देश में मौद्रिक तथा वित्तीय स्थिरता बनाये रखने में सहायता करें। इसके लिये यह बैंक मुद्रा, साख, विदेशी विनिमय तथा सार्वजनिक ऋण आदि के नियमन हेतु ऐसी नीति अपनाता जिससे देश में मौद्रिक तथा वित्तीय स्थायित्व कायम रहे और अर्थव्यवस्था को अस्त-व्यस्त होने से बचाया जा सके।

(3) **निष्पक्ष नीति** केन्द्रीय बैंक के लिये यह आवश्यक होता है कि वह किसी राजनैतिक वर्ग अथवा किसी समुदाय विशेष का पक्षपात करते हुए वित्तीय नीति का निर्धारण न करें वरन् समस्त राष्ट्र के हित में निष्पक्ष नीति अपनाये। लेकिन यह बैंक अपने अधिकारों तथा साधनों का अनुचित प्रयोग न करें तथा सरकार और केन्द्रीय बैंक की नीतियों में समन्वय बना रहें इसके लिये इन पर उचित सरकारी नियंत्रण होना चाहिये।

इसी भावना को ध्यान में रखते हुए सभी देशों में केन्द्रीय बैंक का सरकार के अधिकार में रहना अब अच्छा माना जाने लगा है।

(4) **मुद्रा चलन का अधिकार** नोट निर्गमन का अधिकार केवल केन्द्रीय बैंक को ही होना चाहिये। ऐसा होने पर ही देश में मौद्रिक तथा साख प्रणाली का उचित नियमन तथा नियंत्रण किया जा सकता है और देश में आने वाले उच्चावचनों को रोका जा सकता है।

(5) **साधारण बैंकिंग कार्यों से अलग** केन्द्रीय बैंक का जनता से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता। इसका समस्त व्यवहार सरकार तथा वाणिज्य बैंकों से होना चाहिये। केन्द्रीय बैंक द्वारा साधारण बैंकिंग कार्य करने पर केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों में प्रतिस्पर्धा उत्पन्न होने की संभावना रहती है, जो बैंकिंग प्रणाली के विकास के लिये घातक सिद्ध होगी।

साधारण बैंकिंग कार्य करने पर अधिक लाभ प्राप्ति के लालच में केन्द्रीय बैंक मुद्रा स्फीति की नीति अपना सकता है। इस बैंक को अपना हिसाब-किताब भी अलग रखना होगा क्योंकि केन्द्रीय बैंकिंग कार्यो से प्राप्त आय पर प्राय: सरकार का अधिकार होता है, जबकि व्यवसायिक कार्यो से प्राप्त लाभ पर स्वयं बैंक का अधिकार होता है। इसलिए यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि केन्द्रीय बैंक को सिर्फ केन्द्रीय बैंक के ही कार्य करने चाहिये। यद्यपि कुछ देशों में केन्द्रीय बैंक साधारण बैंकिंग के कार्य भी करते हैं।

(6) **विशेषाधिकार** केन्द्रीय बैंक को अपने दायित्वों का सफलता पूर्वक निर्वाह करने के लिय कुछ विशेषाधिकार दिये जाते हैं।

## 6.3 केन्द्रीय बैंक का स्वामित्व (Ownership of the Central Bank)

केन्द्रीय बैंक का स्वामित्व अनेक प्रकार का हो सकता है। प्रो. डी. कॉक ने स्वामित्व के आधार पर विश्व के केन्द्रीय बैंकों को सात बनो में विभाजित किया है

1. ऐसे केन्द्रीय बैंक जिनकी कुल पूँजी सरकारी हो सकती है
2. ऐसे केन्द्रीय बैंक जिनकी समस्त पूँजी व्यक्तिगत अंशधारियों द्‌वारा प्रस्तुत की जाती है,
3. ऐसे केन्द्रीय बैंक जिनकी कुल पूंजी व्यापारिक बैंकों द्‌वारा प्रदान की जाती है,
4. ऐसे केन्द्रीय बैंक जिनकी पूँजी सरकारी तथा व्यक्तिगत अंशधारियों की सम्मिलित पूँजी हो,
5. ऐसे केन्द्रीय बैंक जिनकी पूँजी सरकारी तथा व्यापारिक बैंकों दोनों द्‌वारा प्रदान की जाती है,
6. ऐसे केन्द्रीय बैंक जिनकी कुल पूँजी सरकार, व्यक्तिगत अंशधारियों तथा व्यापारिक बैंकों द्‌वारा दी जाती है,
7. ऐसे केन्द्रीय बैंक जिनकी समस्त पूँजी व्यक्तिगत अंशधारियों तथा व्यापारिक बैंकों की संयुक्त रूप से हो।

मुख्य रूप से केन्द्रीय बैंक का स्वामित्व सरकारी हो सकता है अथवा गैर सरकारी। प्रारम्भ में अधिकांश देश गैर सरकारी स्वामित्व वाले केन्द्रीय बैंक के पक्ष में थे। परन्तु 1930 की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी और उसके बाद द्‌वितीय महायुद्ध से उत्पन्न समस्याओं का समाधान करने हेतु मौद्रिक नीति का महत्व बढ़ता गया, जिससे केन्द्रीय बैंकिंग के सरकारी स्वामित्व की विचारधारा बलवती होती गयी और कई देशों में गैर सरकारी स्वामित्व बाले केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर सरकारी स्वामित्व में ले लिये गये हैं।

केन्द्रीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण की इस प्रवृत्ति के बावजूद विगत वर्षो में सरकार तथा केन्द्रीय बैंक के माध्य सम्बन्धों में परस्पर विरोध शुरू हो गया है। इसी कारण केन्द्रीय बैंक के गैर सरकारी स्वामित्व के पक्ष में तथा गैर सरकारी स्वामित्व के विपक्ष अथवा सरकारी स्वामित्व के पक्ष में अनेक तर्क दिये जाते हैं।

केन्द्रीय बैंक के गैर सरकारी स्वामित्व के पक्ष में तर्क देने दालों का मानना है कि यदि केन्द्रीय बैंक का सरकारी स्वामित्व होगा तो यह आवश्यक नहीं है कि उसका प्रबन्ध उन लोगों के हाथों में होगा जिनको बैंकिंग समस्याओं के सम्बन्धित विशेषज्ञता प्राप्त हो। यह भी संभव है कि केन्द्रीय बैंक देश की व्यवसायिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के साधन होने के बजाय सत्तारूढ़ राजनीतिक दलों की नीति का शिकार हो जाये। इस तरह केन्द्रीय बैंक की प्रबन्ध व्यवस्था अकुशल हो सकती है। अधिकांशत: यह भी देखने में आया कि सरकारी कर्मचारियों पर अकुशलता तथा लाल फीताशाही का दोषारोपण भी किया जाता है। इसलिये कई देशों में यह भी सोचा जाने लगा है कि जनमत के अनुसार केन्द्रीय बैंक को सरकार के अनावश्यक दबाव से संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिये।

इसी तरह केन्द्रीय बैंक के सरकारी स्वामित्व के पक्ष में भी कई प्रकार के तर्क दिये जाते हैं और केन्द्रीय बैंक के गैर सरकारी स्वामित्व के पक्ष में दिये गये तर्कों को निराधार बताया जाता है क्योंकि कई देशों जैसे इंग्लैण्ड, फ्रान्स, स्वीडन, कनाडा तथा भारत आदि देशों में केन्द्रीय बैंक सरकारी स्वामित्व में रहकर बड़ी कुशलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं।

केन्द्रीय बैंकों के सरकारी स्वामित्व के पक्ष में दिये जाने वाले तर्क इस प्रकार हैं :-

(1) यदि केन्द्रीय बैंकों पर अंशधारियों का स्वामित्व होगा तो हो सकता है कि केन्द्रीय बैंक सार्वजनिक हितों की उपेक्षा करके अंशधारियों के व्यावसायिक लाभों की पूर्ति करने में लग जाय। इसलिए इस पर सरकारी स्वामित्व ही अधिक उपयुक्त रहता है।

(2) केन्द्रीय बैंक का सरकारी बैंकर होने से सरकार से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। ऐसी स्थिति में इस पर सरकारी स्वामित्व होने की से कई प्रकार की सुविधा रहती है।

(3) केन्द्रीय बैंक के कार्य इस प्रकार के हैं जिनमें लाभ कमाने का उद्देश्य न होते हुए भी बहुत लाभ होता है। केन्द्रीय बैंक द्वारा अर्जित इस लाभ को सरकारी खजाने में हस्तांतरित कर दिया जाता है। अत: इस पर सरकारी स्वामित्व होना अधिक उचित है।

(4) वर्तमान में देश में आर्थिक विकास तथा स्थायित्व की प्राप्ति के लिये मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियों का अधिकाधिक प्रयोग किया जाने लगा है। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने में इन दोनों नीतियों में तालमेल होना आवश्यक है और यह तभी संभव है जब केन्द्रीय बैंक पर सरकारी स्वामित्व हो।

(5) आज प्रत्येक देश में आर्थिक नियोजन अपनाते समय मुद्रा, विदेशी व्यापार तथा विनिमय, सार्वजनिक ग्रहण सम्बन्धी समस्याओं में वृद्धि होती जा रही है। केन्द्रीय बैंक पर गैर सरकारी स्वामित्व होने की दशा में केन्द्रीय बैंक तथा सरकारी विचारों में मतभेद भी हो सकता है। अतएव देश के आर्थिक विकास की जटिल समस्याओं के समाधान आसानी से करने हेतु इस पर सरकारी स्वामित्व होना ही उपयुक्त रहता है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि केन्द्रीय बैंक पर सरकारी स्वामित्व होना ही अधिक लाभप्रद रहता है। यही कारण है कि वर्तमान समय में जो नये केन्द्रीय बैंक स्थापित किये जा रहे हैं वे पूर्णत: सरकारी स्वामित्व वाले हैं। यही नहीं पहले जो निजी स्वामित्व वाले केन्द्रीय बैंक थे, उन्हें भी सरकारी स्वामित्व में ले लिया गया है। अत: आज हर केन्द्रीय बैंक, चाहे उस पर स्वामित्व किसी का भी हो, वह सरकारी नियन्त्रण में हो कार्य करता है। सरकार भी उन पर बराबर निगरानी रखती है ताकि बैंक अपनी मनमानी नहीं कर सकें।

## 6.4 केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों की तुलना (Comparison between Central Bank and Commercial Banks)

केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों में समानताएँ भी है और असमानताएँ भी। पहले हम इन दोनों में समानताओं का अध्ययन करेंगें, उसके बाद इनमें असमानताओं का।

### 6.4.1 समानताएँ केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों में कुछ समानताएँ इस प्रकार हैं:

(1) केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंक दोनों ही न में व्यवसाय करते हैं दोनों ही प्रकार के बैंक मूल रूप से मुद्रा का व्यवसाय करने वाली संस्थाएँ हैं। केन्द्रीय बैंक जहाँ मुद्रा का निर्माण करता है, वहाँ व्यापारिक बैंक भी मुद्रा का लेन देन करते हैं।

(2) दोनों साख का निर्माण करते हैं दोनों प्रकार के बैंकों द्वारा अलग-अलग तरीकों से साख का निर्माण करते हैं। जब केन्द्रीय बैंक अपर्याप्त प्रतिभूतियों के आधार पर पत्र मुद्रा का निर्गमन

करता है तो यह एक तरह से साख निर्माण ही करता है। इसी तरह व्यापारिक बैंक व्युत्पन्न जमाओं के आधार पर साख का निर्माण करते हैं।

(3) दोनों तरह के बैंकों को अचल सम्पत्ति के आधार पर ऋण नहीं देना चाहिये दोनों ही प्रकार के बैंकों को न तो अचल सम्पत्ति के आधार पर ऋण देना चाहिये और न ही दीर्घकालीन ऋण देने चाहिये। विशेष रूप से केन्द्रीय बैंक को दीर्घकालीन ऋण बिल्कुल नहीं देने चाहिये क्योंकि ऐसा करने पर इन बैंकों की परिसम्पत्तियों की तरलता कम हो जायेगी जो बैंक के हित में नहीं होगी।

(4) दोनों प्रकार के बैंकों को अल्पकालीन ऋण ही देने चाहिये दोनों प्रकार के बैंकों को कम समय के लिये ही ऋण देने चाहिए, ताकि उनकी परिसम्पत्तियों की तरलता बनी रह सके।

### 6.4.2 असमानताएं दोनों प्रकार के बैंकों निम्नलिखित असमानताएँ पायी जाती हैं

(1) **संख्या** किसी भी देश में केन्द्रीय बैंक एक मात्र होता है जबकि व्यापारिक बैंक अनेक होते हैं।

(2) **उद्देश्य** केन्द्रीय बैंक का मुख्य उद्देश्य जनता के हित में मौद्रिक तथा बैंकिंग व्यवस्था को नियन्त्रित कर आर्थिक स्थिरता को प्राप्त करना होता है, लाभ कमाना तो इसका गौण उद्देश्य होता है जबकि व्यापारिक बैंकों का लाभ प्राप्त करना ही मुख्य उद्देश्य होता है जिसे अंशधारी प्राप्त करते हैं यही कारण है कि व्यापारिक बैंक अपने अतिरिक्त धन को जोखिम पूर्ण कार्यो में लगाने में भी नहीं हिचकिचाते हैं।

(3) **क्षेत्र** केन्द्रीय बैंक का जनता से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता जबकि व्यापारिक बैंक जनता के बैंक होते हैं और जनता से प्रत्यक्ष व्यवसाय करते हैं।

(4) **नोट निर्गमन का कार्य** केन्द्रीय बैंक को नोट निर्गमन का पूर्ण या आंशिक एकाधिकार प्राप्त होता है जबकि व्यापारिक बैंकों को प्राय: इस प्रकार का कोई अधिकार नहीं होता है।

(5) **सरकार को बैंकर** केन्द्रीय बैंक अधिकांशत: सरकारी बैंकर होता है जो सरकार के सभी प्रकार के कोषों को संरक्षित रखता है वह सरकार की और से भुगतान भी करता है और सार्वजनिक ऋणों की व्यवस्था भी करता है। परन्तु व्यापारिक बैंकों को ये सुविधाएँ नहीं होती है।

(6) **ऋणदाता** केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों के अन्तिम ऋणदाता के रूप में कार्य करते हैं। आवश्यकता होने पर व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक से ही ऋण लेते हैं जबकि व्यापारिक बैंक जनता के लिये ऋणदाता का कार्य करते है।

(7) **सर्वोच्च बैंक** केन्द्रीय बैंक देश की बैंकिंग व्यवस्था का शीर्ष बैंक होता है। इसलिये इसे बैंकों का बैंक भी कहते हैं जबकि व्यापारिक बैंक चाहे कितना भी बड़ा हो, देश की बैंकिंग प्रणाली में एक इकाई मात्र होता है और केन्द्रीय बैंक के नियंत्रण में कार्य करता है।

(8) **मौद्रिक नीति** केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति स्वतंत्र तथा क्रियाशील होती है जिसे अर्थव्यवस्था के नियमन तथा नियन्त्रण के हथियार के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। इसके विपरीत व्यापारिक बैंकों की कोई स्वतन्त्र मौद्रिक नीति नहीं होती, वे तो केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्धारित मौद्रिक नीति के क्रियान्वयन में योगदान करते हैं।

(9) **साख पर नियंत्रण** केन्द्रीय बैंक देश में आवश्यकता के अनुसार कई तरीकों से साख का नियमन तथा नियंत्रण करते हैं इसके विपरीत व्यापारिक बैंक साख का निर्माण करते हैं न कि साख नियंत्रण। उल्टे केन्द्रीय बैंक द्वारा इन बैंकों की साख का नियंत्रण किया जाता है।

(10) **स्थापना** वर्तमान में केन्द्रीय बैंक सरकारी स्वामित्व में एक विशेष अधिनियम के तहत स्थापित किये जाते हैं जबकि व्यापारिक बैंकों का निर्माण अधिकांशत: संयुक्त पूँजी कम्पनियों के रूप में स्थापित किये जाते हैं। भारत में व्यापारिक बैंकों की स्थापना बैंकिंग कम्पनी अधिनियम 1949 के अन्तर्गत होती है। हमारे देश में भी कई व्यापारिक बैंकों को भी सरकार ने राष्ट्रीयकरण कर अपने स्वामित्व में ले लिया है।

(11) **विशेषाधिकार** केन्द्रीय बैंक को अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन करने हेतु विशेषाधिकार दिये जाते हैं जबकि व्यापारिक बैंकों को कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होते।

**बोध प्रश्न - 01**

1. केन्द्रीय बैंक से आपका क्या आशय है ?
2. भारत के केन्द्रीय बैंक का पुरा नाम क्या है इसकी स्थापना कब हुई ?
3. केन्द्रीय बैंक के प्रमुख उद्देश्य बताइए
4. केन्द्रीय बैंक के निर्देशक सिद्धांत कौन - कौन से है ?

## 6.5 केन्द्रीय बैंक के कार्य (Functions of a Central Bank)

केन्द्रीय बैंक के कार्यो का अध्ययन दो भागों में वर्गीकृत कर किया जा सकता है :

### 6.5.1 केन्द्रीय बैंक के प्रमुख कार्य, (Main Functions of a Central Bank)

कई परिभाषाओं का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि केन्द्रीय बैंक के अनेक कार्य होते हैं, जो सभी अपनी-अपनी जगह महत्व होते है। किसी विद्वान ने केन्द्रीय बैंक के किसी एक कार्य को अधिक महत्व दिया है तो दूसरे विद्वान ने किसी अन्य कार्य को महत्वपूर्ण बताया है। वर्तमान में एक केन्द्रीय बैंक जिन कार्यो को सम्पादित करना है, उनका अध्ययन इस प्रकार से किया जा सकता है :

**(1) नोट निर्गमन का एकाधिकार (Monopoly of Note Issue)**

19 वीं शताब्दी में व्यापारिक बैंकों को नोटों के निर्गमन का अधिकार प्राप्त था, परन्तु व्यापारिक बैंकों द्वारा नोट जारी करने में कई कमियाँ महसूस की गयी, जैसे:

(i) इनके नोटों में एकरूपता का अभाव था, क्योंकि जब एक देश में कई व्यापारिक बैंक होंगे और सभी बैंकों द्वारा नोट जारी किये जाने का कार्य किया जाने लगा तो नोटों में भिन्नता होना स्वाभाविक था। इसके परिणामस्वरूप विनिमय प्रणाली में कई जटिलताएँ उत्पन्न होने लगी। इसलिये आवश्यक माना जाने लगा कि नोटों में एकरूपता होनी चाहिये और उसकी मात्रा पर भी उचित नियंत्रण रहना चाहिये। अत: नोट निर्गमन का कार्य पूर्ण या आंशिक रूप से एक बैंक को देना उचित समझा गया।

(ii) प्रत्येक व्यापारिक बैंक अपनी साख के अनुसार ही नोट जारी करता था, जिससे इसके द्वारा जारी किये गये नोटों की मात्रा भी सीमित ही रहती थी।

(iii) कभी-कभी ये व्यापारिक बैंक अपने ही द्वारा जारी किये गये नोटों को मुद्रा में बदलने में असमर्थ रहते थे।

इसलिये यह समझा जाने लगा कि व्यापारिक बैंकों के द्वारा नोटों के निर्गमन का कार्य असन्तोषप्रद हैं यही कारण रहा है कि कुछ समय के लिये सरकार ने नोटों के निर्गमन का कार्य अपने हाथों में ले लिया था, परन्तु यह प्रणाली भी लाभप्रद सिद्ध नहीं हुई, क्योंकि उस प्रणाली में लोच का अभाव था जिसके परिणामस्वरूप देश में मौद्रिक आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा का निर्गमन नहीं हो पाता था। इसलिए अनुभव किया जाने लगा कि देश का केन्द्रीय बैंक ही इस कार्य को करने के लिये उपयुक्त संस्था हे। कई देशों में या तो पहले से स्थापित व्यापारिक बैंकों में से किसी एक बैंक को केन्द्रीय बैंक बना दिया गया अथवा एक नये बैंक की स्थापना केन्द्रीय बैंक के रूप में की गयी, जिसे नोट निर्गमन का एकाधिकार दिया गया। 19 वीं शताब्दी के अन्त में विश्व के सभी देशों में केन्द्रीय बैंक का यह कार्य इतना महत्वपूर्ण माना जाने लगा कि निर्गमन बैंक कहा जाने लगा।

आज विश्व के सभी देशों में अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा का चलन है और चलन मुद्रा की मात्रा तथा साख में घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण सभी देशों में पत्र मुद्रा निर्गमन का कार्य केन्द्रीय बैंक को सौंपा जाता है। इसी कारण अधिकांश केन्द्रीय बैंकों ने अपने कार्यो को दो विभागों में बाँट रखा है

(अ) बैंकिंग विभाग और (ब) निर्गमन विभाग। भारत में भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को नोट निर्गमन का एकाधिकार प्राप्त है। इस बैंक का एक विशेष निर्गमन दिमाग वर्तमान में न्यूनतम कोष प्रणाली के आधार पर केवल 200 करोड़ रूपये मूल्य कोष रखकर ही असीमित मात्रा में नोट निर्गमन कर सकता हैं। इस न्यूनतम कोष में 115 करोड़ रूपये के स्वर्ण तथा स्वर्ण सिक्के तथा 85 करोड़ रूपये मूल की विदेशी प्रतिभूतियों, जिसे शून्य तक घटाया जा सकता है, को अपने पास रखकर 2,5,10,20,50,100,500, तथा 1000 के नोटों का निर्गमन करता है। 5000 तथा 10000 जैसे बडे नोटों का निर्गमन 1977 से बन्द कर दिया गया है। साथ ही एक रूपये के नोट का निर्गमन केन्द्र सरकार के वित्त मंत्रालय द्वारा किया जाता हे।

- **केन्द्रीय बैंक द्वारा ही नोट निर्गमन करने के कई लाभ है :**

(i) **मुद्रा प्रणाली में एकरूपता और नियंत्रण** नोट निर्गमन का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को प्राप्त होने पर देश की मुद्रा प्रणाली में समानता तथा एकरूपता आ जाती है। पत्र मुद्रा की मात्रा पर आसानी से नियंत्रण रखा जा सकता है। साथ ही एकरूपता होने से विनिमय में भी सुविधा रहती हे।

(ii) **साख पर नियंत्रण** केन्द्रीय बैंक द्वारा व्यापारिक बैंकों की साख निर्माण की शक्ति को नियंत्रित किया जा सकता है, क्योकि इन बैंकों द्वारा साख मुद्रा का सृजन अन्ततः कागजी मुद्रा पर ही निर्भर करता है। अतः केन्द्रीय बैंक चलन मुद्रा पर नियंत्रण कर साख को नियंत्रण कर सकता है।

(iii) **मुद्रा प्रणाली में लोच** केन्द्रीय बैंक को देश की मुद्रा की पूर्ति में होने वाले परिवर्तनों की पूर्ण जानकारी रहती है। अतः मुद्रा की मात्रा को आवश्यकतानुसार परिवर्तित कर यह बैंक देश की मौद्रिक प्रणाली को लोचपूर्ण बनाता है।

(iv) **जनता का विश्वास** केन्द्रीय बैंक के निर्णय विशुद्ध आर्थिक होते हैं और यह बैंक राजनीतिक प्रभाव से स्वतंत्र रहकर निर्णय लेता है, जिससे देश की जनता का इनमें विश्वास बनता रहता है।

(v) **नोट निर्गमन से देश को लाभ** नोट निर्गमन के कार्य से बैंक को लाभ भी प्राप्त होता है केन्द्रीय बैंक को इसका एकाधिकार प्राप्त होने पर सरकार इस लाभ को आसानी से लेकर जनता के हित में प्रयोग कर सकती है।

(vi) **मुद्रा के मूल्य में स्थिरता** नोट निर्गमन का एकाधिकार प्राप्त होने पर मुद्रा की मात्रा को आसानी से नियंत्रित किया जा सकता है। इससे देश में कीमतों में उतार-चढाव को कम किया जा सकता है और विदेशी विनिमय दर में भी स्थिरता कायम की जा सकती है।

(vii) **जाल साजी पर नियंत्रण** नोट निर्गमन का एकाधिकार एक ही बैंक को होने से भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्रा के स्थान पर अर्थव्यवस्था में एक ही प्रकार की मुद्रा प्रचलन में रहती है। जिससे सामान्य जनता को असली तथा नकली मुद्रा की पहचान आसानी से हो जाती है और वे दोषपूर्ण मुद्रा को स्वीकार नहीं करते हैं।

(viii) **प्रतियोगिता पर नियंत्रण** केन्द्रीय बैंक को नोट निर्गमन का एकाधिकार देने पर विभिन्न बैंकों की आपसी प्रतियोगिता और उससे उत्पन्न दोष समाप्त हो जाते हैं, जिससे देश में उपयुक्त मौद्रिक व्यवस्था की स्थापना होती है

### (2) सरकारी बैंकर, एजेन्ट एवं सलाहकार (Government's Banker, Agent and Advisor)

सरकारी बैंकर के रूप में केन्द्रीय बैंक सरकार को वे सभी सुविधाएँ प्रदान करता है जो जनता को व्यापारिक बैंकों से प्राप्त होती है। केन्द्रीय बैंक सरकारी विभागों तथा उपक्रमों के बैंकिंग खातों की देखरेख करता है। वह सरकार की समस्त जमाएँ अपने पास रखता है और सरकार के चैक तथा ड्राफ्ट स्वीकार करता है। वह सरकारी कोषों की व्यवस्था करता है तथा सरकार की ओर से समस्त भुगतान भी करता है। यही नहीं आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय बैंक सरकार के लिये आन्तरिक तथा बाहरी ऋणों की व्यवस्था करता है। सरकार के अन्तरराष्ट्रीय लेन-देन तथा विदेशी विनिमय कोषों की व्यवस्था भी करता है। सरकार भी विदेशों से व्यापार करती है और विदेशी ऋण भी लेती है। इन समस्त कार्यो के लिये मौद्रिक लेन-देन का कार्य केन्द्रीय बैंक ही करता है। परन्तु सरकार की जमा राशि पर यह बैंक कोई ब्याज नहीं देता है।

सरकार के एजेन्ट के रूप में यह बैंक सरकार की ओर से ट्रेजरी बिल तथा प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करता है। यह बैंक सरकार के लिये ऋण एकत्र करना, सरकारी ऋणों पर ब्याज देना, ऋणों का प्रबन्ध करना आदि कार्य भी करता है। साथ ही विनिमय नियंत्रण का संचालन, सरकार द्वारा किये गये समाशोधन समझौतों का नियमन भी करता है। केन्द्रीय बैंक के इस तरह के कार्यो में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

देश का सर्वोच्च बैंक होने के नाते केन्द्रीय बैंक सरकार को आर्थिक वित्तीय, मौद्रिक तथा बैंकिंग व्यवस्था सम्बन्धी परामर्श भी देता है। सरकार विदेशी विनिमय दर, सार्वजनिक ऋणों, मुद्रा, साख, राजस्व, आयात निर्यात, कर व्यवस्था, कृषि अथवा औद्योगिक साख के सम्बन्ध में समय-समय पर केन्द्रीय बैंक से सलाह लेती है।

भारत में भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया सरकार के लिए ये तीनों कार्य सम्पादित करता है। इसी बैंक की सलाह पर ही भारत में बैंकिंग कम्पनी अधिनियम 1949 बनाया गया था। इस तरह रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया परामर्शदाता के रूप में कार्य करता है।

### (3) व्यापारिक बैंकों के नकद कोषों का संरक्षक
### (Custodian of Cash Reserves of Commercial Banks)

केन्द्रीय बैंक देश की बैंकिंग प्रणाली का सरताज होता हैं व्यापारिक बैंक इससे सम्बद्ध रहते हैं। जिस प्रकार व्यापारिक बैंक अपने ग्राहकों की जमा के संरक्षक होते हैं, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक बैंक को अपनी जमाओं का निश्चित प्रतिशत भाग केन्द्रीय बैंक के पास कानूनन जमा कराना पड़ता है। हम सभी जानते हैं कि प्रत्येक व्यापारिक बैंक अपनी जमाओं का कुछ भाग नकद कोष के रूप में स्वयं के पास रखता है ताकि ग्राहकों को आवश्यकता होने पर बह उनके धन का भुगतान कर सकें। व्यापारिक बैंक इस प्रकार के नकद कोषों को दो प्रकार से रखते हैं:

(1) अपने पास नकद कोष के रूप में और

(2) केन्द्रीय बैंक के पास जमा के रूप में।

आवश्यकता पढ़ने पर व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक के पास रखे गये कोष का भी प्रयोग कर सकते है। वर्तमान में विश्व के लगभग सभी देशों में इस प्रकार की जमा अनिवार्य रूप से रखने के लिये कानून बना दिये गये हैं। चूँकि व्यापारिक बैंकों का खाता केन्द्रीय बैंक के पास होता है, इसलिये इसे बैंकों का बैंक कहते हैं। इस तरह केन्द्रीय बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य व्यापारिक बैंकों के नकद कोषों को संरक्षण प्रदान करता है। इसके कई लाभ हैं

(i) **साख प्रणाली में लोच** जब किसी व्यापारिक बैंक की जमा राशि का कुछ प्रतिशत भाग केन्द्रीय बैंक के पास रहता है जब वह अपने पास रखी नकद जमाओं के आधार पर अधिकाधिक मात्रा में साख का निर्माण निश्चिन्त होकर कर सकता है, क्योंकि वह जानता है कि आवश्यकता होने पर वह केन्द्रीय बैंक के पास अपनी जमा राशि को वापस ले सकता है।

(ii) **नकद कोषों का अधिकतम उपयोग** सभी व्यापारिक बैंकों की जमाओं का एक निश्चित जमा भाग केन्द्रीय बैंक के पास जमा होने से केन्द्रीय बैंक के पास काफी बड़ी मात्रा में नकद कोष जमा हो जाता है जिसे केन्द्रीय बैंक जनहित में उपयोग कर सकता है।

(iii) **नकद मुद्रा के उपयोग में बचत** चूँकि केन्द्रीय बैंक देश का समाशोधन गृह भी होता है इसीलिए सभी व्यापारिक बैंकों का आपसी लेन देन अधिकांशत: इसी बैंक के माध्यम से होता है। इससे लेन-देन में नकद मुद्रा का प्रयोग कम किया जा सकता है, क्योंकि व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक के नाम चैक लिखकर एक दूसरे को भुगतान कर सकते हैं। केन्द्रीय बैंक एक बैंक के खाते में से राशि निकालकर दूसरे बैंक के खाते में जमा कर देता है, जिससे मुद्रा के हस्तान्तरण की आवश्यकता नहीं रहती।

(iv) **सरकार को सहायता** संकट के समय केन्द्रीय सरकार को इस कोष में से राशि देकर सहायता कर सकता है। साथ ही केन्द्रीय बैंक साख का उचित नियंत्रण तथा नियमन कर अर्थव्यवस्था में मुद्रा स्फीति तथा मन्दी को नियंत्रित कर सकता है। इस तरह सरकार की आर्थिक नीति के सफल क्रियान्वयन तथा देश में आर्थिक स्थायित्व स्थापित करने में केन्द्रीय बैंक सहयोग करता है।

### (4) देश के विदेशी विनिमय कोषों का संरक्षक

### (Custodian of Nation’s Foreign Exchanges Reserves)

विश्वव्यापी महान मन्दी के बाद बहुत से देशों ने अपनी विदेशी विनिमय दर को स्थिर रखने के लिये विनिमय समानीकरण खाते (Exchange Equilisation Accounts) या विनिमय स्थिरीकरण कोष (Exchange Stablisation Fund) की स्थापना की थी, जिनके संचालन का भार केन्द्रीय बैंक को सौंपा गया था। देश में जितनी विदेशी मुद्रा अर्जित की जाती है वह केन्द्रीय बैंक के कोष में रखी जाती है और निर्धारित नियमों के अनुसार केन्द्रीय बैंक केवल अनिवार्य आवश्यकताओं के लिये उसके उचित प्रयोग की व्यवस्था करता है।

विदेशी विनिमय दरों में आने वाले उतार-चढावों को नियंत्रित करने के लिये केन्द्रीय बैंक विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय करता है। मुद्रा व्यवस्था को लोचदार बनाये रखने के लिए कोषों को सुरक्षित रखना आवश्यक होता है। भुगतान असन्तुलन के समय केन्द्रीय बैंक विदेशी मुद्राओं की माँग तथा पूर्ति को प्रभावित कर इन असन्तुलनों को दूर करने का प्रयास करता है। विश्व के प्राय: सभी देशों के राजनीतिक प्रतिनिधि अन्य देशों में रहते हैं। इन दूतावासों का दैनिक व्यय चलाने हेतु विभिन्न देशों की मुद्रा की आवश्यकता रहती है। इसके अलावा सरकार की अन्य शासकीय तथा व्यवसायिक कार्यो के लिये भी समय-समय पर विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है। इसकी व्यवस्था देश का केन्द्रीय बैंक करता है। यही नहीं विदेशी विनिमय के भण्डार देश की अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक शक्ति का प्रतीक होती है। अत: इनकी उचित मात्रा बनाये रखने से देश की साख विदेशों में मजबूत बनी रहती है।

### (5) अन्तिम ऋण दाता (Lender of the Last Resort)

केन्द्रीय बैंक देश के अन्य बैंकों को सामान्य परिस्थितियों में ऋण, अग्रिम तथा अन्य प्रकार की सहायता तो करता ही है, पर जब व्यापारिक बैंकों के तरल कोष ग्राहकों की माँग को पूरा करने में अपर्याप्त रहते हैं और बैंक जमाकर्ताओं का बैंक प्रति विश्वास कम होने लगता है जिससे भारी मात्रा में भुगतान करने की समस्या उत्पन्न होती है ऐसे समय में केन्द्रीय रैंक संकट से गुजर रहे बैंकों की सहायता करता है। यह सहायता प्राय: दो प्रकार से की जाती है- (अ) उच्चस्तर के व्यापारिक विपत्रों (Trade Bills) की पुनर्कटौती द्वारा और (ब) प्रथम श्रेणी की सरकारी प्रतिभूतियों की जमानत पर प्रत्यक्ष ऋण द्वारा। केन्द्रीय बैंक केवल इन व्यापारिक बैंकों के लिये ही अन्तिम ऋणदाता के रूप में कार्य करता है वरन् वह सरकार को भी संकट काल में तथा आर्थिक कठिनाई में ऋण प्रदान कर सकता है, क्योंकि केन्द्रीय बैंक के पास नोट निर्गमन का एकाधिकार प्राप्त होता है। युद्धकाल में केन्द्रीय बैंक सरकार का अन्तिम ऋणदाता के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया यह कार्य बखूबी करता है। यह बैंक भारत की योजनाओं के सफल क्रियान्वयन हेतु वित्तीय सहायता में अपना महत्वपूर्ण योगदान देता है।

**अन्तिम ऋणदाता के रूप में कार्य करने के लाभ** संकट काल में व्यापारिक बैंकों को आर्थिक सहायता मिल सकती है। जिससे व्यापारिक बैंकों को लाभ प्राप्त होता है।

(i) **व्यापारिक बैंकों के विनिमय** पत्रों की पुनर्कटौती द्वारा तथा प्रत्यक्ष ऋण देकर केन्द्रीय बैंक मुद्रा बाजार में पूँजी की कमी को दूर करता है। इससे व्यापारियों की मौद्रिक आवश्यकता पूर्ण होती है, जिससे व्यापार प्रोत्साहित होता है और व्यापारिक बैंकों का व्यवसाय भी बढ़ता है, जिससे उन्हें लाभ भी मिलता है।

(ii) **व्यापारिक बैंक कम नकद कोषों के आधार पर ही कार्य कर सकते हैं** इसका कारण यह है कि व्यापारिक बैंक आवश्यकता पड़ने पर अपनी प्रतिभूतियों को केन्द्रीय बैंक से पुन: भुना सकते हैं। इसलिए उन्हें अपने जमाकर्ताओं की मांग को पूरा करने हेतु अधिक नकद कोष अपने पास रखने की आवश्यकता नहीं होती।

(iii) **केन्द्रीय बैंक का देश की बैंकिंग व्यवस्था पर उचित नियंत्रण रहता है** किसी भी व्यापारिक बैंक द्वारा आर्थिक सहायता मांगने पर केन्द्रीय बैंक इस बैंक की न केवल वित्तीय स्थिति का अवलोकन करता है वरन उसे सुधारने हेतु सुझाव भी देता है। व्यापारिक बैंक वित्तीय सहायता प्राप्त करने के लिए इन सुझावों को मानने के लिये बाध्य होते हैं। इस तरह केन्द्रीय बैंक का व्यापारिक बैंकों पर नियंत्रण रहता है।

### (6) खातों का समाशोधन, निबटारा तथा स्थानान्तरण

### (Clearance, Settlement and Transfer of Accounts)

प्रत्येक देश में केन्द्रीय बैंक व्यवसायिक बैंकों के समाशोधन गृह के रूप में कार्य करता है। समाशोधन राह एक ऐसी संस्था है जो बैंकों को पारम्परिक भुगतान की सुविधा प्रदान करती है। प्रो. टॉसिग के अनुसार, "समाशोधन राह किसी स्थान के बैंकों का एक ऐसा सामान्य संगठन है जिसका मुख्य उद्देश्य बैंकों द्वारा निर्मित परस्पर दायित्व का निबटारा या भुगतान करना होता है।" केन्द्रीय बैंक में विभिन्न व्यापारिक बैंकों को अपनी नकद जमा का एक निश्चित प्रतिशत रखना पडता है। इसलिए केन्द्रीय बैंक में हर व्यापारिक बैंक का खास होता है। अत: केन्द्रीय बैंक के समाशोधन राहों में सभी बैंकों को आपसी लेन-देन का सामूहिक ब्यौरा तैयार किया जाती है और केवल खातों में प्रविष्टियों द्वारा बिना किसी नकद राशि के बडे से बड़े लेन-देन का निपटारा हो जाता है। समाशोधन की आवश्यकता इसलिए भी होती है क्योंकि वर्तमान में बहुत से व्यक्ति अपने भुगतान चैक द्वारा करते हैं और लेनदार भी इन चैकों को भुगतान प्राप्ति के लिये अपने बैंक में भेज देते हैं। इसीलिए शॉ विलिस और जॉनसी जैसे कई अर्थशास्त्री समाशोधन के कार्य को प्रमुख कार्य मानते हैं। केन्द्रीय बैंक के इस कार्य से कई लाभ प्राप्त होते हैं- (1) बैंकों के पारस्परिक भुगतान सरलता एवं शीघ्रता से हो जाते है जिससे बैंक के श्रम की बचत होती है। (2) मुद्रा के उपयोग में बचत होती है एवं केन्द्रीय बैंक द्वारा चलन में कम मुद्रा रखने पर भी काम चल जाता है। और (3) बैंक अपने पास कम नकद कोष रखकर ही बड़ी मात्रा में साख निर्माण कर सकते हैं।

केन्द्रीय बैंक समाशोधन गृह के रूप में कार्य करने के अलावा अपने सदस्य बैंक को एक स्थान से दूसरे स्थान पर राशि भेजने में सहयोग करता है। नियमों के तहत व्यापारिक बैंक को इस प्रकार की सुविधा निःशुल्क प्रदान करता है। इस सुविधा के कारण व्यापारिक बैंक अपनी विभिन्न शाखाओं तथा प्रतिनिधि बैंकों से आसानी से लेन-देन कर सकते हैं, अपने ग्राहकों के खाते में आवश्यक राशि भेजने की सुविधा भी प्रदान करते हैं।

भारत में भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया देश के अनुसूचित बैंकों के लिये समाशोधन गृह का कार्य करने के साथ-साथ इन बैंकों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर राशि भेजने में भी सहायता करता है।

### (7) सूचनाओं एवं आकड़ों का संकलन तथा प्रकाशन

### (Collection and Publication of Information and Data)

बैंकों का बैंक तथा सरकारी बैंकर तथा सलाहकार होने के कारण केन्द्रीय बैंक समय-समय पर मुद्रा, साख, बैंकिंग, विदेशी विनिमय, विदेशी व्यापार, विदेशी निवेश तथा कीमतों आदि से सम्बन्धित आकड़ों को एकत्रित करता है तथा उन्हें जनहित में प्रकाशित करता है। ये आंकडे तथा सूचनाएँ देश की आर्थिक, मौद्रिक, वित्तीय आदि समस्याओं के अध्ययन करने तथा सरकार की नीतियों के निर्धारण में अत्यधिक लाभदायक होती है। इन आकड़ों से देश की औद्योगिक तथा व्यापारिक स्थिति का आकलन करने में सहायता मिलती है। यहाँ तक कि विभिन्न देशों की आर्थिक स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन करने में भी इन सूचनाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहता है।

भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया इस कार्य के लिये एक अलग आर्थिक एवं सांख्यिकीय विभाग का संचालन करता है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन तथा वार्षिक रिपोर्टों में सूचनाओं तथा आँकडों का प्रकाशन होता है, सरकार से आदेशों से प्राप्त होने पर यह बैंक विभागीय जांच समितियों की स्थापना कर सर्वेक्षण का कार्य भी करता है।

### (8) साख का नियंत्रण (Control of Credit)

केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य साख नियंत्रण करना माना जाता है। साख नियंत्रण से आशय देश की मौद्रिक आवश्यकताओं के अनुसार साख मुद्रा की मात्रा में कमी अथवा वृद्धि करना होता है। आवश्यकताओं से आर्थिक साख मुद्रा में देश में मुद्रा स्फीति तथा मुद्रा संकुचन की स्थितिउत्पन्न करती है। इसीलिए केन्द्रीय बैंक साख मुद्रा की मात्रा को नियंत्रित रखता हैं साख नियंत्रण का उद्देश्य देश में विनिमय दर में स्थिरता, कीमत-स्तर में सापेक्षिक स्थायित्व पूर्ण रोजगार को कायम करने के साथ-साथ आर्थिक विकास को तीव्र गीत प्रदान करना होता है। ये चारों उद्देश्य परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। कभी-कमी एक उद्देश्य को पूर्ण करने से दूसरे उद्देश्यों की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न हो जाती है। अत: बडी सावधानी से साख नियंत्रण की रीतियों का प्रयोग करना पड़ता है। यही कारण है कि अब साख नियंत्रण के साथ-साथ राजकोषीय नीति का मिश्रित रूप से प्रयोग बढ़ रहा है। केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नियंत्रण हेतु कई उपाय या तरीके अपनाये जाते हैं। इन उपायों में बैंक दर, खुले बाजार की क्रियाएँ, नकद कोषों में परिवर्तन, प्रत्यक्ष कार्यवाही, नैतिक अनुनय, प्रचार आदि प्रमुख है।

भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के विधान में भी यह स्पष्ट किया गया है कि, ' 'बैंक के मुख्य कार्य नोटों का निर्गमन करना तथा भारत में मौद्रिक सुरक्षा हेतु कोष रखना और चलन तथा साख व्यवस्था को कार्यान्वित करना है। ' यह बैंक केन्द्रीय बैंक के रूप में यह कार्य दक्षतापूर्वक करने का प्रयास करता है।

### (9) अन्य कार्य (Other Functions)

यद्यपि उपर्युक्त वर्णित सभी कार्य केन्द्रीय बैंकों के प्रमुख कार्य है, फिर भी उनके कार्यो में निरन्तर वृद्धि हो रही है। वर्तमान में केन्द्रीय बैंक के अन्य कार्य भी है। उनमें प्रमुख हैं- केन्द्रीय बैंक का आर्थिक विकास में सहायक होना। केन्द्रीय बैंक आर्थिक स्वामित्व के साथ-साथ आर्थिक विकास को भी प्रोत्साहित करते हैं। आर्थिक विकास के लिये निवेश में वृद्धि होना जरूरी होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये केन्द्रीय बैंक देश में व्यापारिक बैंकों, सहकारी बैंकों, अन्य वित्तीय संस्थाओं तथा बिल बाजार के विकास व विस्तार के लिए कार्य करता है। सार्वजनिक क्षेत्र में निवेश में वृद्धि हेतु घाटे की वित्त व्यवस्था के द्वारा सरकार को वित्तीय साधन उपलब्ध कराता है। विशेष रूप से विकास शील देशों में केन्द्रीय बैंकों के विकास सम्बन्धी कार्य अधिक महत्वपूर्ण होते जा रहे हैं। भारत में रिजर्व बैंक

ऑफ इण्डिया का कृषि ऋण दिमाग पूर्व में कृषि ऋण उपलब्ध कराता था जबकि अन्य देशों में केन्द्रीय बैंक कृषि साख की व्यवस्था स्वयं नहीं करते। भारत में भी अब नाबार्ड (NABARD) इस प्रकार के ऋणों की व्यवस्था करता है। साथ ही भारत में रिजर्व बैंक औद्योगिक वित्त भी प्रदान करता है

इस प्रकार स्पष्ट है कि उपर्युक्त वर्णित सभी कार्य केन्द्रीय बैंक के महत्वपूर्ण कार्य है। परन्तु यह कहना कठिन है कि इनमें से केन्द्रीय बैंक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य कौनसा है? अलग अलग परिस्थितियों में इन कार्यो की महत्ता प्रदर्शित होती है।

### 6.5.2 केन्द्रीय बैंक के प्रतिबन्धित कार्य (Restricted Functions of a Central)

केन्द्रीय बैंक के कार्यो में निरन्तर वृद्धि तथा विस्तार होता जा रहा है। लेकिन केन्द्रीय बैंक के सुव्यवस्थित रूप से कार्य करने, अर्थव्यवस्था के संतुलित विकास करने तथा देश में उचित साख नियंत्रण हेतु बैंक के कुछ कार्यो को प्रतिबन्धित किया गया है। डी. कॉक के अनुसार, "केन्द्रीय बैंक को जनता से प्रत्यक्ष रूप में केवल इस प्रकार के संबन्ध ही रखने चाहिए जो इसकी मौद्रिक तथा बैंकिंग नीति की सफलता के लिए आवश्यक हो। इसको जनता से प्रत्यक्ष रूप से नकदी स्वीकार नहीं करनी चाहिये और न ही जनता को प्रत्यक्ष रूप से ऋण प्रदान करने चाहिये। ये सब कार्य केन्द्रीय बैंकों को देश की वाणिज्य बैंकिंग प्रणाली के द्वारा ही सम्पन्न करने देना चाहिये।" दूसरे शब्दों में केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैंकों के कार्य नहीं करने चाहिए, और न ही उसे ऐसे कार्य करने चाहिये जिन्हें अन्य व्यापारिक बैंक कर रहे हो। ऐसा करने पर केन्द्रीय बैंक के महत्वपूर्ण कार्यो का सम्पादन सफलता पूर्वक नहीं किया जा सकेगा।

भारत में भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया कुछ कार्य नहीं कर सकता है- (1) वह कोई उद्योग तथा व्यापार स्थापित नहीं कर सकता, (2) मियादी बिल न ही लिख सकता है और न ही स्वीकार कर सकता है, (3) जमाओं पर ब्याज नहीं दे सकता है, (4) अचल सम्पत्ति की जमानत पर ऋण नहीं दे सकता है, (5) बिना जमानत के ऋण नहीं दे सकता है, (6) वह किसी बैंक या कम्पनी के शेयर नहीं खरीद सकता है और (7) देश के अन्य बैंकों से प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता है।

इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने का उद्देश्य केन्द्रीय बैंक के कार्यो में निष्पक्षता, सुरक्षा तथा स्पष्टता बनाये रखना होता है और इन प्रतिबन्धों से केन्द्रीय बैंक को मौद्रिक प्रणाली के सफल संचालन में सहायता मिलती है। अत: केन्द्रीय बैंक पर लगाये गये प्रतिबन्ध केन्द्रीय बैंक तथा राष्ट्र के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक और लाभदायक होते हैं।

## 6.6 भारत का केन्द्रीय बैंक-रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (Central Bank of India - Reserve Bank of India)

भारत में हिल्टन यंत्र कमीशन 1927 की सिफारिशें के आधार पर 1 अप्रेल, 1935 में केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के तहत भारतीय रिजर्व बैंक की स्थापना हुई। प्रारम्भ में इस बैंक को अंशधारियों का बैंक बनाया गया था। बाद में भारत सरकार ने 1948 में रिजर्व बैंक (सार्वजनिक अधिकार स्थानान्तरण) अधिनियम पारित कर इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और 1 जनवरी, 1949 से रिजर्व बैंक पूर्णत: सार्वजनिक बैंक बन गया।

रिजर्व बैंक की अधिकृत एवं प्रदत्त 5 करोड़ रूपये है। बैंक का प्रबन्ध एवं संचालन केन्द्रीय संचालक मण्डल के 20 सदस्यों द्वारा होता है. जिसमें एक गवर्नर, चार सहायक गवर्नर, चार स्थानीय बोर्डो के मनोनीत संचालक, दस केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत संचालक और एक सरकारी अधिकारी होता है। केन्द्रीय संचालक मण्डल को सलाह देने के लिए देश में चार स्थानीय बोर्ड मुम्बई, चैन्नई, कोलकत्ता तथा दिल्ली में है। इसका प्रधान कार्यालय मुम्बई में है। देश में इसकी शाखाओं का विस्तार होने के साथ विदेशों में भी इसकी कई शाखाएँ हैं जहां रिजर्व बैंक की शाखा नहीं हैं, वहाँ स्टेट बैंक ही उसके प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हैं।

**बोध प्रश्न - 02**

1. केन्द्रीय बैंक के दो महत्वपूर्ण कार्यों के नाम बताइए।
2. साख नियंत्रण क्या है?
3. साख नियंत्रण क्यों किया जाता है ?
4. केन्द्रीय बैंक के प्रतिबन्ध कार्य कौन-से है ?

## 6.7 विकासशील देशों में केन्द्रीय बैंक की भूमिका-भारत के विशेष सन्दर्भ में (Role of Central Bank in Developing Countries-With Special Reference to India)

केन्द्रीय बैंक के कार्यो के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि केन्द्रीय बैंक देश के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। विकासशील देशों में इसका योगदान और भी अधिक रहता है क्योंकि विकासशील देशों में कुछ विशेष प्रकार की समस्याएँ होती है। जिनका निराकरण केन्द्रीय बैंक ही अच्छी तरह से कर सकता है। भारत जैसे विकासशील देशों में केन्द्रीय बैंक की भूमिका केवल मूल्य स्थिरता तथा विनिमय दरों में स्थायित्व तक ही सीमित न होकर कई विकास कार्यों तक भी फैली रहती है। ऐसे देशों में केन्द्रीय बैंक आर्थिक जगत के कई महत्वपूर्ण क्षेत्रों में अपना योगदान निम्न प्रकार से कर सकता है :-

**(1)** **मौद्रिक प्रबन्ध** विकासशील देशों में केन्द्रीय बैंक मुद्रा तथा साख की माँग का उचित नियमन तथा नियंत्रण के द्वारा आर्थिक स्थिरता के साथ-साथ आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। अर्थव्यवस्था में उत्पादन एवं विनिमय की बढ़ती क्रियाओं के साथ-साथ देश के मौद्रिक तथा गैर मौद्रिक क्षेत्रों में मुद्रा की आवश्यकता बढ़ती जाती हैं। इसे पूरा करने हेतु केन्द्रीय बैंक उचित मात्रा में आवश्यकतानुसार मुद्रा का निर्गमन करता है। मुद्रा के निर्गमन से मूल्यों में धीरे-धीरे बढ़ती विनियोगों की माँग को अधिक साख सुविधाएँ देकर पूरा किया जा सकता

**(2)** **मानवशक्ति तथा तकनीकी साधनों की उपलब्धि** देश में सुदृढ़ बैंकिंग प्रणाली के विकास हेतु विकासशील देशों में केन्द्रीय बैंक द्वारा आवश्यक मानवशक्ति एवं तकनीकी साधनों को उपलब्ध कराने में सहायता करनी चाहिये जैसे- पर्याप्त संख्या में प्रशिक्षित कर्मचारियों की व्यवस्था करना। चूंकि विकासशील देशों में कोई भी व्यापारिक बैंक अकेला अपने अधिकारियों के उपयुक्त प्रशिक्षण की व्यवस्था करने में असमर्थ रहता है, ऐसी स्थिति में केन्द्रीय बैंक इनके लिये कर्मचारी प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित कर सकता है जहां कर्मचारियों के लिये प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाये जा सकते हैं।

(3) **व्यापारिक बैंकों की शाखाओं के विस्तार हेतु प्रोत्साहन** विकासशील देशों में केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैंकों की शाखाओं में वृद्धि हेतु नियोजित शाखा विस्तारण कार्यक्रम इस प्रकार बनाने चाहिये ताकि देश के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं का संतुलित विकास हो सके। केन्द्रीय बैंक को अविकसित तथा दूरस्थ क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की रियायतें देकर व्यापारिक बैंकों को अधिक शाखाएँ खोलने हेतु प्रेरित कर सकता है।

(4) **आर्थिक विकास सम्बन्धी कार्य** विकासशील देशों में केन्द्रीय बैंक को आर्थिक नियोजन की सफलता हेतु भी कई कार्य करने होते हैं। इन देशों में केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति का उद्देश्य आर्थिक स्थिरता के साथ तीव्र आर्थिक विकास को प्राप्त करना भी होता है। इसलिए इन देशों में केन्द्रीय बैंक को उसके पारम्पारिक कार्यो के साथ-साथ विकास सम्बन्धी कार्य भी करने होते हैं। यह बैंक दीर्घकालीन ऋण देने वाली संस्थाओं के विकास में सहायता करता है जो उद्योगों, कृषि तथा आंतरिक व विदेशी व्यापार के विकास हेतु समुचित विनियोजनशील पूँजी की व्यवस्था करती है।

(5) **पूंजी निर्माण एवं पूँजी बाजारों का विकास** विकासशील देशों में केन्द्रीय बैंक को ऐसी वित्तीय संस्थाओं के विकास को प्रोत्साहन देना चाहिए जो मुद्रा एवं पूँजी बाजार के विकास में योगदान दे सके। ये बाजार ही समाज की बचतों को एकत्रित करते हैं और इन बचतों को गतिशील कर उत्पादक कार्यो में लगाते हैं। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक बचतों के उचित प्रयोग में सहायता कर सकता है।

(6) **बैंकिंग एवं वित्तीय सस्थाओं का विकास** केन्द्रीय बैंक बैंकों का बैंक होने के नाते देश में सन्तुलित बैंकिंग व्यवस्था को प्रोत्साहित कर सकता है। ग्रामीण तथा पिछडे क्षेत्रों में भी बैंकिंग शाखाओं का विस्तार करने तथा बैंकिंग प्रणाली में जनता का विश्वास पैदा करने में केन्द्रीय बैंक मदद करता है। केन्द्रीय बैंक स्वयं देश में औद्योगिक वित्त, कृषि, वित्त, आयात-निर्यात वित्त, छोटे उद्योगों को वित्त, सहकारी वित्त आदि उपलब्ध कराने हेतु वित्तीय संस्थाओं के निर्माण को बढ़ावा दे सकता है। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति हेतु भारत में औद्योगिक वित्त निगम, भारतीय औद्योगिक विकास बैंक, लघु उद्योग निगमों एवं नाबार्ड की स्थापना की गई है।

(7) **विदेशी विनिमय कोषों की उचित व्यवस्था** विकासशील देशों की महत्वपूर्ण समस्या विदेशी विनिमय की रहती है क्योंकि इन के आयात निर्यातों की अपेक्षा अधिक रहते हें। ऐसी स्थिति में केन्द्रीय बैंक इन दुर्लभ विदेशी विनिमय कोषों का संरक्षक बनकर इन कोषों को अधिक लाभकारी उपयोग कर सकता है और विदेशी विनिमय दरों को नियंत्रित कर सकता है। बैंक दर में वृद्धि कर विदेशी पूँजी को आकर्षित कर सकता है और विदेशी पूँजी के बाहरी प्रवाह को रोक सकता है।

भारत में भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया सभी प्रकार के विदेशी विनिमय कोषों का संरक्षक है और वह लाभदायक उपयोगों के लिये ही विदेशी मुद्रा का प्रबन्ध करता है, विदेशी पूँजी को आकर्षित करता है और विनिमय संकट पर नियंत्रण करने का प्रयास करता है।

(8) **सार्वजनिक ऋणों की व्यवस्था** विकासशील देशों में सरकारों को तीव्र औद्योगिक विकास, कृषिगत विकास तथा अन्य सभी प्रकार के विकास कार्यो को पूरा करने हेतु वित्तीय संसाधनों की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में केन्द्रीय बैंक सरकार के बैंकर, एजेन्ट तथा सलाहकार

के नाते उन्हें सार्वजनिक ऋण उपलब्ध कराता है। यह बैंक विदेशी ऋणों की भी व्यवस्था करता है। भारत में भी रिजर्व बैंक ये कार्य करता है।

(9) **आर्थिक एवं तकनीकी सहायता एवं सलाह** विकासशील देशों में आर्थिक एवं तकनीकी विकास को आगे बढ़ाने में केन्द्रीय बैंक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वह सांख्यिकीय आकड़ों को एकत्रित करता है, सर्वेक्षण करता है और उनके आधार पर उद्योगों को तकनीकी सलाह एवं सहायता देता है।

(10) **निजी उद्योगों के पूँजी निर्गमनों की गारण्टी का प्रबन्ध** विकासशील देशों में निजी उद्योगों में पूँजी उपलब्ध कराने में वित्तीय संस्थाएँ संकोच करती हैं। केन्द्रीय बैंक ऐसे उद्योगों की गारण्टी देकर वित्तीय संस्थाओं को इन उद्योगों में पूँजी लगाने को प्रोत्साहित करती है। भारत में भी रिजर्व बैंक अच्छी प्रतिभूतियों की सस्ती एवं उदार पुनर्कटौती करके वित्तीय साधन उपलब्ध कराता है।

(11) **आर्थिक स्थिरता** विकासशील देशों में आर्थिक स्थिरता बनाये रखने हेतु केन्द्रीय बैंक साख का उचित नियमन व नियंत्रण करते हैं। मुद्रा तथा साख की मात्रा में कमी वृद्धि करके मूल्यों में सापेक्षिक रूप से स्थिरता लाने का प्रयास करते हैं। उचित साख नीति अपनाने से एक तरफ व्यापार चक्रों पर नियंत्रण किया जा सकता है। तो दूसरी ओर रोजगार तथा व्यापार में वृद्धि होती है। इस तरह केन्द्रीय बैंक देश के आर्थिक विकास में सहायक होते हैं भारतीय रिजर्व बैंक भी मूल्यों पर उचित नियंत्रण हेतु भरसक प्रयास करता है।

(12) **निरीक्षण एवं देखभाल** केन्द्रीय बैंक यह भी ध्यान रखता है कि व्यापारिक बैंक देश की आर्थिक नीतियों तथा उद्देश्यों के अनुसार अपने कोषों का समुचित प्रयोग कर रहे हैं अथवा नहीं। वह व्यापारिक एवं सहकारी बैंकों के प्रबन्ध, साधनों की तरलता, कार्यप्रणाली, एकीकरण, पुनर्निर्माण तथा समापन आदि कार्यो की देखरेख भी करता है। वह बैंकों को उनके सामाजिक दायित्वों के अनुरूप कार्य करने के निर्देश देता रहता है, जिससे देश में सुदृढ़ बैंकिंग व्यवस्था स्थापित हो सके और बैंकों के प्रति जनता का बढ़े, भारत में भी रिजर्व बैंक इन बैंकों पर नियंत्रण तथा निरीक्षण करता रहता है।

(13) **हीनार्थ प्रबन्ध की व्यवस्था** विकासशील देशों में केन्द्रीय बैंक आवश्यकता होने पर हीनार्थ प्रबन्ध की व्यवस्था कर विकास कार्यो को पूरा कराने में मदद करता है। भारत में भी समय समय पर इस तरह की व्यवस्था कर देश के आर्थिक नियोजन में सहायता करता है।

अतः उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि विकासशील देशों में केन्द्रीय बैंकों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वह देश में मौद्रिक प्रबन्ध करता है, वित्तीय संस्थाओं के विकास में सहायता करता है तथा सुदृढ़ एवं सन्तुलित बैंकिंग विकास में मदद करता है। विदेशी विनिमय कोषों को संरक्षित रखता है तथा उनका उचित उपयोग करता है। वह सरकार के लिये बैंकर, एजेन्ट तथा उनका आर्थिक सलाहकार की भूमिका अदा करता है। मूल्य स्थिरता कायम रखने हेतु मुद्रा एवं साख पर उचित नियंत्रण रखता है। पूँजी बाजार के उपर्युक्त विकास को प्रेरित करता है और संगठित मुद्रा बाजार को विकसित करने में सहायता करता है। अतः विकासशील देशों के लिए केन्द्रीय बैंक की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। यद्यपि प्रत्येक देश की आर्थिक, सामाजिक एवं भौगोलिक परिस्थितियाँ भिन्न होती है फिर भी केन्द्रीय बैंक केवल एक देश के लिये ही नहीं अपितु समस्त विश्व बैंकिंग के लिये भी महत्वपूर्ण है।

## 6.8 सारांश (Summary)

आधुनिक युग में प्रत्येक देश की बैंकिंग प्रणाली में केन्द्रीय बैंक का महत्वपूर्ण स्थान होता है, क्योंकि अन्य बैंक इसी बैंक से निर्देशित होते हैं। केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों के लिये एक मित्र, दार्शनिक तथा मार्ग दर्शक के रूप में कार्य करता है। इसीलिए इसे देश की बैंकिंग व्यवस्था की सर्वोच्च संस्था यानि 'बैंकों का बैंक' के रूप में जाना जाता है। अलग-अलग देशों की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियाँ भिन्न होती है और अलग-अलग देशों में केन्द्रीय बैंक के कार्यो की महत्ता भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। फिर भी मोटे रूप से सभी प्रकार की अर्थव्यवस्था में चाहे वह विकसित हो अथवा विकासशील अर्थव्यवस्था, केन्द्रीय बैंक के कुछ कार्य महत्वपूर्ण होते हैं। इन कार्यो में नोट निर्गमन का कार्य, सरकारी बैंकर के रूप में कार्य, व्यापारिक बैंकों के नकद कोषों तथा विदेशी विनिमय कोषों के संरक्षक का कार्य, संकट के समय व्यापारिक बैंकों को ऋण उपलब्ध कराने का कार्य आदि प्रमुख हैं। इन कार्यो के साथ-साथ वर्तमान में केन्द्रीय बैंक का साख नियंत्रण तथ समाशोधन गृह के रूप में कार्य करना भी महत्वपूर्ण हैं यही नहीं केन्द्रीय बैंक देश के विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों से सम्बन्धित जानकारी एकत्रित कर उन्हें प्रकाशित करने का कार्य भी करता है। प्रत्येक देश में केन्द्रीय बैंक उचित मौद्रिक तथा बैंकिंग प्रबंधन हेतु साख नियंत्रण परिमाणात्मक तथा चयनात्मक विधियों का प्रयोग कर करता है। एक विकासशील अर्थव्यवस्था में केन्द्रीय बैंक वांछित सीमा में साख का नियमन तथा नियंत्रण कर, विकास वित्त उपलब्ध विकास की गीत को तीव्रता प्रदान करने में सहायक हो सकता है। यही कारण है कि आज विश्व के प्रत्येक देश की मौद्रिक तथा राजकोषीय संरचना में केन्द्रीय बैंक की कार्य प्रणाली का महत्व दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है। मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियों के उचित समन्वय द्वारा ही देश का द्रुत आर्थिक विकास समद है।

## 6.9 शब्दावली (Glossary)

| | |
|---|---|
| नोट निर्गमन | नोट (पत्र-मुद्रा) जारी करना |
| NABARD | National Bank for Agriculture and Rural Development |
| नाबार्ड | राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (यह कृषि वित्त अवस्था का समस्त कार्य करता है।) |
| मौद्रिक नीति | सरकार अथवा मौद्रिक अधिकारी द्वारा मुद्रा एवं साख की मात्रा का विस्तार अथवा संकुचन करने की नीति। |
| हीनार्थ प्रबन्धन | घाटे की अर्थव्यवस्था-जब सरकार द्वारा सार्वजनिक आय की तुलना में सार्वजनिक व्यय की अधिकता रहने पर (घाटा) अतिरिक्त साधन जुटाये जाते है। |
| साख मुद्रा | वह ऐच्छिक मुद्रा, जिसे स्वीकारने के पीछे कोई कानूनी बाध्यता नहीं होती। |
| साख नियंत्रण | साख की पूर्ति में उसकी मांग के अनुसार समायोजन करना। |
| समाशोधन गृह (निकासी गृह) | विभिन्न बैंकों या सदस्यों के पारस्परिक भुगतानों का निपटारा स्थान |

| | |
|---|---|
| राजकोषीय नीति | नीति वह सरकारी नीति, जिसमें सरकार राष्ट्रीय आर्थिक उद्देश्यों के अनुसार सार्वजनिक<br>वित्त,व्यय, करों तथा ऋणों का उपयोग करती है। |

## 6.10 सन्दर्भ ग्रन्थ (References)

एम.सी.वैश्य, “मुद्रा बैंकिंग एवं अन्तरराष्ट्रीय व्यापार" विकास पब्लिशिंग हाउस
टी.टी.सेठी, “मुद्रा बैंकिंग एवं अन्तरराष्ट्रीय व्यापार”, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा
बी.एल.ओझा, “मुद्रा बैंकिंग एवं राजस्व” , आदर्श प्रकाशन, जयपुर
एच.आर.गोदारा “विस्तृत अर्थशास्त्र", कॉलेज बुक हाउस, जयपुर
हरिशचन्द्र शर्मा, “मुद्रा बैंकिंग एवं राजस्व”, साहित्य भवन, आगरा
D.M. Mithani, “Money, Banking, International Trade and Public Finance” Himalaya Publishing House
एम.एल.सेठ, “मुद्रा एवं बैंकिंग'”, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी
दीपक अग्रवाल, “मुद्रा बैंकिंग, लोक वित्त एवं अन्तरराष्ट्रीय व्यापार हिमालय पब्लिशिंग हाउस

## 6.11 अभ्यासार्थ प्रश्न (Unit-end Questions)

1. केन्द्रीय बैंक की परिभाषा दीजिए। केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों की तुलना कीजिए।
2. केन्द्रीय बैंक के प्रमुख कार्यो का वर्णन कीजिये। क्या केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता सर्वव्यापी है?
3. भारत जैसे विकासशील देश में केन्द्रीय बैंक की भूमिका का विवेचन कीजिए।

# इकाई - 07

# केन्द्रीय बैंक की साख नियंत्रण विधियाँ

# (Credit Control Methods of Central Bank)

**इकाई की रूपरेखा**

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 साख

  7.2.1 साख का अर्थ

  7.2.2 साख को प्रभावित करने वाले तत्व

7.3 साख नियंत्रण के उद्देश्य

7.4 साख नियंत्रण की विधियाँ

  7.4.1 परिमाणात्मक विधियाँ

  7.4.2 गुणात्मक विधियाँ

7.5 साख नियंत्रण की कठिनाइयाँ

7.6 सारांश

7.7 शब्दावली

7.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

7.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

7.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

## 7.0 उद्देश्य (Objects)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समझ सकेंगे कि :

- साख से क्या अभिप्राय है और साख को कौन से तत्व प्रभावित करते हैं?
- केन्द्रीय बैंक किस प्रकार से साख पर नियंत्रण रखती है, तथा
- साख नियंत्रण में क्या कठिनाइयाँ आती है?

## 7.1 प्रस्तावना (Introduction)

केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था के मौद्रिक एवं वित्तिय प्रबन्ध की सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्था है जो देश में मौद्रिक स्थायित्व तथा साख के आंतरिक एवं बाह्य दोनों रूपों को संगठित करती है। आर्थिक उच्चावचनों के नियंत्रण में केन्द्रीय बैंक अहम् भूमिका निभाता है। केन्द्रीय बैंक की साख नियंत्रण नीति का अभिप्राय उस नीति से है जिसके द्वारा केन्द्रीय बैंक के व्यापार, वाणिज्य तथा जन साधारण सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुसार साख की मात्रा में घटत बढ़त करता है। यदि देश में साख की मात्रा राष्ट्र की आर्थिक क्षमता से अधिक है तो मुद्रा प्रसार का भय रहता है और अगर साख की मात्रा कम हो तो मुद्रा संकुचन के दुष्प्रभावों का सामना, करने की नौबत आती है। अत: साख की मात्रा में मांग के

अनुकूल समायोजन करना ही साख नियंत्रण कहलाता है। प्रस्तुत इकाई में साख का अर्थ एवं परिभाषाएँ देने के बाद साख को प्रभावित करने वाले तत्वों का वर्णन किया गया है। खण्ड 7.3 में साख नियंत्रण के उद्देश्य एवं 7.4 में साख नियंत्रण की परिमाणात्मक एवं गुणात्मक विधियों का वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् साख नियंत्रण की कठिनाइयों की चर्चा की गई है। इकाई के अन्त में सारांश, शब्दावली, सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची तथा अभ्यासार्थ प्रश्न दिये गए हैं।

## 7.2 साख (Credit)

वर्तमान युग में साख का महत्व अत्यधिक हो गया है। आज साख मुद्रा के अभाव में व्यापार करने के लिए कल्पना करना भी सम्भव नही है। साख के लिए अंग्रेजी में Credit शब्द का प्रयोग किया जाता है जो लेटिन भाषा के शब्द 'Credo' से उत्पन्न हुआ हैं जिसका अर्थ है 'मैं विश्वास करता हूँ अत: साख शब्द का अर्थ है विश्वास परन्तु अर्थशास्त्र में साख शब्द का अर्थ है स्थगित भुगतान अथवा उधार लेन-देन।

### 7.2.1 साख का अर्थ (Meaning of Credit)

जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु का प्रयोग वर्तमान समय में करता है, परन्तु उसका भुगतान भविष्य में करना चाहता है तब वह कुछ समय के लिए साख अथवा उधार लेना चाहता है। अत: साख वर्तमान समय में बेचे गये माल के बदले मांगने पर या भविष्य में किसी तिथि पर भुगतान प्राप्त करने का अधिकार या भुगतान देने का दायित्व है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने साख की परिभाषाएँ इस प्रकार दी है -

**जेवन्स के अनुसार,** 'साख का आशय भुगतान को स्थगित करने से है।"

**प्रो. जोड के अनुसार.** 'साख एक ऐसा विनिमय कार्य है जो कुछ समय पश्चात् भुगतान करने पर समाप्त हो जाता है।"

**प्रो. किनले के अनुसार,** 'साख से आशय किसी व्यक्ति की उस शक्ति से होता है जिसके द्वारा वह अन्य किसी व्यक्ति को भविष्य में भुगतान करने की प्रतिज्ञा पर अपनी आर्थिक वस्तुएँ सौंपने के लिए प्रेरित करता हैं। इस प्रकार साख ऋणी का एक गुण या शक्ति है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साख का सर्वप्रमुख आधार विश्वास ही हैं।

### 7.2.2 साख को प्रभावित करने वाले तत्व (Factors affecting amount of Credit)

सामान्यतया साख की मात्रा निम्नलिखित बातों से प्रभावित होती है :

(1) **लाभ की दर (Rate of Profit)** यदि विनियोगकर्ता तथा उत्पादक को अधिक लाभ प्राप्त होता है तो वह ऋण के लिए अधिक माँग करते है। ऋण की माँग अधिक होने पर ब्याज दर ऊँची हो जाती है तथा ऋणों की पूर्ति बढ़ जाती है।

(2) **व्यापारिक दशाएँ (Trade Conditions)** जब व्यापार में तेजी की स्थिति होती है तो कीमतें बढ़ती है, लाभ की मात्रा अधिक होती है तो ब्याज की दर अधिक हो जाती है तथा साख का प्रसार हो जाता है। इसके विपरीत मन्दी के समय कीमतें गिरने, लाभ कम होने से साख की मात्रा घट जाती है।

(3) **सट्टेबाजी (Speculation)** भविष्य में होने वाले कीमतों मे परिवर्तन का वर्तमान में अनुमान लगाकर जो कार्य किये जाते हैं, उसे सट्टेबाजी कहते हैं। जब कीमतों में वृद्धि होने की आशा होती है तो ऋणों की माँग बढ़ने लगती है जिससे साख का विस्तार होता है। इसी प्रकार कीमतें गिरने की सम्भावना होने पर ऋणों की माँग कम होने लगती है जिससे साख की मात्रा में कमी हो जाती है।

(4) **केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति (Monetary Policy of Central Bank)** जब केंद्रीय बैंक द्वारा बैंक दर कम कर दी जाती है तो साख विस्तार होने लगता है। इसी प्रकार जब बैंक दर ऊँची कर दी जाती है तो साख का संकुचन हो जाता है।

(5) **देश की राजनैतिक दशा (Political Condition of a Country)** यदि किसी देश में शान्ति व सुव्यवस्था हो तो साख की मात्रा में वृद्धि होती है। इसके विपरीत अशान्ति व अस्थिरता के वातावरण में व्यापार व उद्योग का विकास रूक जाता है तथा साख की मात्रा कम हो जाती है।

(6) **बैंकिंग प्रणाली का विकास (Development of Banking System)** बैंक साख के प्रमुख स्रोत होते हैं। इनके विकास के साथ-साथ साख का विस्तार होता है।

**बोध प्रश्न-01**

1. साख की परिभाषा लिखिए?
2. साख नियंत्रण से आप क्या समझते हैं?
3. सट्टेबाजी से आप क्या समझते हैं?

## 7.3 साख नियंत्रण के उद्देश्य (Objectives of Credit Control)

साख नियंत्रण के उद्देश्य निम्नलिखित हैं -

(1) **आन्तरिक कीमतों में स्थिरता स्थापित करना** साख नियंत्रण का मुख्य उद्देश्य देश की आन्तरिक कीमतों में स्थिरता स्थापित करना हैं। यह तभी संभव हो सकता है जब साख की मात्रा तथा देश की व्यापारिक आवश्यकताओं के बीच उचित समायोजन स्थापित किया जाय। यदि किसी देश में साख की मात्रा व्यापारिक आवश्यकताओं से कम है तो कीमत स्तर में गिरावट आयेगी। इसके विपरीत साख की मात्रा व्यापारिक आवश्यकताओं से अधिक है तो इससे कीमत स्तर में वृद्धि हो जायेगी। इसलिए कीमत स्तर में स्थिरता बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि साख की मात्रा व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार ही हो।

(2) **विदेशी विनिमय-दरों में स्थिरता स्थापित करना** केन्द्रीय बैंक की साख नियंत्रण नीति का उद्देश्य विदेशी विनिमय दरों में स्थिरता का होना देश के विदेशी व्यापार के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है।

(3) **व्यापार-चक्रों पर नियन्त्रण स्थापित करना** पूँजीवादी देशों में व्यापार-चक्रों के कारण आर्थिक अस्थिरता का वातावरण बना रहता है। इससे देश की अर्थव्यवस्था को बहुत हानि होती है। अत: कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि केन्द्रीय बैंक की साख नियंत्रण नीति का उद्देश्य व्यापार चक्रों को दूर अथवा कम करना होना चाहिए।

**(4)** **आर्थिक नियोजन की सफलता** पिछडे तथा अल्पविकसित देशों में केन्द्रीय बैंक साख नियंत्रण के द्वारा आर्थिक नियोजन के निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास करता है।

## 7.4 साख नियंत्रण की विधियाँ (Methods of Credit Control)

साख नियंत्रण का कार्य देश की केन्द्रीय बैंक का होता है। इस कार्य को मौद्रिक प्रबन्धन का कार्य भी कहते हैं। प्रत्येक केन्द्रीय बैंक अपने देश की परिस्थितियों के अनुसार साख नियंत्रण की अलग-अलग विधियाँ अपनाता है। केन्द्रीय बैंक की साख नियंत्रण की विधियों को प्रमुखत: दो भागों में बाँटा जा सकता हैं.

### 7.4.1 परिमाणात्मक विधियाँ (Quantitative Methods)

परिमाणात्मक विधियों के अन्तर्गत उन उपायों को सम्मिलित किया जाता है जो अर्थव्यवस्था में साख की मात्रा को संपूर्ण मौद्रिक व्यवस्था में सामान्य रूप से प्रभावित करती हैं अर्थात ये विधियाँ अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों को सामान्य रूप से प्रभावित करती हैं। इनके अन्र्तगत हम उन सब विधियों को सम्मिलित करते हैं जिनके कारण व्यापारिक बैंकों के नकद कोषों पर प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है। इनसे बैंकों के कोषों में घटत-बढ़त से उनकी साख निर्माण क्षमता बढ़ती है। साख नियंत्रण की परिमाणात्मक विधियो के अन्तर्गत निम्नलिखित उपकरणों को सम्मिलित किया जाता है :

**(1)** **बैंक दर (Bank Rate)**

बैंक दर साख नियंत्रण का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन हैं। बैंक दर से अभिप्राय उस न्यूनतम दर से है जिस पर देश का केन्द्रीय बैंक संबद्ध बैंकों की प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों को पुन: भूनाने के लिए अथवा स्वीकृत प्रतिभूतियों पर ऋण देने के लिए तैयार रहता हैं। बैंक दर बाजार दर से भिन्न होती है। बाजार दर से अभिप्राय ब्याज की उस दर से है जिस पर देश के व्यापारिक बैंक तथा मुद्रा बाजार की अन्य संस्थायें हुण्डियों एवं अन्य स्वीकृत प्रतिभूतियों को भुनाने अथवा उनके आधार पर ऋण देने के लिए तैयार रहती हैं। स्पष्ट है कि बैंक दर तो केन्द्रीय बैंक की पुन: बट्टा दर है जबकि आज दर व्यापारिक बैंकों की बट्टा करने की दर होती है।

बैंक दर सामान्य ब्याज दर को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है जबकि सामान्य आज दर बैंक दर को प्रभावित नहीं कर सकती हैं। बैंक दर में वृद्धि होने से आज दर में भी वृद्धि होती है तथा कमी होने से ब्याज दर में भी कमी हो जाती है। इस प्रकार बैंक दर में परिवर्तन से साख का विस्तार एवं संकुचन होता है। बैंक दर मात्र साख नियंत्रण का ही उपकरण नहीं है बल्कि वह देश की अर्थव्यवस्था का सांकेतिक चिन्ह भी है। इसीलिए गिब्सन ने कहा है, बैंक दर में वृद्धि को एक सुव्यवस्थित अर्थतन्त्र के लिए चेतावनी की लाल रोशनी समझना चाहिये जबकि बैंक दर में कमी एक हरी झण्डी की भाँति है जिसका अर्थ है कि मार्ग बाधा रहित है और व्यापार का जहाज निशंक आगे जा सकता हैं। "

अब हम सर्वप्रथम इस बात का अध्ययन करेगें कि बैंक दर में वृद्धि करने के उद्देश्य क्या होते हेरे

(i) **विनिमय दर में सुधार** जब विदेशी विनिमय दर देश के प्रतिकूल होती है, तब इसे ठीक करने अथवा देश के अनुकूल बनाने के लिये केन्द्रीय बैंक, बैंक दर में वृद्धि कर देता है। इससे विदेशी पूँजी उस देश की और आकर्षित होने लगती है। देशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती है और परिणामत: विदेशी विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है।

(ii) **स्वर्ण कोष की रक्षा** जब देश का स्वर्ण किसी कारण अधिकाधिक मात्रा में बाहर जाने लगता है', तब उसे रोकने के लिए बैंक दर में वृद्धि कर दी जाती है। इससे स्वर्ण का निर्यात बन्द अथवा कम हो जाता है।

(iii) **सट्टे पर नियन्त्रण** जब देश में सट्टा तेजी से होने लगता है तब सट्टेबाज अधिकाधिक मात्रा में व्यापारिक बैंकों से ऋण लेने लगते हैं और व्यापारिक बैंक उस माँग को पूरा करने के लिए केन्द्रीय बैंक से ऋण लेना आरम्भ कर देते हैं। ऐसी परिस्थिति में केन्द्रीय बैंक, बैंक दर में वृद्धि कर देता है। इससे सट्टेबाज को अधिक बाज की दर पर रूपया उधार मिलता है जिसके फलस्वरूप सट्टा व्यवसाय हतोत्साहित हो जाता है।

(iv) **प्रतिशोध की भावना** कभी-कमी अन्य देशों में बैंक दर के बढ़ जाने से पूँजी का निर्यात उन देशों को होने लगता है। अत: पूँजी के इस निर्यात को रोकने के लिए देश की बैंक दर में वृद्धि करना अनिवार्य हो जाता है।

अब हम उन उद्देश्यों की विवेचना करेगें जिनके कारण बैंक दर में कमी हो जाती हैं-

**(अ) मुद्रा बाजार में धनाभाव को दूर करने के लिए** प्राय: मन्दीकाल में जब किसी देश के मुद्रा बाजार में धन का अभाव उत्पन्न हो जाता है तब ऐसी परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए बैंक-दर को कम कर दिया जाता है। परिणामत: व्यापारिक बैंकों की साख निर्माण की शक्ति बढ़ जाती है और मुद्रा बाजार में धन का अभाव कम हो जाता है।

**(ब) मुद्रा की माँग में वृद्धि करने के लिए** मन्दीकाल में व्यवसायियों की मुद्रा की माँग घट जाती है। ऐसी परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए केन्द्रीय बैंक, बैंक दर में कमी कर देता है ताकि व्यवसायी तथा व्यापारी लोग अधिक मात्रा में ऋण लेने के लिए प्रोत्साहित हो।

**(स) विदेशी पूंजी के आयात में कमी करने के लिए** जब किसी देश में बड़े पैमाने पर विदेशी पूँजी का आयात होता है और यह आयात देश के हित में नहीं होता, तब ऐसी परिस्थिति में केन्द्रीय बैंक, बैंक दर को कम करके विदेशी पूँजी के आयात को हतोत्साहित करता है।

- **बैंक दर नीति को सीमाएँ (Limitation of Bank Rate Policy)**

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बैंक दर साख नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण उपकरण है परन्तु इसकी सफलता के लिए कुछ तत्वों का अनुकूल होना आवश्यक है, जिसमें अर्थव्यवस्था का लोचदार होना, देश में संगठित मुद्रा बाजार तथा केन्द्रीय बैंक का बैंकिंग व्यवस्था पर प्रभावी नियंत्रण आदि मुख्य हैं। बैंक दर नीति की सफलता के लिये प्रमुख बातें अथवा बैंक दर नीति की प्रमुख सीमाएँ इस प्रकार हैं:

(1) बैंक दर नीति की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा बाजार में बैंक-दर और सामान्य बाज-दर में प्रत्यक्ष एवं प्रमादी निकटता विद्यमान हो ताकि बैंक दर में परिवर्तन सामान्य ब्याज दर को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित कर सके। इसके लिए देश में सुसंगठित मुद्रा बाजार का होना आवश्यक है।

(2) बैंक दर नीति की सफलता इस बात पर निर्भर करती है वाणिज्यिक बैंक आवश्यक रूप से तरलता की समस्या के समाधान के लिए केवल केन्द्रीय बैंक पर निर्भर रहे।

(3) बैंक दर नीति का प्रभाव अर्थव्यवस्था में तात्कालिक न होकर दीर्घकालीन होता है, जिससे अल्पकालीन उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकती।

(4) वाणिज्यिक बैंकों की वित्तिय सुदृढ़ता बैंक दर नीति के प्रभाव को सीमित करती है।

(5) बैंक दर नीति मुद्रा स्फीति की अपेक्षा मुद्रा संकुचन को सीमित रूप में प्रभावित करती है। अत: मुद्रा संकुचन के नियंत्रण के लिए बैंक दर नीति अनुपयुक्त हैं।

(6) बैंक दर नीति की प्रकृति अविभेदात्मक है जो उत्पादन और अनुत्पादक गतिविधियों को समान रूप से प्रभावित करती हैं।

यद्यपि वर्तमान आर्थिक परिपेक्ष्य में विकसित तथा अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में बैंक दर नीति बहुत अधिक उपयुक्त सिद्ध नहीं हुयी है परन्तु फिर भी इसके महत्व को पूर्णत: नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि बैंक दर नीति अर्थव्यवस्था को मनोवैज्ञानिक तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं।

### (2) खुले बाजार की क्रियाएं (Open Market Operations)

यह भी साख नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण उपाय है। इस रीति का उपयोग विभिन्न देशों द्वारा प्रथम विश्व युद्ध के बाद किया गया था। खुले बाजार की क्रियाओं का अर्थ इस प्रकार है "जब केन्द्रीय बैंक अथवा सरकार खुले बाजार की प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय करती है तो इसे खुले बाजार की क्रियाएँ कहते हैं। '

मान लीजिए कि मुद्रा बाजार में द्रव्य (Liquidity) की बहुतायत है और सम्बद्ध बैंक बडे पैमाने पर साख का सृजन कर रहे हैं परन्तु केन्द्रीय बैंक बड़े पैमाने पर साख के इस निर्माण के विरूद्ध है क्योंकि अधिक मात्रा में साख का निर्माण देश की अर्थव्यवस्था के लिए हानिकारक है। अत: ऐसी परिस्थिति में केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों को बाजार में बेचना शुरू कर देगा। इसके परिणामस्वरूप बडे पैमाने पर द्रव्य का हस्तान्तरण केन्द्रीय बैंक को होने लगेगा, क्योंकि जो लोग प्रतिभूतियों को खरीदेंगे, उन्हें केन्द्रीय बैंक को इनकी कीमतें चुकानी होगी। इस प्रकार सम्बद्ध बैंकों से केन्द्रीय बैंक की ओर मुद्रा का हस्तान्तरण होने लगेगा। सम्बद्ध बैंकों की जमाराशियाँ कम हो जायेगी और परिणामत: उनकी साख सृजन की शक्ति भी कम हो जायेगी। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक की प्रतिभूतियों को बेचने की नीति का परिणाम साख-संकुचन होता है।

इसके विपरीत यदि केन्द्रीय बैंक समझता है कि मुद्रा बाजार में द्रव्य की कमी है और इसी कारण साख का निर्माण कम मात्रा में हो रहा है तो वह प्रतिभूतियों को खरीदना आरम्भ कर देगा। इससे केन्द्रीय बैंक साधारण जनता अथवा बैंकों से प्रतिभूतियों को खरीदता है तब उस समय उसे इन प्रतिभूतियों की कीमत चुकानी पड़ती है और बढ़ी हुई जमाशशियों के आधार पर सम्बद्ध बैंक अधिक मात्रा में साख का सृजन करने लगते हैं। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक की प्रतिभूतियों को खरीदने की नीति का स्पष्ट परिणाम साख-विस्तार होता है।

- **खुले बाजार की क्रियाओं को सीमाएँ (Limitations of Open Market Operations)**

खुले बाजार की क्रियाओं का उपयोग भी सीमित रूप में ही किया जा सकता है क्योंकि इसकी निम्न सीमाएँ हैं:

1. खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता देश के संगठित एवं विकसित प्रतिभूति बाजार पर निर्भर करती है ताकि व्यापक स्तर पर प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय किया जा सकें।
2. इसके अन्तर्गत प्रतिभूतियों के क्रय की अपेक्षा विक्रय एक कठिन प्रक्रिया है क्योंकि जन सामान्य व वित्तीय संस्थाओं को प्रतिभूतियों के क्रय के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है।

3. खुले बाजार की क्रियाओं में केवल अल्पकालीन प्रतिभूतियाँ ही प्रभावी सिद्ध होती है।
4. खुले बाजार की क्रियाओं की अधिकता में सरकार की साख और मुद्रा बाजार के स्थायित्व पर विपरीत प्रभाव एवं सकता है।

उपर्युक्त सीमाओं के उपरान्त भी खुले बाजार की क्रियाएँ केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नियंत्रण नीति का एक महत्वपूर्ण उपकरण है।

- **खुले बाजार की क्रियाएं बनाम बैंक दर**

खुले बाजार की क्रियाएँ बैंक दर नीति की अपेक्षा अधिक प्रभावी एवं श्रेष्ठ है क्योंकि :

1. खुले बाजार की क्रियाओं का प्रभाव नकद कोषों पर प्रत्यक्ष होता है जबकि बैंक दर उन पर केवल अप्रत्यक्ष प्रभाव ही डालती है।
2. खुले बाजार की क्रियाओं का प्रयोग दिन, सप्ताह अथवा मास में कितनी ही बार हो सकता है इसके विपरीत बैंक दर में बहुत बार पखिर्तन करना न तो सम्भव है और न उचित है क्योंकि बैंक दर केवल देश के बैंकों के ही नही? बल्कि विदेशी बैंकों के कोषों को भी प्रभावित करती है।
3. खुले बाजार की क्रियाओं के सम्बन्ध में पहल करना मौद्रिक अधिकारियों के हाथ में रहता है जबकि बैंक दर नीति की सफलता इस बात पर निर्भर रहती हैं कि अन्य व्यापारिक बैंक, बैंक दर नीति में किस सीमा तक परिवर्तन करते है
4. खुले बाजार की क्रियाएँ अधिक लोचपूर्ण है क्योंकि इनका सतत प्रयोग किया जा सकता है तथा अर्थव्यवस्था पर इनका कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पडता। बैंक दर का प्रयोग केवल दीर्घकालीन समायोजना के लिये किया जाता है जबकि खुले बाजार की क्रियाओं का प्रयोग अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन दोनों ही प्रकार के समायोजन के लिए किया जाता है।

### (3) बैंकों के नकद कोषानुपात में परिवर्तन (Changes in Cash Reserve Ratio)

केन्द्रीय बैंक "बैंकों का बैंक" के रूप में कार्य करता है। सदस्य बैंकों के लिए यह अनिवार्य होता है कि वे अपनी कुल जमाओं का एक निश्चित प्रतिशत केन्द्रीय बैंकों के पास नकद के रूप में जमा रखें। केन्द्रीय बैंक को यह अधिकार होता है कि वह इस अनुपात में आवश्यक परिवर्तन करके बैंकों की साख निर्माण की शक्ति को नियंत्रित करें। केन्द्रीय बैंक द्वारा नकद कोष में वृद्धि का प्रभाव यह होता है कि व्यापारिक बैंकों के पास नकदी की मात्रा कम रह जाती है और उनकी साख निर्माण क्षमता कम हो जाती है। इसके विपरीत नकद कोष में कमी करने पर व्यापारिक बैंकों की साख निर्माण शक्ति बढ़ जाती है।

### (4) तरल कोषानुपात में परिवर्तन (Changes in Liquidity Rate)

द्वितीय युद्धकाल में साख नियंत्रण की एक और नयी पद्धति का अविष्कार किया गया। इस पद्धति के अन्तर्गत देश के व्यापारिक बैंकों के लिए अपनी कुल सम्पत्ति का एक भाग तरल रूप में रखना आवश्यक होता है। इस तरल राशि में नकद राशि तथा अनुमोदित प्रतिभूतियाँ सम्मिलित होती है। इसका प्रभाव यह होता है कि व्यापारिक बैंक जिस सीमा तक एक निश्चित राशि नकद तथा सरकारी प्रतिभूतियों के रूप में रखते हैं, उस सीमा तक उनकी साख निर्माण की शक्ति कम हो जाती है।

**बोध प्रश्न-2**

1. बैंक दर से क्या अभिप्राय है ?

2. बैंक दर तथा सामान्य ब्याज दर में क्या अंतर है ?
3. खुले बाजार की क्रियाएँ को परिभाषित करिये ?
4. नकद कोष में परिवर्तन द्वारा किस प्रकार साख पार नियंत्रण रखा जाता है ?

### 7.4.2 गुणात्मक विधियाँ (Qualitative Methods)

गुणात्मक अथवा चयनात्मक साख नियंत्रण विधियाँ अपेक्षाकृत नवीन विधियाँ है। इनका उद्देश्य साख की कुल मात्रा को नियंत्रित न करके साख के विभिन्न उपयोगों पर नियंत्रण करके, अर्थव्यवस्था के विशेष क्षेत्रों की आर्थिक अथवा वित्तीय क्रियाओं को प्रभावित करना होता है। गुणात्मक साख नियंत्रण में निम्न उपकरणों को सम्मिलित किया जाता है

(i) **अन्तर -निर्धारण (Fixation of Margin)** व्यवहार में सभी व्यापारिक बैंक जितने भी ऋण देते हैं, उनके पीछे किसी न किसी प्रकार की धरोहर अथवा जमानत अवश्य रखते हैं। जमानत के मूल्य तथा ऋण की राशि में प्राय: 20 से 50 प्रतिशत तक का अन्तर रखा जाता है ताकि जमानत का मूल्य गिरने पर हानि न हो। प्राय: यह अन्तर बैंक द्वारा निर्धारित किया जाता है परन्तु कभी-कभी केन्द्रीय बैंक इन अन्तर निर्धारणों में हस्तक्षेप करने लगता है। इसके द्वारा केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को उनके ग्राहकों द्वारा रखी गयी जमानत के मूल के बराबर ऋण देने से रोकते हैं। उदाहरणस्वरूप यदि केन्द्रीय बैंक 40 प्रतिशत अन्तर निर्धारण करता है तो व्यापारिक बैंक जमानत के मूल्य के 60 प्रतिशत के बराबर उधार धन दे सकेंगे। अन्तर निर्धारण द्वारा सट्टे की प्रवृत्तियों में साख के उपयोग को प्रतिबंधित किया जा सकता है तथा स्फीतिकारक प्रभावों को सीमित किया जा सकता है।

(ii) **उपभोक्ता साख का नियमन (Regulation of Consumer Credit)** सर्वप्रथम इस रीति का प्रयोग दूसरे महायुद्ध के दौरान अमेरिका में किया गया था। इसका उद्देश्य टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं की खरीद के लिए उपभोक्ता साख की मात्रा को नियमित करना है। आधुनिक युग में विलासिता की वस्तुएँ साख अथवा किश्तों पर खरीदी जाती है। वस्तु के मूल्य का एक भाग आरम्भ में देकर उपभोक्ता शेष रकम किश्तों में चुकाता है। यदि केन्द्रीय बैंक साख को हतोत्साहित करना चाहता है तो वह न्यूनतम भुगतान की मात्रा में वृद्धि तथा किश्तों की अवधि में कमी कर सकता है। ऐसे देश जहाँ अधिकांश सौदे नकद होते है, वहाँ यह रीति उपयोगी नही होती हे।

(iii) **केन्द्रीय बैंक के निर्देश (Control through Directives by the Central Bank)** अनेक बार केन्द्रीय बैंक लिखित आदेशों, अपील अथवा चेतावनियों के द्वारा बैंकों को साख नियंत्रण हेतु समय-समय पर निर्देश देता रहता हैं। केन्द्रीय बैंक निम्नलिखित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु निर्देश जारी कर सकता है

1. व्यापारिक बैंकों की ऋण देने सम्बन्धी नीति को नियंत्रित करने हेतु।
2. साख के प्रवाह को कम उपयोगी क्षेत्र से अधिक आवश्यक क्षेत्र की ओर अथवा अनुत्पादक क्षेत्रों से उत्पादक क्षेत्रों की ओर करने हेतु।
3. किन्हीं निश्चित उद्देश्यों हेतु साख की अधिकतम सीमा का निर्धारण करने के लिए।

(iv) **साख की राशनिंग (Credit Rationing)** साख का गुणात्मक नियंत्रण करने का एक महत्वपूर्ण तरीका साख की राशनिंग करना है। अन्तिम ऋणदाता के रूप में केन्द्रीय बैंक जब अन्य बैंकों की साख की माँग को पूर्ण रूप से पूरा नहीं कर पाता, तो वह इसका राशन कर देता है अर्थात् यह निश्चित कर देता है कि प्रत्येक बैंक को कितनी साख दी जायेगी। इस प्रकार प्रतिबन्ध के कारण बैंकों की साख निर्माण शक्ति सीमित हो जाती है। केन्द्रीय बैंक द्वारा साख की राशनिंग विभिन्न तरीकों से की जा सकती है -

1. किसी बैंक के लिए पुन: भुनाने की सुविधा को समाप्त कर देना।
2. सभी बैंकों के लिए पुन: भुनाने की सुविधा को सीमित कर देना अथवा उनके लिए साख का कोटा निश्चित कर देना।
3. विभिन्न बैंकों द्वारा विभिन्न उद्योगों अथवा व्यवसायों को दिये जाने वाले ऋणों की सीमा अथवा कोटा निश्चित कर देना।

(v) **नैतिक अनुनय (Moral Suasion)** केन्द्रीय बैंक द्वारा अन्य बैंकों पर नैतिक दबाव डालकर भी साख का गुणात्मक नियंत्रण किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक वाणिज्य बैंकों को कुछ परामर्श देता है और इसी के द्वारा उनकी साख निर्माण नीति को प्रभावित करता है। नैतिक दबाव की नीति की सफलता मुख्यत: तीन बातों पर निर्भर करती है

1. केन्द्रीय बैंक का मुद्रा बाजार पर पूरा अधिकार होना चाहिये।
2. उसे इस सम्बन्ध में पर्याप्त अधिकार प्राप्त होने चाहिये।
3. केन्द्रीय और अन्य बैंकों के बीच सहयोग एवं सदभावना होनी चाहिए।

(vi) **प्रचार (Publicity)** वर्तमान युग में विज्ञापन का बहुत महल है और अनेक कार्य कानून की बजाय केवल प्रचार से ही सम्पन्न किये जा सकते हैं। प्रत्येक देश का केन्द्रीय बैंक प्राय: कुछ पत्र-पत्रिकाएँ अथवा पुस्तिकाएँ प्रकाशित करता रहता है। इसके माध्यम से बह देश की आर्थिक स्थिति जनता के समक्ष प्रस्तुत करता है और अपनी भविष्य की नीति सम्बन्धी संकेत देता है। केन्द्रीय बैंक के उच्चाधिकारी पत्रकार सम्मेलनों, बैंकों की विचार गोष्ठियों तथा अन्य अवसरों पर अपनी नीति पर प्रकाश डालते रहते हैं, जिसके फलस्वरूप बैंक की साख रीति में उचित परिवर्तन आने की सम्भावना रहती है। प्रचार नीति बहुत कुछ नैतिक दबाव नीति का एक सामान्य स्वरूप

(vii) **प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action)** केन्द्रीय बैंक को प्राय: यह अधिकार प्राप्त होता है कि अन्य बैंकों को अपनी नीति का अनुकरण करने के लिए बाध्य कर सके। परन्तु जब सम्बद्ध बैंकों पर नैतिक दबाव अथवा समझाने बुझाने की नीति का कुछ भी असर नही पड़ता तब विवश होकर केन्द्रीय बैंक को उनके विरूद्ध प्रत्यक्ष कार्यवाही करनी पड़ती है। इस नीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक असहयोगी बैंकों की हुण्डियों का पुन: बट्टा करना बन्द कर देता है और उनके कार्यो पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगा देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साख नियंत्रण के कई उपाय है। इनमें से कुछ उपाय तो तुरन्त ही सप्रभाविक होते हैं और कुछ का प्रभाव कुछ समय पश्चात् दिखाई देता है। किसी केन्द्रीय बैंक को

साख नियंत्रण की किस रीति को अपनाना चाहिए, यह उस देश की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता है।

## 7.5 साख नियंत्रण की कठिनाइयाँ (Difficulties of Credit Control)

साख नियंत्रण की मुख्य-मुख्य कठिनाइयाँ निम्नलिखित है :

(1) **अव्यवस्थित बैंक व्यवस्था (Unorganised Banking System)** विश्व के अधिकांश देशों में बैंक व्यवस्था अत्यन्त दुर्बल एवं असंगठित है। बैंकों में पारस्परिक सहयोग का सर्वथा अभाव है। यहाँ तक कि केन्द्रीय बैंक व्यवस्था से भी उनके सम्बन्ध विशेष घनिष्ठ नही है। ऐसी स्थिति में केन्द्रीय बैंक द्वारा अपनी साख नीतियों में सफलता प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है।

(2) **व्यापारिक बैंकों की क्रियाओं पर वैधानिक नियंत्रण का अभाव (Absence of Statutory Control by Central Bank on Activities of Commercial Banks)** कुछ देशों में व्यापारिक बैंकों पर केन्द्रीय बैंक का वैधानिक नियंत्रण नही है। इसके अतिरिक्त उन देशों में अनेक ऐसी वित्तिय संस्थाएं है जो ऋण सम्बन्धी लेन-देन का कार्य करती है। इन सबकी नीतियों का नियंत्रण करना बहुत कठिन होता है।

(3) **साख के अन्तिम उपयोग पर नियंत्रण रखने की कठिनाई (Difficulty in Keeping control on the ultimate use of Credit)** केन्द्रीय बैंक के लिए यह अति कठिन होता है कि वह साख के अन्तिम उपयोग पर नियंत्रण कर ले। मान लीजिए कि उसने सम्बद्ध बैंकों को सट्टा कार्यो के लिए ऋण देने का निषेध किया है। अब यदि बैंकों के ग्राहक व्यावसायिक कार्यो के लिए ऋण लेकर वास्तव में इसका प्रयोग सट्टे के लिए करने लगे, तो केन्द्रीय बैंक कैसे नियंत्रण करेगा? ऐसी दशा में उसके साख नियंत्रण का उद्देश्य ही व्यर्थ हो जायेगा।

(4) **साख की विभिन्न किस्मों पर नियंत्रण करने में कठिनाई (Difficulty to Keep control on various varities of credit)** साख कई प्रकार के होते है जैसे बैंक साख, पुस्तकीय साख, वाणिज्य साख आदि। केन्द्रीय बैंक तो केवल बैंक साख का ही नियंत्रण करता है, अन्य प्रकार की साख का नहीं।

**बोध प्रश्न - 3**

(1) साख नियंत्रण की अन्तर निर्धारण नीति से क्या तात्पर्य है?

(2) "साख का राशनिंग" से आप क्या समझते हैं।

(3) केन्द्रीय बैंक किस प्रकार से प्रत्यक्ष कार्यवाही द्वारा व्यापारिक बैंकों पर नियंत्रण रखती हैं?

## 7.6 सारांश (Summary)

केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था के मौद्रिक एवं वित्तीय प्रबन्ध की सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्था है जो देश में मौद्रिक स्थायित्व तथा साख के आंतरिक एवं बाह्य दोनो रूपों को संगठित करती है। आज विश्व की आर्थिक गतिविधियों का मूल आधार साख है। साख की मात्रा में कमी अथवा वृद्धि से सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की आर्थिक गतिविधियां प्रभावित होती है। आर्थिक उच्चावचनों के नियंत्रण में केन्द्रीय बैंक अहम् भूमिका निभाता है। साख का देश की आवश्यकता के अनुरूप सृजन और उसका आर्थिक वातावरण

के अनुरूप नियंत्रण केन्द्रीय बैंक का सर्वप्रमुख कार्य होता है। वास्तव में मौद्रिक नीति का आधार ही साख नियंत्रण नीति होती है।

## 7.7 शब्दावली (Glossary)

**(1)** केन्द्रीय बैंक (Central Bank) केन्द्रीय बैंक देश की सर्वोच्च बैंकिंग एवं मौद्रिक संस्था है जिसका मुख्य कार्य राष्ट्रीय हित में देश की बैंकिंग एवं मौद्रिक प्रणाली को नियमित, नियन्त्रित एवं उच्चावचन मुक्त बनाना है।

**(2)** विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) एक देश की मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा से विनिमय।

**(3)** व्यापार चक्र (Trade cycle) - व्यापार चक्र संगठित समुदायों की आर्थिक क्रियाओं में उतार चढ़ाव का एक स्वरूप है। इसकी पाँच अवस्थायें होती है अवसाद, पुनरूत्थान, पूर्ण रोजगार, समृद्धि तथा उत्कर्ष।

**(4)** व्यापारिक बैंक (Commercial Bank) देश में अपनी विभिन्न शाखाओं के माध्यम से यह संस्था बैंकिंग सेवाएँ प्रदान करती है।

**(5)** खुला बाजार (Open Market) खुला बाजार का अभिप्राय उस बाजार से है जहाँ-बिना किसी सरकारी हस्तक्षेप के मांग और पूर्ति के दो बल कीमत का निर्धारण करते हैं। दूसरे शब्दों में खुला बाजार एक अनियंत्रित बाजार है।

## 7.8 सन्दर्भ ग्रन्थ (References)

डा. एम. एल. सेठ, “मुद्रा एवं बैंकिंग”; शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा

पी. के. सिंह एवं मुकेश माथुर, “मुद्रा, बैंकिंग", राजस्व एवं विदेशी विनिमय, हिमांशु पब्लिकेशन्स

डॉ. टी. टी. सेठी, “मुद्रा, बैंकिंग एवं विदेशी विनिमय"; लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा

## 7.9 अभ्यासार्थ प्रश्न (Unit-end Questions)

**(1)** साख नियंत्रण के अर्थ एवं उद्देश्यों को समझाइये।

**(2)** केन्द्रीय बैंक की मात्रा तथा गुण सम्बन्धी साख नियंत्रण करने की विधियों का अन्तर समझाइये। उक्त दोनों विधियों में से कौन सी अधिक उपयोगी है और क्यों?

**(3)** “बैंक दर नीति श्रेष्ठ है या खुले बाजार की क्रियाओं की नीति।" इस पर एक नोट लिखिये।

**(4)** केन्द्रीय बैंक को साख नियंत्रण में किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है?

## 7.10 बोध प्रश्नों के उत्तर (Answers of Exercise)

बोध प्रश्न - 1

(1) जब वस्तुओं का अधिग्रहण बिना भुगतान किये किया जाता है तब उसे साख कहते हैं।

(2) साख की मात्रा में मांग के अनुकूल समायोजन करना।

(3) भविष्य में होने वाले कीमतों में परिवर्तन का वर्तमान में अनुमान लगाकर जो कार्य किये जाते है, उसे सट्टेबाजी कहते है।

बोध प्रश्न - 2

(1) वह कटौती दर है जिस पर देश का केन्द्रीय बैंक प्रथम श्रेणी के बिलों की कटौती करता है।

(2) बैंक दर सामान्य ब्याज को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है जबकि सामान्य ब्याज पर बैंक दर को प्रभावित नही कर सकती है।

(3) खुले बाजार की क्रियाएँ केन्द्रीय बैंक द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों की बिक्री एवं खरीद को बताती हे।

(4) केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंक की कुल जमाओं का निश्चित अनुपात अपने पास जमा रखता है। वह इस अनुपात में आवश्यक परिवर्तन करक़े बैंकों की साख निर्माण की शक्ति को नियंत्रित करता है।

बोध प्रश्न - 3

(1) बैंक द्वारा जमानत के मूल्य तथा ऋण की राशि में 20 से 50 प्रतिशत तक का अन्तर रखना।

(2) जब बैंक उधार लेने वालों के बीच विभेद करता हैं तब साख राशनिंग का जन्म होता है।

(3) केन्द्रीय बैंक द्वारा पुन: कटौती की सुविधा देना बन्द कर देना या बैंक दर से ऊँची दर पर यह सुविधा देता है।

# इकाई - 08

# भारतीय रिजर्व बैंक एवं मौद्रिक नीति, उद्देश्य, ब्याज दर (RBI and Monetary Policy, Objectives, Intermediate Targets, Interest Rates)

**इकाई की रूपरेखा**

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 संगठनात्मक संरचना एवं प्रबन्धन
8.3 भारतीय रिजर्व बैंक के उद्देश्य
8.4 रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के प्रमुख कार्य
    8.4.1 कागजी मुद्रा का निर्गमन
    8.4.2 साख मुद्रा का नियंत्रण
    8.4.3 सरकार का बैंक
    8.4.4 बैंकों का बैंक
    8.4.5 विनिमय प्रबन्धन एवं नियंत्रण
8.5 भारतीय रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति के उद्देश्य
    8.5.1 मुद्रा स्फीति पर नियंत्रण तथा कीमत स्थिरता
    8.5.2 आर्थिक विकास
    8.5.3 विनिमय दर की स्थिरता
8.6 रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति
    8.6.1 नियन्त्रित विस्तार की मौद्रिक नीति (1951-1972)
    8.6.2 आर्थिक सुधारों से पूर्व मौद्रिक नीति (1972-91)
    8.6.3 आर्थिक सुधारों (1991) के पश्चात मौद्रिक नीति
8.7 समष्टि आर्थिक और मौद्रिक गतिविधियाँ
8.8 सारांश
8.9 शब्दावली
8.10 सन्दर्भ ग्रन्थ
8.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

## 8.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- भारत के बैंकों का सरताज रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (RBI) के संगठनात्मक संरचना एवं प्रबन्ध व्यवस्था के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे;
- समझ सकेंगे कि देश के केन्द्रीय बैंक (रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया) के मुख्य उद्देश्य क्या हैं?
- रिजर्व बैंक के कार्यो का अध्ययन करेंगे;
- जान सकेंगे कि भारतीय रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की मौद्रिक नीति के मुख्य उद्देश्य क्या है?

## 8.1 प्रस्तावना (Introduction)

देश में केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना 1 अप्रैल, 1935 को हुई थी। इसकी स्थापना के पूर्व देश में केन्द्रीय बैंक की स्थापना करने के अनेक बार प्रयास किये गये थे। 1773 में बंगाल के गवर्नर बारेन हेस्टिंग्ज़ ने एक 'जनरल बैंक इन बंगाल एण्ड बिहार' की स्थापना की सिफारिश की। इसके बाद अगला प्रयास 'बॉम्बे सरकार' के एक सदस्य राबर्ट रिचर्ड द्वारा एक 'जनरल बैंक' की एक योजना 1807-08 में प्रस्तुत किया गया, परन्तु गवर्नर जनरल इससे प्रभावित नहीं हुए। भारतीय रिजर्व बैंक की स्थापना के लिए एक नाम जान मेनार्ड कीन्स का भी आता है। वर्ष 1931 के भारतीय वित्त एवं मुद्रा के "रायल" आयोग के सदस्य के रूप में कीन्स ने "प्रोपोजल्स फार द एस्टेब्लिशमेन्ट आफ ए स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया" नामक शीर्षक का एक ज्ञापन प्रस्तुत किया। कीन्स द्वारा प्रस्तावित स्टेट बैंक को केन्द्रीय बैंकिंग तथा वाणिज्यिक बैंकिंग दोनों का काम करना था, परन्तु प्रथम विश्व युद्ध के कारण यह योजना लाग नहीं हो सकी।

वर्ष 1921 में तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों के एकीकरण द्वारा "इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया" की स्थापना, इस दिशा में पहला कदम था। प्रारम्भ में यह एक वाणिज्यिक बैंक था जो केन्द्रीय बैंक के कुछ कार्य जैसे सरकारी कामकाज तथा बैंकों का बैंक जैसे काम भी निपटाता था। परन्तु नोट जारी करना तथा विदेशी मुद्रा प्रबन्धन सीधे केन्द्रीय सरकार का दायित्व था। 1926 में हिल्टन यंग आयोग में सिफारिश की कि दोनों तरह के कार्यो व दायित्व का विभाजन समाप्त हो जाना चाहिए। आयोग ने "रिजर्व बैंक आफ इण्डिया" नामक एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव दिया। जनश्री 1927 में विधानसभा में '"गोल्ड स्टैण्डर्ड एण्ड रिजर्व बैंक आफ इण्डिया" विधेयक प्रस्तुत किया गया परन्तु पास न हो सका। तत्पश्चात् 1933 में भारतीय संवैधानिक सुधारों के समय इस प्रश्न पर पुन: विचार किया गया तथा 8 सितम्बर, 1933 को एक नया विधेयक प्रस्तुत किया गया, जिसको विधानसभा की स्वीकृति प्राप्त हुई। 6 मार्च, 1934 को गवर्नर जनरल के हस्ताक्षर हुए। 58 अनुभागों (Sections) वाले इस अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार भारतीय रिजर्व बैंक का जन्म हुआ तथा 1 अप्रैल, 1935 से इसने कार्य आरम्भ किया।

अप्रैल, 1937 में वर्मा के भारत से अलग होने तथा अगस्त, 1947 में देश का विभाजन होने के कारण पाकिस्तान बन जाने से बैंक के कार्य क्षेत्र में काफी परिवर्तन हो गया था। वर्मा के अलग राज्य बन जाने के पश्चात् भी भारतीय रिजर्व बैंक आफ इण्डिया 5 जून, 1942 तक उस देश के मुद्रा अधिकारी तथा 31 मार्च, 1947 तक बर्मा सरकार के बैंकर के रूप में कार्य करती रही थी। अगस्त, 1947 में देश के विभाजन के उपरान्त बैंक ने 30 जून, 1948 तक पाकिस्तान के लिए केन्द्रीय बैंक का कार्य किया था।

आरम्भ में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की स्थापना अंशधारियों के बैंक के रूप में हुई थी। इसकी अंशदत्त पूँजी के रूप में हुई थी। इसकी अंशदत्त पूँजी राशि 5 करोड़ रूपये थी जो 100 रूपये मूल्य के पूर्णतया चुकता पूँजी 5 लाख अंशों में विभाजित थी। प्रारम्भ में केवल 22000 रूपये की राशि के अतिरिक्त सभी अंशधारियों की थी। बैंक के सार्वजनिक कार्यो को ध्यान में रखते हुए बैंक के अधिनियम में अंशधारियों को दिये जाने वाले लाभांश की मात्रा तथा अंशों की संख्या सम्बन्धी कुछ प्रतिबन्ध निर्धारित कर दिये गये थे। एक जनवरी, 1949 को भारत सरकार द्वारा रिजर्व बैंक आफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण कर देने के पश्चात् भारत सरकार ने सभी निजी अंशधारियों के शेयर खरीद लिये। यह पूर्ण रूप से इसके बाद सरकारी बैंक बन गया। प्रस्तुत इकाई में भारतीय रिर्जव बैंक के कार्यो एवं इसकी मौद्रिक नीति के उद्देश्यों की चर्चा की गई है। इसके पश्चात खण्ड 8.6 में रिर्जव बैंक की मौद्रिक नीति की चर्चा की गई है। इकाई के अन्त में सारांश, शब्दावली, सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची तथा अभ्यासार्थ प्रश्न दिए गए हैं।

## 8.2 संगठनात्मक संरचना एवं प्रबन्धन (Origanisational Structure and Management)

भारतीय रिजर्व बैंक की संगठनात्मक संरचना के दो भाग हैं - 1. केन्द्रीय बोर्ड 2. स्थानीय बोर्ड

1. **केन्द्रीय बोर्ड** इसका प्रबन्धन 20 सदस्यों बाले केन्द्रीय निदेशक बोर्ड द्वारा किया जाता है। बैंक का गवर्नर ही बैंक का कार्यकारी अध्यक्ष होता है। चार उप-गवर्नर उसके सहायक होते हैं। चार निदेशकों को सरकार द्वारा मनोनीत किया जाता है जो चार स्थानीय बोर्डो अर्थात् मुम्बई, कलकत्ता, चेन्नई तथा दिल्ली से चुने जाते हैं। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार विभिन्न क्षेत्रों में विशेषज्ञ व्यक्तियों के रूप में 10 निदेशकों को नामांकित करती है जो चार वर्ष के लिए नियुक्त होते है। 20 वां सदस्य एक सरकारी अधिकारी होता है जो साधारणतया केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत वित्त मंत्रालय का सचिव होता है। सरकारी अधिकारी तथा चार निदेशकों को बोर्ड की बैठक में मत देने का अधिकार नहीं होता। बैंक के सभी अधिकार केन्द्रीय निदेशक बोर्ड में निहित हैं। बोर्ड को एक साल में कम से कम 6 तथा तीन माह में कम से कम. एक बैठक करनी होती है तथापि गवर्नर को यह अधिकार है कि वह जब चाहे बोर्ड की बैठक बुला सकता है। गवर्नर तथा उप-गवर्नर बैंक के पूर्ण समय वाले वेतन योगी अधिकारी हैं, जबकि अन्य निदेशक अंशकालिक अधिकारी हैं जिन्हें बोर्ड की बैठक में भाग लेने के लिए यात्रा तथा अन्य भत्ते नियमानुसार दिये जाते हैं।
2. **स्थानीय बोर्ड** मुम्बई, कलकत्ता, चेन्नई तथा दिल्ली में चार स्थानीय बोर्ड हैं जो क्रमश: पश्चिमी, पूर्वी, दक्षिणी तथा उत्तरी क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रत्येक स्थानीय बोर्ड में केन्द्रीय सरकार द्वारा चार साल के अवधि के लिए पाँच सदस्यों को मनोनीत किया जाता है। अध्यक्ष का चुनाव इन्हीं सदस्यों में से किया जाता है तथा RBI के क्षेत्र में विशेष कार्यालय का प्रबन्धक स्थानीय बोर्ड के पदेन (Ex-officio) सचिव का कार्य करता है।

भारतीय रिजर्व बैंक का मुख्यालय मुम्बई में हैं जहाँ उसके 16 विभाग हैं जैसे - बैंकिंग, निर्गम, मुद्रा प्रबन्धन, विनिमय नियन्त्रण, औद्योगिक ऋण, कृषि ऋण आदि। देश के विभिन्न भागों में बैंक

की 2 शाखाएं तथा 15 कार्यालय हैं। जहाँ इसकी कोई शाखा या कार्यालय नही है वही भारतीय स्टेट बैंक तथा इसके सहयोगी बैंक इसके प्रतिनिधि या सह-प्रतिनिधि का कार्य करते हैं।

## 8.3 भारतीय रिजर्व बैंक के उद्देश्य (Objectives Of R.B.I)

भारतीय रिजर्व बैंक अधिनियम 1934 के बारे में उल्लिखित हैं, "बैंक नोट जारी करने की नियमित देखभाल तथा भारत में मुद्रा-स्थिरता के उद्देश्य से आरक्षितों को रखना तथा सामान्यत: मुद्रा तथा ऋण-प्रणाली का देश के हित में प्रयोग।" इन उद्देश्यों का स्पष्ट विवरण प्रथम पंचवर्षीय योजना में मिलता है, 'इसे एक प्रत्यक्ष एवं सक्रिय भूमिका निभानी होगी, पहले तो देश भर में विकास सम्बन्धी गतिविधियों के लिए वित्त की व्यवस्था तथा व्यवस्था में सहायता और यह सुनिश्चित करना कि उपलब्ध वित्त ऐच्छिक दिशाओं में प्रवाहित रहें।" इस प्रकार भारतीय रिजर्व बैंक के मुख्य उद्देश्य निम्न हैं:

1. अर्थव्यवस्था के मौद्रिक एकीकरण तथा मुद्रीकरण को प्रोत्साहित करना।
2. मुद्रा का प्रबन्धन तथा विदेशी मुद्रा को नियमित करना।
3. बैंकिंग प्रणाली का विस्तार करके बचतों को संस्थागत करना।
4. एक सशक्त एवं पर्याप्त बैंकिंग तथा ऋण-प्रणाली का निर्माण करना।
5. कृषि तथा इससे संबंधित गतिविधियों के लिए ऋण उपलब्ध कराने वाले पूर्ण रूप से विभेदित ढांचे वाले संस्थानों की स्थापना तथा विकास करना।
6. अखिल भारतीय तथा क्षेत्रीय स्तर पर उद्योगों के लिए सावधिक वित्त तथा व्यापक सुविधायें उपलब्ध कराने के लिए बहुत सी विशिष्ट वित्तीय संस्थानों की स्थापना तथा विकास करना।
7. सरकार तथा योजनाकारों द्वारा सामाजिक न्याय तथा स्थिरता पूर्ण आर्थिक विकास की गति को बढ़ाने के प्रयासों में सहायता करना।
8. विदेशों से मौद्रिक सम्बन्ध स्थापित तथा विकसित करना।

## 8.4 रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के प्रमुख कार्य (Main Functions of RBI)

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया अधिनियम 1934 की प्रस्तावना (Preamble) के अनुसार बैंक का 'प्रमुख कार्य भारत में मौद्रिक स्थिरता स्थापित करने तथा सामान्यत: मुद्रा तथा साख मुद्रा प्रणाली को कार्यान्वित करने हेतु बैंक नोटों के प्रचालन तथा रक्षित कोषों का नियमन करना है। ' देश में मौद्रिक प्रणाली का सुचारू रूप से नियमन करने हेतु बैंकिंग तथा साख मुद्रा प्रणालियों का नियंत्रण करना भी आवश्यक है जिस हेतु भारतीय रिजर्व बैंक को देश में नोट प्रचालन का एकाधिकार प्राप्त है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक आफ इण्डिया वाणिज्यिक बैंकों, राज्य सहकारी बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं के प्रति इन संस्थाओं के बैंकर का कार्य भी करती है। यह उनकी नकदी को अपने पास सुरक्षित रखती है तथा आवश्यकता पड़ने पर उनको ऋण तथा अग्रिमों के रूप में वित्तीय सहायता प्रदान करती है। देश में साख मुद्रा नियमन के कार्य को सफलतापूर्वक करने के लिए बैंक दर, न्यूनतम वैध निधि अनुपात, खुले बाजार का क्रियाएँ इत्यादि साख मुद्रा नियन्त्रण के सामान्य अथवा अप्रत्यक्ष यंत्रों के अतिरिक्त रिजर्व बैंक को 1949 के बैंकिंग नियमन अधिनियम के अर्न्तगत साख मुद्रा के नियमन करने की प्रत्यक्ष व्यापक शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। रिजर्व बैंक का सबसे पुराना मुख्य कार्य केन्द्र तथा राज्य सरकारों के बैंकिंग तथा वित्तीय कार्यो का प्रबन्धन करना है। इसके अतिरिक्त देश की मुद्रा इकाई के बाह्य मूल्य

अथवा विदेशी विनिमय दर को स्थिर रखना भी भारतीय रिजर्व बैंक का कार्य है। सार्वजनिक ऋण का प्रबन्धन तथा अन्तरराष्ट्रीय भुगतानों पर नियंत्रण भी रिजर्व बैंक के अधिकार क्षेत्र का विषय है।

### 8.4.1 कागजी मुद्रा का निर्गमन

नोट प्रचालन का कार्य बैंक का नोट प्रचालन विभाग करता है जो स्वर्ण तथा विदेशी ऋण पत्रों के कोष की आरक्षित निधि के आधार पर देश में नोटों का निर्गमन करता है। रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की धारा 33 के अनुसार प्रचालन विभाग की परिसम्पत्ति में जिसको आधार मानकर बैंक का प्रचालन विभाग कागजी नोटों का प्रचालन करता है। आरंभ में अधिनियम के अनुसार नोटों का प्रचालन आनुपातिक आरक्षित प्रणाली (Proportional Reserve System) के अनुसार किया जाता था। अधिनियम के अनुसार कुल नोट प्रचालन राशि का 40% स्वर्णधातु स्वर्ण सिक्कों (जो किसी भी समय 4o करोड रूपये मूल से कम नहीं हो सकती थी) तथा विदेशी हुण्डियों के रूप में तथा शेष 600% भारत सरकार की रूपया हुण्डियों, सरकारी सिक्कों तथा रुपयों के रूप में रक्षित कोष में रखना आवश्यक था।

1956 में देश में आर्थिक नियोजन को सफल बनाने के कारण आरक्षणों में विदेशी हुण्डियों की मात्रा कम हो जाने के कारण आनुपातिक आरक्षित प्रणाली को विद्यमान रखना कठिन हो गया था। आनुपातिक आरक्षित प्रणाली के अन्तर्गत अधिक मुद्रा का प्रचालन, जो योजना की पूर्ति के लिए आवश्यक था, आरक्षणों में स्वर्ण अथवा विदेशी ऋण पत्रों की मात्रा को बढ़ाये बिना सम्भव नहीं था। एक और तो स्वर्ण को प्राप्त करना कठिन था तथा दूसरी ओर विदेशी हुण्डियों के बढ़ने की कोई संभावना नहीं थी। वास्तव में विदेशों से अधिक आयात होने के कारण रिजर्व बैंक के विदेशी विनिमय आरक्षणों में निरन्तर कमी होती जा रही थी। ऐसी स्थिति में आनुपातिक आरक्षित प्रणाली का परित्याग करना ही एकमात्र उपाय था। फलस्वरूप 1956 में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया अधिनियम में संशोधन करके आनुपातिक आरक्षित प्रणाली का परित्याग करके इसके स्थान पर न्यूनतम आरक्षित प्रणाली को अपना लिया गया।

न्यूनतम आरक्षित प्रणाली 1956 के अनुसार रक्षित कोष 115 करोड़ रूपये राशि के स्वर्ण सिक्के तथा स्वर्ण धातु (पुराने 40 करोड रूपये राशि के स्वर्ण कोषों का पुर्नमूल्यन करके कोषों का मूल्य 115 करोड रूपये निर्धारित किया गया) तथा 400 करोड़ रूपये की विदेशी प्रतिभूतियों की मात्रा न्यूनतम आरक्षण निर्धारित की गयी। परन्तु विदेशी ऋण पत्रों की मात्रा कुछ ही समय पश्चात 400 करोड़ रूपये की न्यूनतम राशि से भी कम हो गयी थी। ऐसी चिन्ताजनक स्थिति में रिजर्व बैंक अधिनियम में पुन: संशोधन करना आवश्यक हो गया था।

- **आर. बी. आई. द्वितीय संशोधन अधिनियम 1957**

इस संशोधन अधिनियम के अनुसार रिजर्व बैंक के प्रचालन विभाग के आरक्षित कोष में स्वर्ण सिक्कों, स्वर्ण धातु तथा विदेशी हुण्डियों की न्यूनतम राशि 400 करोड रूपये से कम करके केवल 200 करोड़ रूपये निर्धारित कर दी गयी थी। स्वर्ण कोषों की न्यूनतम राशि 115 रूपये निर्धारित की गई थी। इस संशोधन अधिनियम के अनुसार आरक्षित कोष में विदेशी हुण्डियों की न्यूनतम राशि केवल 65 करोड रूपये निर्धारित की गयी थी, इसे आवश्यकता पड़ने पर समाप्त करने की भी व्यवस्था की गयी थी।

वर्तमान में भारतीय रिजर्व बैंक इसी अधिनियम के तहत नोट प्रचालन का कार्य सम्पादित करती है।

## 84.2 साख मुद्रा का नियंत्रण

भारत में साख मुद्रा नियमन का वैधानिक आधार रिजर्व बैंक आफ इण्डिया अधिनियम तथा बैंकिंग नियमन अधिनियम द्वारा निर्धारित होता है। आर. बी. आई. अधिनियम के द्वारा रिजर्व बैंक को बैंक दर, परिवर्तनीय न्यूनतम वैध निधि अनुपात, खुले बाजार की क्रियाएँ आदि यन्त्र प्राप्त हैं।

1949 के बैंकिंग नियमन अधिनियम के पूर्व रिजर्व बैंक को देश में मुद्रा बाजार पर नियन्त्रण करने के लिए बैंक दर तथा खुले बाजार की क्रियाओं के केवल दो सामान्य यंत्र प्राप्त थे, परन्तु इसके पश्चात सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली पर नियन्त्रण करने की व्यापक प्रत्यक्ष शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। देश में साख मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण करने के लिए रिजर्व बैंक निम्न यंत्रों का प्रयोग करता है.

### 1. बैंक दर

बैंक दर वह दर है जिस पर केन्द्रीय बैंक प्रथम श्रेणी तथा अनुमोदित हुण्डियों की जमानत के आधार पर देश में वाणिज्यिक बैंकों को ऋण प्रदान कीती है। बैंक दर के द्वारा वाणिज्य बैंकों को प्रथम श्रेणी अथवा सरकारी हुण्डियों की जमानत पर केन्द्रीय बैंक से ऋण अथवा वित्तीय सहायता प्राप्त हो सकती है। केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि देश में वाणिज्य बैंक किस सीमा तक ऋण सहायता के लिए केन्द्रीय बैंक पर आश्रित है। अन्य शब्दों में, यदि केन्द्रीय बैंक देश की वाणिज्य बैंकिंग प्रणाली को प्रणाली के प्रभावी वित्तीय सहायता प्रदान करती है तो बैंक दर नीति अपने उद्देश्य की प्राप्ति में अधिक सफल हो सकती है अर्थात बैंक दर नीति की कुछ परिसीमाएं हैं.

1. मुद्रा बाजार की शेष सभी दरें भी बैंक दर के साथ-साथ बदलें अन्यथा साख में कमी तथा वृद्धि आवश्यकतानुसार करना सम्भव नहीं होता।
2. बैंकों से ऋण लेने बाले व्यापारियों तथा उद्योगपतियों की, ब्याज दर के बदल जाने पर, ऋण लेने -की प्रवृत्ति पर प्रभाव पड़े । परन्तु अनुभवगम्य अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि बैंक दर में वृद्धि के परिणामस्वरूप ब्याज की दरें बढ़ जाने पर भी वे प्राय: बैंकों से ऋण प्राप्ति को कम नहीं करते। अत: जब मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित करने के लिए बैंक दर बढ़ायी जाती है तो यह बैंकों से ऋण की माँग कम नहीं करती। परिणामस्वरूप मुद्रा-स्फीति में कमी लाने में सफलता नही मिलती है।

### 2. हुण्डी बाजार योजना

देश में वाणिज्य तथा उद्योग पर साख मुद्रा निरोधक नीति के पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभावों को रोकने तथा वाणिज्य एवं उद्योग की उचित वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने हेतु रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने 16 जनवरी 1952 को एक नई हुण्डी बाजार योजना चालू की थी। इसके अन्तर्गत अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों को उनके उन माँग रूक्कों (Demand Promissory Notes) की जमानत पर जिनके साथ बैंकों के ग्राहकों की मुद्दती हुण्डियों भी संलग्न होती हैं, ऋण प्रदान करती है। आरम्भ में यह योजना केवल उन्हीं अनुसूचित बैंकों तक सीमित थी जिनकी कुल जमायें 10 करोड रूपये या इससे अधिक थी। निर्यातकर्ताओं को वित्तीय सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक

ने अक्टूबर 1958 से निर्यात हुण्डियों को भी हुण्डी बाजार योजना में सम्मिलित कर लिया था परन्तु अन्ततः यह योजना देश में एक पूर्ण हुण्डी बाजार की स्थापना करने में सफल नहीं हुई है

### 3. खुले बाजार की क्रियाएं

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया मुद्रा बाजार में सरकारी हुण्डियों के क्रय-बिक्रय के द्वारा देश में मुद्रा बाजार तथा वाणिज्य बैंकों पर नियंत्रण करती है। बैंक दर में परिवर्तन जहाँ बैंक साख अर्थात बैंकों द्वारा दिये गये ऋणों की लागत को प्रभावित करता है, केन्द्रीय बैंक द्वारा खुले बाजार की क्रियाएँ व्यापारिक बैंकों द्वारा साख की पूर्ति को प्रभावित करती है। खुले बाजार की क्रियाओं से केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों की साख सृजन अथवा ऋण देने की क्षमता को घटा-बढ़ा सकता है

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की धारा 17 के अनुसार रिजर्व बैंक को उन प्रमाणिक वाणिज्य हुण्डियों तथा अनुबन्ध पत्रों को जिनका भुगतान 90 दिन में भारत में प्राप्त हो सकता है तथा जिन पर दो से अधिक हस्ताक्षर होते हैं (इनमें से एक हस्ताक्षर अनुसूचित अथवा सहकारी बैंक का होना चाहिए) खरीदने, बेचने तथा बट्टा कर ने का अधिकार प्राप्त है। भारत में रिजर्व बैंक की मुद्रा बाजार में हुण्डियों का क्रय-बिक्रय करने सम्बन्धी क्रियाएँ मुख्यतः सरकारी बाण्डों के क्रय-बिक्रय से सम्बन्धित है। साख मुद्रा का नियमन करने की सामान्य परिस्थिति से प्रभावित होने के अतिरिक्त ये क्रियाएँ सरकार की उधार आवश्यकताओं से भी प्रभावित होती है।

### 4. परिवर्तनीय न्यूनतम वैध नकद आरक्षित अनुपात

बैंकिंग नियमन अधिनियम 1949 के अन्तर्गत अनुसूचित बैंकों के अतिरिक्त अन्य बैंकों को भी रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के पास अपनी कुल माँग तथा मियादी जमाओं का 2 से 5 प्रतिशत नकद आरक्षणों के रूप में रखना पड़ता था। सितम्बर, 1962 में बैंकिंग नियमन अधिनियम की धारा 18 का संशोधन हो जाने से गैर-अनुसूचित बैंकों को भी इसमें शामिल कर लिया गया तथा आवश्यकतानुसार इस अनुपात को 3 से 15 प्रतिशत के बीच घटाने-बढ़ाने की सीमा निर्धारित की गयी।

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने सर्वप्रथम मार्च 1960 में देश में साख मुद्रा प्रसार को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से साख मुद्रा नियन्त्रण के परिवर्तनीय आरक्षित अनुपात यन्त्र का प्रयोग किया था। 1991 में आर्थिक सुधारों के शुरुआत के दौरान यह अपने उच्चतम स्तर 15 प्रतिशत पर था, परन्तु इसे आर्थिक सुधारों के अनुरूप बैंकों को अधिक नकदी उपलब्ध कराने के उद्देश्य से 1995-96 में चरणबद्ध रूप से 1 प्रतिशत की कमी करके 14 प्रतिशत कर दिया गया था। वर्तमान में वैश्विक मंदी तथा तरलता की समस्या और बैंकों की वित्तीय स्थिति को सुदृढ़ करने हेतु रिजर्व बैंक ने इसमें कई चरण में कटौती किया। 10 दिसम्बर, 2008 को उपलब्ध आँकडों अनुसार वर्तमान नकद आरक्षित अनुपात की दर 5.5 प्रतिशत है, जबकि एस. एल.आर. (S.L.R) में 1 प्रतिशत की कटौती करके इसे 24 प्रतिशत कर दिया गया है।

### 5. चयनात्मक साख नियन्त्रण

इसके अन्तर्गत भारतीय रिजर्व बैंक कुछ विशेष उद्देश्यों के लिए साख मुद्रा प्रदान करती है। वास्तव में नियोजित एवं विकासशील अर्थव्यवस्था में नियोजन में उद्देश्यों की प्राथमिकता को ध्यान में रखते हुए चयनात्मक साख नियन्त्रण अनिवार्य हो जाता है। इस नियन्त्रण से आवश्यक आर्थिक क्रियाओं को प्रोत्साहित तथा अनावश्यक क्रियाओं को हतोत्साहित किया जाता है। प्रमुख गुणात्मक साख नियन्त्रण के तरीके इस प्रकार हैं.

1. राशनिंग
2. नैतिक दबाव
3. उपभोक्ता साख नियन्त्रण
4. ऋण सीमा परिवर्तन
5. सीधी कार्यवाही

### 8.4.3 सरकार का बैंक

रिजर्व बैंक, केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के बैंक का कार्य करता है। यह निम्न प्रकार उन्हें सेवाएँ प्रदान करता है

1. यह केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों के नकद शेषों का हिसाब रखने तथा चालू खाते में जमा राशियों के परिचालन का कार्य करता है, जिन पर कोई बाज नहीं दिया जाता।
2. यह केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की ओर से भुगतान तथा प्राप्तियों का कार्य करता है।
3. यह बाजार में सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय-बिक्रय करता है।
4. यह सरकार की ओर से निविदायें आमंत्रित कर खजाना बिलों का बिक्रय करता है तथा राज्य सरकारों व केन्द्र सरकार के लिए अग्रिम राशि जुटाने का कार्य करता है।
5. यह सरकारों को सभी बैंकिंग ब वित्तीय मामलों जैसे पंचवर्षीय योजनाओं, स्रोत संग्रहण भुगतान शेष आदि में सलाहकार की भूमिका निभाता है।

### 8.4.4 बैंकों का बैंक

रिजर्व बैंक भारत में बैंकों के कार्य का पर्यवेक्षण, नियमन एवं नियन्त्रण करता है। यह बैंकों से जमा स्वीकार करता है तथा सामान्य पुनर्वित सुविधा के अन्तर्गत बैंक की पाक्षिक औसत बकाया कुल जमा राशियों के 0.25 प्रतिशत से 1 प्रतिशत के बीच पुन पुनर्वित उपलब्ध कराता है।

आर. बी. आई. बैंकों के समाशोधन गृह कार्य करता है। यह कार्य उसकी 17 शाखाओं / कार्यालयों तथा अन्य स्थानों पर भारतीय स्टेट बैंक तथा इसके सहयोगी बैंकों की शाखाओं द्वारा समाशोधन सुविधाएं प्रदान करके लिया जाता है।

### 8.4.5 विनिमय प्रबन्धन एवं नियन्त्रण

भारतीय रिजर्व बैंक देश में विदेशी मुद्रा भण्डार के प्रबन्धन एवं नियन्त्रण के साथ-साथ रूपये के बाह्य मूल के प्रबन्धन का कार्य भी करता हैं। भारत में आने बाली विदेशी मुद्रा अथवा विदेशी विनिमय प्राप्तियां भले ही आयात से प्राप्त हुई हों या सरकारी स्रोतों से प्राप्त हुई हो भारतीय रिजर्व बैंक को बेचना होगा। इस प्रकार सम्पूर्ण विदेशी मुद्रा भण्डार एक ही स्थान RBI के पास रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि देश के विदेशी विनिमय कोषों का प्रयोग विनियोग के रूप में करने में सुविधा होती है। रिजर्व बैंक आफ इण्डिया विदेशी मुद्रा की माँग एवं पूर्ति में संतुलन बनाए रखने का प्रयास करता है।

## 8.5 भारतीय रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति के उद्देश्य (Objectives of Monetary Policies of RBI)

अनेक आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मौद्रिक नीति एक महत्वपूर्ण उपकरण है। भारतीय रिजर्व बैंक सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नियमन तथा प्रोत्साहनात्मक भूमिकाएँ निभाता है। प्रोत्साहनात्मक या विकासात्मक भूमिका के अन्तर्गत रिजर्व बैंक ने भारत की वित्तीय प्रणाली को सघन करने तथा विस्तृत करने के लिए कदम उठाये हैं जिससे बचत और निवेश को बढ़ावा मिल सके। चूँकि मौद्रिक नीति समूची आर्थिक नीति का एक उदाहरण है, इसके उद्देश्य समूची आर्थिक नीति के उद्देश्यों से भिन्न नहीं हो सकती है। भारतीय रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति के निम्न तीन मुख्य उद्देश्य रहे हैं:

1. कीमत-स्थिरता (Price Stability) को प्राप्त करना अर्थात, मुद्रा स्फीति को नियन्त्रित करना।
2. आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना।
3. रूपये की विदेशी-विनिमय दर में स्थिरता लाना।

### 8.5.1 मुद्रा-स्फीति पर नियन्त्रण तथा कीमत स्थिरता

रिजर्व बैंक के पूर्व गवर्नर सी. रंगराजन के अनुसार, 'जब उद्देश्य जिनकी प्राप्ति वाँछनीय है बहुत होते हैं तब प्रत्येक नीति उपकरण जो किसी बाँछनीय उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सबसे अधिक उपयुक्त होता है का प्रयोग किया जाता हैं। कीमत स्थिरता ऐसा उद्देश्य है जिसकी प्रभावशाली तरीके से प्राप्ति के लिए मौद्रिक नीति का प्रयोग किया जा सकता है। ' भारत जैसे विकासशील देश में जब निवेश में वृद्धि के प्रयास किये जाते हैं तो कृषि क्षेत्र में प्राय: उत्पादन में पर्याप्त रूप से न बढ़ने के कारण सामान्य कीमत-स्तर में बढ़ने की प्रवृत्ति होती है। अतएव मौद्रिक नीति को मुद्रा स्फीति को नियन्त्रित करने में महत्वपूर्ण योगदान करना होता है।

भारत में कीमत स्थिरता लाने अथवा मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित करने के लिए रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य रहा है। कीमत-स्थिरता से अभिप्राय कीमत में बिल्कुल परिवर्तन न होने से नही है। एक विकासशील देश में जहाँ विकास प्रक्रिया में संरचनात्मक परिवर्तन हो रहे होते हैं सापेक्ष कीमतें अवश्य बदलती हैं जिसके फलस्वरूप सामान्य कीमत-स्तर में बढ़ने की प्रवृत्ति होती है। अतएव सामान्य कीमत-स्तर में कुछ वृद्धि अर्थात कुछ मुद्रा-स्फीति का होना तो विकासशील देशों में अनिवार्य होता है। अत: कीमत-स्थिरता का अभिप्राय मुद्रा-स्फीति की दर का उचित होना है। मुद्रा-स्फीति की अधिक ऊँची दर का अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव होता है। भारत के भुगतान शेष की दृष्टि से कीमत-स्थिरता के महत्व पर प्रो० सी. रंगराजन लिखते हैं, "हमारी अर्थव्यवस्था का बढ़ता हुआ खुलापन, विदेशी ऋण के भार को कम करने की आवश्यकता और विश्व में बढ़ती हुई प्रतियोगिता के सन्दर्भ में विश्व व्यापार में भारत के निर्यात को बढ़ाने की जरूरत यह माँग करती है कि घरेलू कीमत-स्तर में अधिक वृद्धि न होने दी जाए। '

### 8.5.2 आर्थिक विकास

कुछ वर्ष पूर्व रिजर्व बैंक की इस कारण आलोचना की जाती थी कि इसने अपनी मौद्रिक नीति केवल कीमत स्थिरता की प्राप्ति के लिए निर्धारित कर रखी है परन्तु वर्तमान में बैंक ऋण की अधिक

उपलब्धता तथा कम लागत पर इसे प्रदान करके आर्थिक विकास में वृद्धि करना इसका मुख्य उद्देश्य रहा है। व्यावसायिक व्यक्तियों को बैंक ऋण के लिए तीन प्रकार की अवश्यकताएँ होती हैं.

1. आवश्यक कार्यशील पूँजी की वित्त व्यवस्था के लिए बैंक ऋण
2. विदेशों से कच्चा माल आयात करने के लिए बैंक साख
3. स्थिर पूँजी (fixed capital) को क्रय करने के लिए बैंक ऋण

बैंक साख की कम बाज दर पर सहज उपलब्धता निवेश को प्रोत्साहित करती है और इस प्रकार आर्थिक विकास की गीत तीव्र बनाती है। वर्तमान वैश्विक मंदी के संकट को ध्यान में रखकर भारतीय रिजर्व बैंक ने न केवल ब्याज दरें घटा दी हैं बल्कि आधारभूत संरचना और गृह ऋण पर ब्याज की दरों को अगले पाँच वर्षो तक स्थिर रखने का भी निर्देश जारी किया है।

### 8.5.3 विनिमय दर का स्थिरता

वर्ष 1991 तक भारत में स्थिर विनिमय दर प्रणाली प्रचालित थी और केवल कभी-कमी अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की आज्ञा से रूपये का अवमूल्यन किया जाता था। 1993 में परिवर्तनशील विनिमय दर की प्रणाली को अपनाने के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था का खुलापन तथा वैश्वीकरण के कारण भारतीय रूपये की विनिमय दर में बहुत उतास्चढ़ाव होने लगा है। रूपये के विदेशी मूल्य में अधिक हास तथा वृद्धि को रोकने के लिए रिजर्व बैंक को उपयुक्त मौद्रिक उपाय करने होते हैं। आजकल रूपये की विदेशी मुद्रा से विनिमय दर उसकी माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। जब विदेशी मुद्रा के लिए माँग उसकी पूर्ति से अधिक हो जाती है तो रूपये का विदेशी मूल्य घट जाता है। विदेशी मूल्य को घटने से रोकने के लिए रिजर्व बैंक अपने विदेशी मुद्रा के आरक्षित भण्डारों से विदेशी मुद्रा की कुछ मात्रा निकालकर उन्हें विदेशी विनिमय बाजार में विक्रय करके पूर्ति बढ़ा देता है। परिणामस्वरूप बाजार में विदेशी मुद्रा की पूर्ति तथा उसकी माँग में असमानता को कम किया जा सकता है। यह विदेशी विनिमय मूल्य में स्थिरता लाने में सहायक होता है।

## 8.6 रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति (Monetary Policies of RBI)

मौद्रिक नीति की व्याख्या के लिए हम सम्पूर्ण योजनाकाल के समय को तीन अवधियों में विभक्त करते हैं.

### 8.6.1 नियन्त्रित विस्तार की मौद्रिक नीति (1951 -72)

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में आर्थिक विकास सुनिश्चित करने के लिए आर्थिक नियोजन की पद्धति को अपनाया गया। किन्तु भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था की प्रणाली जिसमें सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों को उत्पादन कार्य करने की व्यवस्था की गई ताकि ये दोनों क्षेत्र आर्थिक विकास में अपना-अपना योगदान दे सके। आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए रिजर्व बैंक को मुद्रा-पूर्ति तथा बैंक-ऋण में वृद्धि को इस प्रकार नियमित करना होता है जिससे निजी तथा सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों की उत्पादन की आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। किन्तु इसके साथ ही रिजर्व बैंक को इस बात को भी ध्यान में रखना होता है कि निजी क्षेत्र को अत्य अधिक मात्रा में बैंक-ऋण की प्राप्ति न हो जिससे मुद्रा-स्फीतिकारक दबाव उत्पन्न न हो सके। इसी कारण इस अवधि (1951 -72) में अपनायी गयी मौद्रिक नीति को नियन्त्रित विस्तार(Controlled Expansion) की संज्ञा दी गयी है। इस अवधि

में मुद्रा-पूर्ति तथा बैंक ऋण का नियन्त्रित विस्तार सुनिश्चित करने के लिए बैंक दर में परिवर्तन, नकदी आरक्षण अनुपात तथा चयनात्मक साख नियन्त्रण का प्रयोग किया गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तिम 3 वर्षो से लेकर रिजर्व बैंक ने कठोर मौद्रिक नीति को अपनाया जिससे कीमतों को बढने से रोका जा सके।

रिजर्व बैंक द्वारा उठाये गये उपर्युक्त कदमों से निजी वाणिज्य क्षेत्र को अत्य अधिक बैंक साख की पूर्ति रोकने में सफलता मिली। इन उपायों से $M_3$ मुद्रा की पूर्ति में वार्षिक वृद्धि प्रथम पंचवर्षीय योजना की अवधि में 3.4 प्रतिशत रही जो कि काफी कम थी। किन्तु द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सरकार को अधिक बैंक ऋण उपलब्ध कराने से $M_3$ मुद्रा में वार्षिक वृद्धि की दर 8.2 प्रतिशत रही जो तृतीय योजना में बढ़कर 9.1 प्रतिशत वार्षिक हो गयी। अतएव रिजर्व बैंक द्वारा कठोर मौद्रिक तथा साख नीति अपनाने के बावजूद द्वितीय तथा तृतीय योजनाओं की अवधि में बैंकों द्वारा सरकार को अधिक ऋण उपलब्ध कराने के कारण मुद्रा $M_3$ में तीव्र गति से वृद्धि और दूसरी ओर महालनोंबिस की विकास रणनीति में कृषि को अधिक प्राथमिकता न दिये जाने के कारण खाद्यानों की पूर्ति में पर्याप्त वृद्धि न होने से मुद्रा-स्फीति उत्पत्र हो गयी।

## 8.6.2 आर्थिक सुधारों से पूर्व मौद्रिक कात (1972-91), कठोर मौद्रिक निति

चौथी योजना अवधि के अन्तिम दो वर्षा (1 972-74) में मूल्य स्थिति अधिक खराब हुई। मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित करने के लिए रिजर्व बैंक ने अपनी मौद्रिक नीति को अधिक कठोर बनाया। भारत में मौद्रिक नीति का निर्धारण राजकोषीय नीति के आधार पर किया जाता है। 1970-80 और 1980-90 के दशकों में भारत में राजकोषीय नीति इस प्रकार की थी कि बडी मात्रा में राजकोषीय घाटे के बजट बनाये गये। राजकोषीय घाटे का बड़ी मात्रा में मुद्रीकरण (Monifisation) किया गया जिसके अन्तर्गत सरकार ने रिजर्व बैंक से अपनी प्रतिभूतियों के विरूद्ध ऋण प्राप्त किया जिसके कारण नई मुद्रा का सृजन हुआ। आरक्षित मुद्रा (Reserve Money) के बढ़ने से मुद्रा-पूर्ति में अधिक वृद्धि हुई जिससे वैधानिक तरलता अनुपात को 1971-80 में कई बार बढ़ाया गया जिससे स्फीतिकारी दबाव को नियन्त्रित किया जा सके। इसके अतिरिक्त सरकारी प्रतिभूतियों पर ब्याज की दरें बाजार में प्रचलित ब्याज की दरों से बहुत कम थी, खुले बाजार की क्रियाओं के द्वारा बैंकों के पास उपलब्ध अधिक नकदी को घटाया नहीं जा सकता था अतएव वैधानिक तरलता अनुपात में लगातार वृद्धि करके इसे 38.5 प्रतिशत की उच्चतम सीमा तक बढ़ा दिया गया। सी .आर.आर. तथा एस.एल.आर. को अधिकतम सीमाओं तक बढ़ा देने से निजी वाणिज्य क्षेत्र के लिए बैंक-साख की उपलब्धता को बहुत कम कर दिया गया। इस प्रकार जब मुद्रा-पूर्ति में अधिक दर से वृद्धि हो रही थी तो निजी क्षेत्र को उद्योगों तथा व्यापार के विकास के लिए आवश्यक बैंक-ऋण की प्राप्ति न हो सकी।

## 8.6.3 आर्थिक सुधारों (1991) के पश्चात मौद्रिक नीति

वर्ष 1991-92 में भारत के संस्थागत ढाँचे में मौलिक परिवर्तन हुए जिसमें कीमत-स्थिरता तथा आर्थिक विकास के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उचित मौद्रिक नीति का निर्धारण करना था। इस वर्ष में उस समय के आर्थिक संकट के समाधान के लिए अनेक महत्वपूर्ण आर्थिक सुधार किये गये। प्रतियोगिता को बढ़ाकर कार्यकुशलता में वृद्धि करने के लिए औद्योगिक उदारीकरण की नीति अपनायी

गयी और यह आशा की गयी कि इस नीति से आर्थिक विकास की गीत को तीव्र करने में मदद मिलेगी। इसके अतिरिक्त राजकोषीय घाटे को कम करना एक महत्वपूर्ण आर्थिक सुधार करने का लक्ष्य रखा गया। विदेशी व्यापार का उदारीकरण किया गया और विदेशों से आयात पर कई संख्यात्मक प्रतिबन्ध हटा दिये गये और उन पर शुल्क की दरों को काफी कम कर दिया गया। रूपये से विनिमय नियन्त्रण हटा लिये गये और इसके विदेशी मूल्य को बाजार में उसकी माँग एवं पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होने के लिए मुक्त छोड़ दिया गया। इसके अतिरिक्त विदेशी निजी निवेशकों को भारतीय अर्थव्यवस्था में प्रवेश करने की स्वतन्त्रता दी गयी तथा स्वदेशी कम्पनियों को विदेशों में निवेश करने की अनुमति दी गयी। विदेशी चालू खाते पर भारतीय रूपये की विनिमयता की नीति को अपनाया गया।

## 8.7 समष्टि आर्थिक और मौद्रिक गतिविधियाँ (Macro Economic and Monetary Activities)

रिजर्व बैंक ने 24 अक्टूबर, 2008 को जारी किये जाने बाले 2008-09 के लिए वार्षिक नीति मध्यावधि समीक्षा की समष्टि आर्थिक और मौद्रिक गतिविधियाँ वर्ष 2008-09 को जारी किया जो निम्न हैं:

- केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन द्वारा अगस्त 2008 में जारी किये गये वर्ष 2008-09 की पहली तिमाही के अनुमानों के अनुसार वर्ष 2008-09 की पहली तिमाही के दौरान वास्तविक सकल उत्पाद (GDP) वृद्धि 7.9 प्रतिशत रखी गयी थी जो वर्ष 2007-08 के तदनुरूपी अवधि के दौरान 9.2 प्रतिशत थी। वृद्धि में यह कमी सभी तीनों क्षेत्रों यथा कृषि और सम्बद्ध गतिविधियाँ, उद्योग और सेवाओं में थी।
- अप्रैल-अगस्त 2008-09 के दौरान औद्योगिक उत्पादन सूचकांक में वर्ष दर वर्ष 4.9 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गयी जो अप्रैल-अगस्त 2007-08 के दौरान 10.0 प्रतिशत थी। विनिमार्ण क्षेत्र में अप्रैल-अगस्त, 2008-09 के दौरान (अप्रैल-अगस्त, 07-08 के दौरान 10.6 प्रतिशत) 5.2 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गयी तथा विद्युत क्षेत्र ने 2.3 प्रतिशत (अप्रैल-अगस्त 07-08) के दौरान 6.3 प्रतिशत) की वृद्धि दर्ज की।
- वर्ष 2008-09 (अप्रैल-अगस्त) के लिए केन्द्र सरकार वित्त पर उपलब्ध सूचना से यह संकेत मिलता है कि एक वर्ष पूर्व की अपेक्षा सकल राजकोषीय घाटे और राजस्व घाटे को अधिक रखा गया था। राजस्व घाटा वर्ष 08-09 के लिए बजट अनुमान का 177.4 प्रतिशत था जो एक वर्ष पूर्व 74.9 प्रतिशत था। इसी अवधि के दौरान सकल राजकोषीय घाटा अप्रैल-अगस्त, 2007 में 68.5 प्रतिशत की तुलना में बजट अनुमान का 87.7 प्रतिशत था। अप्रैल-अगस्त, 2007 की अवधि के बाद कर राजस्व में 26.2 प्रतिशत की वृद्धि हुई।
- वर्ष 2008-09(18 अक्टूबर, 2008 तक) के दौरान केन्द्र सरकार ने 16 दिनों के लिए अर्थोपाय अग्रिमों (WMA) का सहारा लिया जो वर्ष 2007-08 की तदनुरूपी अवधि के दौरान 91 दिनों का था। 18 अक्टूबर, 2008 तक केन्द्र सरकार ने रिजर्व बैंक के पास 31,349 करोड रूपये का एक अतिरिक्त नकदी शेष बनाये रखा।

- अप्रैल-सितम्बर, 2008 के दौरान खजाना बिलों (14 दिवसीय मध्यावधि खजाना बिलों और नीलामी खजाना बिलों ने राज्यों द्वारा औसत दैनिक निवेश वर्ष 2007-08 की तदनुरूपी अवधि के दौरान 72,805 करोड रूपये की तुलना में 82,382 करोड़ रूपये था।
- 10 अक्टूबर, 2008 को व्यापक मुद्रा ($M_3$) में वृद्धि दर वर्ष सुधर कर एक वर्ष पूर्व (6,43,963 करोड रूपये) के 21 .91 प्रतिशत की तुलना में 20.3 प्रतिशत (7,29,338 करोड रूपये) हो गयी।
- 17 अक्टूबर, 2008 को प्रारक्षित मुद्रा वृद्धि वर्ष-दर-वर्ष 17.6 प्रतिशत थी जो एक वर्ष पूर्व के 24.4 प्रतिशत से कम थी।
- रिजर्व बैंक ने आरक्षित नकदी निधि अनुपात और खुले बाजार के परिचालन, बाजार स्थिरीकरण योजना सहित और चलनिधि समायोजन सुविधा के समुचित उपयोग और नीतिगत लिखतों के अपने लचीले निबटान के जरिये चालू वित्तीय वर्ष के दौरान चलनिधि के सक्रिय प्रबन्धन की अपनी नीति बनाये रखी। लिखतों के मिश्रण के लचीलें उपयोग के जरिये चल निधि में सुधार को किसी महत्वपूर्ण सीमा तक, अतिरिक्त बाजार दबाव को अवशोषित और सही स्थितियाँ सुनिश्चित करते हुए घरेलू वित्तीय बाजार में अन्तरराष्ट्रीय उथल-पुथल से राहत मिली है।
- जुलाई-अक्टूबर, 2008 के दौरान वैश्विक वित्तीय बाजार परिस्थितियों में भारी गिरावट आयी। दिवालियापन / बिक्री / पुर्नसंरचना का और भी व्यापक प्रसार हुआ और यह बंधक उधार लेने बाली संस्थाओं से लेकर प्रणालीगत रूप से महत्वपूर्ण वित्तीय संस्थाओं और उससे भी फैली आगे वाणिज्यिक बैंकों तक व्यापक रूप से बढ़ी। इसके फलस्वरूप अंतर-बैंक मुद्रा बाजार में निधि उपलब्ध कराने का दबाव बना रहा।
- विदेशी मुद्रा बाजार में भारतीय रूपये का मूल्य सामान्य रूप से प्रमुख मुद्राओं की तुलना में घटा।
- ऋण बाजार में अनुसूचित वाणिज्य बैंकों की उधार दरों में वृद्धि हुई।
- सरकारी प्रतिभूति बाजार में प्रतिलाभ सामान्य रूप से 2008-09 की दूसरी तिमाही के दौरान सुगम रहा।
- भारतीय इक्विटी बाजार में प्रमुख अन्तरराष्ट्रीय इक्विटी बाजारों की प्रवृतियों तथा घरेलू मुद्रा-स्फीति के कारण कमी आयी।
- भारतीय रिजर्व बैंक ने चलनिधि डालने के लिए आवश्यक कार्यवाही की और बाजार को आश्वासन दिया कि भारतीय बैंकिंग प्रणाली सुदृढ़, सुपूँजीगत तथा सुनियंत्रित बनी रही है।
- मौजूदा दरें (10 दिसम्बर, 2008 के अनुसार).

(a) नीति दरें

बैंक दर - 6%
रेपो दर - 6.50?%
रिवर्स रेपो दर - 5.00%

(b) आरक्षित अनुपात

सी.आर.आर. - 5.5%

एस.एल.आर. - 24.0%

(c) उधार/जमा दरें

पी.एल.आर. = 12.75% - 13.25%

बचत बैंक दर =3.5 %

जमा दर = 7.5% - 9.6%

विद्यार्थी स्वंय इन दरों को जानने के लिए निम्नांकित वेबसाइट देखें:

स्रोत. : http : // www.rbi.org.in/hindi

## 8.8 सारांश (Summary)

आधुनिक केन्द्रीय बैंकिंग का विकास 1694 में इंगलैण्ड में बैंक ऑफ इंग्लैण्ड' की स्थापना से आरम्भ होता है। इस बैंक ने सर्वप्रथम 1826 में केन्द्रीय बैंक के कार्यो को प्रारम्भ किया इसी कारण इसे बैंकों की जननी (Mother of the Central Bank) कहते हैं। केन्द्रीय बैंक का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य जन साधारण के हित को ध्यान में रखते हुये मुद्रा विशेष रूप से पत्र मुद्रा जारी करना एवं देश में रोजगार स्तर एवं विकास के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए साख का नियंत्रण करना है। भारत में रिजर्व बैंक का इण्डिया (RBI) देश का शीर्ष बैंक अथवा केन्द्रीय बैंक है। इसके निम्नलिखित कार्य हैं - (i) पत्र मुद्रा का निर्गमन, (ii) सरकार का बैंक सलाहकार एवं एजेन्ट (iii) बैंकों का बैंक नकद कोषों का संरक्षक, अन्तिम ऋणदाता, परामर्शदाता एवं खातों का समाशोधन (iv) देश के विनिमय कोषों का संरक्षक एवं साख नियंत्रण प्रमुख है। इसके अतिरिक्त यह आँकडों का संकलन एवं प्रकाशन भी करता है। देश में साख नियंत्रण हेतु यह सरकार की मौद्रिक नीति का क्रियान्वयन भी करता है। इसके साख नियंत्रण के तरीको को 2 भागों में बाँटा जाता है। परिमाणात्मक निधियाँ एवं गुणात्मक विधियाँ। परिमाणात्मक विधियाँ सीधे साख हेतु उपलब्ध कोषों को प्रभावित करती है इनमें बैंक दर, खुले बाजार की क्रियाएं एवं नकद आरक्षित अनुपात प्रमुख है। इसी प्रकार गुणात्मक तरीकों को भी अपनाया जाता है। इस इकाई में भारतीय मौद्रिक नीति के उद्देश्यों तथा स्वतंत्रता प्राप्ति से वर्तमान समय तक अपनाई गई मौद्रिक नीति की मुख्य बातों का भी अध्ययन किया गया हैं।

## 8.9 शब्दावली (Glossary)

| | | |
|---|---|---|
| हुण्डी | - | Hundi |
| प्रथम श्रेणी प्रतिभूतियाँ | - | First class Securities |
| बैंक दर | - | Bank Rate |
| मुद्रा बाजार | - | Money Market |
| खुले बाजार की क्रियाएं | - | Open Market Operations |
| नकद आरक्षित कोषानुपात | - | Cash Reserve Ratio |
| मौद्रिक नीति | - | Monetary policy |

## 8.10 सन्दर्भ ग्रन्थ (References)

वैश्य, एम.सी. (2005), मौद्रिक अर्थशास्त्र; एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि०, नई दिल्ली

आहूजा, एच. एल. (2007), उच्चतर समष्टि अर्थशास्त्र.; एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि., नई दिल्ली
झिंगन, एम. एल. (2003), मुद्रा बैंकिंग एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार वृंदा पब्लिकेशंस प्रा० लि०, दिल्ली
Economic Survey (2007-08)
Reserve Bank of India, www.rbi.org.in/ Hindi
Mishra and puri. “Indian Economy’ ’Himalya Publishing House, Mumbai

## 8.11 अभ्यासार्थ प्रशन (Unit-end Questions)

1. भारतीय रिजर्व बैंक संगठनात्मक ढाँचे का वर्णन कीजिए।
2. भारतीय रिजर्व बैंक के क्या कार्य हैं? यह देश के केन्द्रीय बैंक के रूप में कहा तक सफल रहा है।
3. भारतीय रिजर्व बैंक की साख नियंत्रण प्रणाली की विवेचना कीजिए।
4. भारतीय रिजर्व बैंक ने भारत में बैंकिंग प्रणाली को विकसित तथा नियमित करने के लिए क्या किया है।
5. 'भारतीय रिजर्व बैंक बैंकों का बैंक है. कथन की समीक्षा कीजिए।

# इकाई -09

# अन्तरराष्ट्रीय व्यापार: अर्थ एवं अन्तरराष्ट्रीय व अन्तर क्षेत्रीय व्यापार, एडम स्मिथ का सिद्धान्त

## (International Trade: Meaning, International and Interregional Trade, Adam Smith's Theory of Absolute Advantage)

**इकाई की रूपरेखा**

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 अन्तरराष्ट्रीय व्यापार: अर्थ
9.3 अन्तरराष्ट्रीय अर्थशास्त्र की विषय सामग्री
9.4 अन्तरराष्ट्रीय ब घरेलू व्यापार में अन्तर
    9.4.1 साधन गतिशीलता की भिन्नताएँ
    9.4.2 मौद्रिक भिन्नताएँ
    9.4.3 राष्ट्रीय नीतियों की भिन्नताएँ
    9.4.4 बाजार की प्रकृति की भिन्नताएँ
    9.4.5 राजनीतिक इकाइयों की भिन्नताएँ
    9.4.6 भुगतान संतुलन के समायोजन की भिन्नताएँ
9.5 अन्तरराष्ट्रीय व घरेलू व्यापार में समानताएँ
    9.5.1 अन्तरराष्ट्रीय व अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार दोनों का आधार श्रम विभाजन
    9.5.2 दोनों ही प्रकार के व्यापारों में सम्बन्धित पक्षों के मध्य वस्तुओं व सेवाओं का विनिमय
    9.5.3 अन्तरराष्ट्रीय व घरेलू व्यापार दोनों का ही सम्बन्ध दूरी की समस्या से
    9.5.4 अन्तरराष्ट्रीय व घरेलू व्यापार में साम्य-निर्धारक शर्त समान
    9.5.5 दोनों ही प्रकार के व्यापार का समान आधार
9.6 एडम स्मिथ का निरपेक्ष लाभ का सिद्धान्त
9.7 सारांश
9.8 शब्दावली
9.9 संदर्भ ग्रन्थ
9.10 अभ्यासार्थ प्रशन

## 9.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के अर्थ व विषय सामग्री से परिचित हो जायेंगे।

- घरेलू व अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में अन्तर व समानताओं को जान सकेंगे।
- एडम स्मिथ के अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के निरपेक्ष लाभ के सिद्धान्त से परिचित हो सकेंगे।

## 9.1 प्रस्तावना (Introduction)

प्रस्तुत इकाई में अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के विषय में उल्लेख किया गया है। इकाई के खण्ड में हम अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के अर्थ की चर्चा करेंगे। अन्तरराष्ट्रीय अर्थशास्त्र की विषय-वस्तु का संक्षिप्त परिचय खण्ड 9.3 में किया जायेगा। खण्ड 9.4 में अन्तरराष्ट्रीय व घरेलू व्यापार में अन्तर स्पष्ट किया जायेगा। अन्तर के अलावा दोनों प्रकार के व्यापारों में कुल समानताएँ भी उल्लेखनीय हैं जिनका हम खण्ड 9.5 में अध्ययन करेंगे। खण्ड 9.6 में हम एडम स्मिथ के निरपेक्ष लाभ के सिद्धान्त की विस्तृत चर्च करेंगे। तत्पश्चात खण्ड 9.7 में सारांश प्रस्तुत किया गया है। इकाई के अन्त में शब्दावली, सन्दर्भ ग्रंथों की सूची एवं अभ्यासार्थ प्रशन दिए गए हैं।

## 9.2 अन्तरराष्ट्रीय व्यापार: अर्थ (International Trade: Meaning)

अन्तरराष्ट्रीय अर्थशास्त्र में विभिन्न राष्ट्रों के मध्य आर्थिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। यहाँ एक ही अर्थव्यवस्था की क्रियाविधि के स्थान पर दो या दो से अधिक अर्थव्यवस्थाओं के अन्त: सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है।

प्रो. हरॉड (Harrod) के अनुसार " अन्तरराष्ट्रीय अर्थशास्त्र का सम्बन्ध उन समस्त आर्थिक सौदों से है जिनमें राष्ट्रीय सीमा की समस्या प्रस्तुत होती है। उदाहरणार्थ - प्रवास, एक राष्ट्र के नागरिकों द्‌वारा दूसरे राष्ट्र के नागरिकों को ऋण देना अथवा वस्तुओं का क्रय -विक्रय करना आदि।"

किलॉफ (Killough) ने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है. "अन्तरराष्ट्रीय व्यापार भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के नागरिकों के मध्य के व्यापारिक सौदों एवं ऐसे सौदों से उत्पन्न व्यापारिक नीति से सम्बन्धित (Considerations of Commercial diplomacy) विचार से है।"

अत: स्पष्ट है कि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार दो या दो से अधिक राष्ट्रों के अध्यन का व्यापार है एवं अन्तरराष्ट्रीय अर्थशास्त्र में हम दो या दो से अधिक राष्ट्रों के मध्य के आर्थिक सम्बन्धों का अध्ययन करते हैं।

## 9.3 अन्तरराष्ट्रीय अर्थशास्त्र की विषय सामग्री (The Subject Matter of International Economics)

अन्तरराष्ट्रीय अर्थशास्त्र की दो प्रमुख शाखाएँ हैं :

(1) अन्तरराष्ट्रीय व्यापार तथा

(2) अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक अर्थशास्त्र

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के अध्ययन का प्रमुख केन्द्र बिन्दु वस्तुओं व साधनों का चलन है जबकि अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों का केन्द्र बिन्दु अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों का मौद्रिक पहलू है।

---

1 Harrod, R, - International Economics,p.$^{4}$

2. Killough, H.B., International Trade, p.3

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में हम व्यापार के विशुद्ध सिद्धान्त एवं व्यापार नीति के सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं। व्यापार के विशुद्ध सिद्धान्त का व्यापार के आधार व इससे प्राप्त लाभों से सम्बद्ध है। व्यापार के विशुद्ध सिद्धान्त एवं व्यापार नीति के सिद्धान्तों को हम अन्तरराष्ट्रीय अर्थशास्त्र के व्यष्टि पहलू का प्रतिनिधि मान सकते हैं।

दूसरी ओर अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक अर्थशास्त्र में हम भुगतान सन्तुलन व इसके समायोजन का अध्ययन करते हैं। भुगतान सन्तुलन में राष्ट्र विशेष की अन्य राष्ट्रों से कुल लेनदारियों (Inpayments) व देनदारियों (Outpayments) को सम्मिलित किया जाता है, तथा इसके समायोजन में हम भिन्न भिन्न मौद्रिक प्रणालियों के अन्तर्गत भुगतान संतुलन में समायोजन की प्रक्रिया का अध्ययन करते हैं। भुगतान संतुलन व इसका समायोजन अन्तरराष्ट्रीय अर्थशास्त्र के समष्टि पहलू का प्रतिनिधित्व करते हैं।

## 9.4 अन्तरराष्ट्रीय व घरेलू व्यापार में अन्तर (Distinction between International and Domestic Trade)

सामान्यतया अन्तरराष्ट्रीय व घरेलू व्यापार में अन्तर, उत्पादन के कारकों- श्रम, भूमि, पूँजी आदि के व्यवहार की भिन्नता के आधार पर किया जाता है। कतिपय अर्थशास्त्रियों के अनुसार राष्ट्रीय सरकारों के हस्तक्षेप के कारण घरेलू व्यापार अन्तरराष्ट्रीय व्यापार से भिन्न हो जाता है। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को दूरी की महत्ता के आधार पर भी घरेलू व्यापार से भिन्न माना जाता है। वास्तविकता तो यह है कि अन्तरराष्ट्रीय व घरेलू व्यापार में मात्र श्रेणी (Degree) का अन्तर है, प्रकार (Kind) का नहीं |

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री अन्तरराष्ट्रीय व घरेलू व्यापार में मौलिक अन्तर मानते हैं, जबकि स्वीडन के विख्यात आधुनिक अर्थशास्त्री बर्टिल ओलीन (Bertil Ohlin) ने अन्तरराष्ट्रीय व अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में भारी समानता दर्शायी है।

अन्तरराष्ट्रीय व अन्तर्क्षेत्रीय (अथवा घरेलू) व्यापार की भिन्नताएँ स्पष्ट करने हेतु विश्लेषण को निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है.

(1) साधन गतिशीलता की भिन्नताएँ (Varying degree of factor mobility)
(2) मौद्रिक भिन्नताएँ (Monetary variations)
(3) राष्ट्रीय नीतियों की भिन्नताएँ (Different National Policies)
(4) बाजार की प्रकृति की भिन्नताएँ (Differences in the nature of Markets)
(5) राजनीतिक इकाइयों की भिन्नताएँ तथा (Politically different units)
(6) भुगतान संतुलन के समायोजन की भिन्नताएँ (Differences in B.O.P. adjustments)

**(1) साधन गतिशीलता का भिन्नताएँ**

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार राष्ट्र विशेष के भीतर उत्पादन के साधन, उत्पादन की परस्पर भिन्न शाखाओं अथवा भिन्न क्षेत्रों में पूर्ण रूप से गतिशील होते हैं जबकि राष्ट्रों के मध्य साधनों की अगतिशीलता लगभग पूर्ण अथवा पर्याप्त सीमा तक पायी जाती है।

राष्ट्र के भीतर साधन गतिशीलता का महत्व यह है कि राष्ट्र में साधन प्रतिफल समान होने की प्रवृति पायी जाती हैं जबकि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में साधन गतिशीलता के अभाव में पूर्ण समायोजन (भिन्न राष्ट्रों में साधन विशेष का प्रतिफल समान होना) स्थापित नहीं हो पाता है।

साधन गतिशीलता में सम्बन्धत प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विचार की एक स्पष्ट आलोचना यह है कि साधन गतिशीलता के आधार पर अन्तरराष्ट्रीय व घरेलू व्यापार में मात्र श्रेणी (Degree) का अन्तर है।

प्रो. विलियम्स (Williams) एवं प्रो. ओहलीन (Ohlin) का विचार है कि एक ओर तो राष्ट्र के भीतर उत्पादन के साधन पूर्णरूप से गतिशील नहीं होते हैं तथा दूसरी ओर राष्ट्रों की सीमाओं के पार कई बार विशाल एवं वास्तव में बडी मात्रा में साधन गतिशीलता पायी जाती है।

एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में साधन गतिशीलता में अनेक रूकावटें आती हैं। उदाहरणार्थ- राष्ट्रों की बीच श्रम की गतिशीलता में रूकावट डालने वाले निम्न पाँच मुख्य घटक हैं- व्यावसायिक दक्षताएँ एवं संघ (Associations) पारिवारिक बंधन, रीतिरिवाज, भाषा तथा प्रतिबंधक आवास विधान। इन रूकावटों में से प्रथम तीन अर्थात व्यावसायिक दक्षताएँ एवं संघ, पारिवारिक बंधन एवं रीतिरिवाज अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार की रूकावटों को ध्यान में रखते हुए एडम स्मिथ (Adam Smith) ने विचार व्यक्त किया था कि 'मनुष्य का परिवहन सर्वाधिक कठिन है।"

इसी प्रकार भिन्न राष्ट्रों के मध्य पूँजी की गतिशीलता भी अनेक कारणों से प्रभावित होती है। इन कारणों पर प्रकाश डालते हुए प्रो हेबरलर (Haberler) ने इंगित किया है कि, "पूँजी की अन्तरराष्ट्रीय गतिशीलता परिवहन लागतों के कारण नहीं वरन् पूर्णतया भिन्न किस्म की बाधाओं के कारण अवरूद्ध होती है। ये बाधाएँ वैधानिक निवारण राजनीतिक अनिश्चितता विदेशी राष्ट्र में भावी विनियोग की सम्भावनाओं की अज्ञानता, बैंकिंग प्रणाली की अपूर्णताएँ, सम्भावनाओं की अज्ञानता, बैंकिंग प्रणाली की अपूर्णताएँ, विदेशी मुद्राओं की अस्थिरता तथा विदेशी का अविश्वास आदि हैं।"

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर साधन अगतिशीलता होते हैं लेकिन यह कहना अधिक सही होगा कि साधन गतिशीलता की भिन्नता के आधार पर अन्तरराष्ट्रीय व घरेलू व्यापार में श्रेणी (Degree) अन्तर है, न कि किस्म (Kind) का क्योंकि राष्ट्र के भीतर भी साधनों की अपूर्ण गतिशीलता का प्रमाण है। इसी प्रकार से अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भी पूँजी व श्रम साधनों की गतिशीलता समय समय पर देखने में आती है।

अत: यह कहना अधिक उचित होगा कि एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र की तुलना में राष्ट्र के भीतर साधन गतिशीलता अधिक पायी जाती है।

---

3. Quoted in Ohlin- “Interreional and International Trade”(Rev.ed.) Harvard Univ. Press Cambridge, Massachusetts, 1967, p.208. Man is of all sorts of Luggage the most difficult to be transported” Smith.

4. Haberler, G.V.-The Theory of International Trade- (London Macmillan Co. Ltd. I, p.56

**(2)** मौद्रिक भिन्नताएँ

एक राष्ट्र के घरेलू व्यापार की वस्तुओं के क्रय विक्रय से सम्बन्धित सौदे ऐसी एक ही मुद्रा में किये जाते हैं जिसका सारे राष्ट्र में चलन होता है। इसके विपरीत अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में यदि सब राष्ट्रों ने स्वर्णमान अपना रखा है तब भी विनिमय माध्यम भिन्न-भिन्न होंगे। उदाहरणार्थ- भारतवर्ष में रूपया सर्वत्र स्वीकार्य विनिमय माध्यम है लेकिन यदि भारतीय रूपये की आपसी विनिमय दर इस सौदे के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है तो किसी अन्य राष्ट्र की मुद्रा में परिवर्तित करवाना आवश्यक होता है। यदि समस्त राष्ट्रों ने स्वर्णमान अपना रखा है, विनिमय दर स्थिर है व भिन्न मुद्राओं के मध्य पूर्ण परिवर्तनशीलता की स्थिति है तो भिन्न राष्ट्रों में भिन्न मुद्राओं के प्रचलन से अन्तरराष्ट्रीय व अन्तर्देशीय व्यापार पर इस घटक का विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा लेकिन आधुनिक विश्व में अधिकांश राष्ट्रों ने प्रतिबन्धित मुद्रामान अपना रखा है अत: स्वर्णमान की स्थिति की तुलना में विनिमय दरों में बहुत अधिक उच्चावचन आते रहते हैं। अत: स्पष्ट है कि भिन्न राष्ट्रीय मुद्राएँ अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में बाधाएँ प्रस्तुत करती हैं।

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में शामिल मौद्रिक विनिमय सोदों की गणना और उनके निष्पादन में इस प्रकार की लागतें व जोखिम उत्पन्न होती हैं जो कि प्राय: घरेलू व्यापार में नहीं पायी जाती हैं। आर्थिक संकटों में जब सरकारें मौद्रिक मूल ह्यास के विभिन्न तरीकों को काम में लाती हैं तो विदेशी विनिमय के सौदों की जोखिम ओर भी बढ़ जाती है।

भिन्न राष्ट्रों में विकास की भिन्न अवस्थाओं के कारण तथा उनके निर्यातों की पूर्ति व आयातों की माँग को साबित करने वाले भिन्न अनुभवों के कारण वे विदेशी विनियम से सम्बन्धित भिन्न नीतियाँ अपनाते हैं।

**प्रो. किंडलबर्गर के अनुसार,** “अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार से भिन्न करने में नीतियों का यह अन्तर भिन्न राष्ट्रीय मुद्राओं के अस्तित्व से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है

**(3)** राष्ट्रीय नीतियों की भिन्नताएँ

सामान्यतया एक ही राष्ट्र में स्थित आर्थिक इकाइयों पर समान पर से करारोपण किया जाता हैं वे एक ही पूँजी बाजार से वित्त प्राप्त करती हैं तथा संचार परिवहन एवं सूचना जैसी एक समान सुविधाओं की समान अवस्थापना का उपयोग करती हैं। इस प्रकार एक ही राष्ट्र में स्थापित विशिष्ठ आर्थिक इकाइयों का सम्पूर्ण आर्थिक वातावरण भिन्न राष्ट्रों की तुलना में कहीं अधिक समरूप होता है लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि एक ही राष्ट्र के भिन्न क्षेत्रों में करो की दरें, स्थानीय कानून व अन्य नियमनों में भिन्न नहीं पायी जाती है। सामान्यतया राष्ट्र विशेष में वैधानिक नियमन ब प्रक्रियाएँ वैधानिक परिपाटियों एवं दर्शनों की समान नींव पर आधारित होती हैं। ये वैधानिक पीरपाटियाँ व दर्शन राष्ट्र विशेष में भिन्न एतिहासिक पृष्ठभूमि वाले राष्ट्र से पूर्णतया भिन्न हो सकते हैं। मजदूरी, कीमतों, प्रतियोगिता, विनियोग व व्यापारिक नियमनों से सम्बन्धित घरेलू नीतियाँ राष्ट्र के लिए बिल्कुल भिन्न होती है जिससे अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक सौदों में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करने हेतु प्रशुल्क, विनिमय नियंत्रण एवं गैर प्रशुल्क प्रतिबन्ध जैसे उपायों का सहारा लिया जाता है। इस प्रकार के हस्तक्षेप के परिणामस्वरूप घरेलू बाजार के व्यापारी की तुलना में अन्तरराष्ट्रीय व्यापारी को भारी वैधानिक जिम्मेवारियाँ बहन करनी पड़ती हैं एवं अनेक प्रकार की वैधानिक जटिलताओं का सामना करना पड़ता है।

अत: स्पष्ट है कि भिन्न राष्ट्रीय नीतियों का अस्तित्व अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को घरेलू व्यापार से भिन्न बना देता है।

**(4)** बाजार की प्रकृति की भिन्नताएँ

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में अनेक ऐसी बाधाएँ आती हैं जो कि घरेलू व्यापार में सामान्यतया नहीं पायी जाती, ये बाधाएँ भाषा, व्यापारिक रीतिरिवाज, परम्परा, नाप-तौल, क्रय-विक्रय की शर्तों, लेन देन की परिपाटियों आदि की भिन्नताओं के कारण उत्पन्न होती हैं। घरेलू व्यापार की अपेक्षा विदेशी व्यापार में माल एवं समाचार भेजने में समय एवं व्यय अधिक लगता है।

इंजीनियरों व डिजाइनरों को प्रशिक्षण मशीनों व औजारों के राष्ट्रीय प्रारूप को ध्यान में रखते हुऐ दिया जा है तथा उनके प्रशिक्षण में राष्ट्रीय विशेषताएँ विद्‌यमान रहती हैं। एक ही राष्ट्र के भिन्न बाजारों में भी वस्तुओं की बनावट में भिन्नता पायी जाती है लेकिन ये भिन्नताएँ अन्तरराष्ट्रीय स्तर की भिन्नताओं से कम होती हैं।

बाजारों में इन भिन्नताओं का महत्वपूर्ण परिणाम यह होता है कि एक बडी फर्म जो किसी विशिष्ट प्रकार की वस्तुओं की पूर्ति भिन्न राष्ट्रों के बाजारों में बिक्री हेतु कर रही है वह उस वस्तु का मानकीकरण (Standardization) व पैमाने के प्रतिफल व विक्रय के लाभ उस सीमा तक प्राप्त नहीं कर सकती जितना कि एक ही किस्म का उतना ही उत्पादन बड़े राष्ट्रीय बाजार में विक्रय के लिए उत्पादित करने वाली फर्म प्राप्त कर सकती है।

बाजारों की भिन्नता के प्रभाव को प्रो. किण्डलबर्गर ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है "आयात-निर्यात व्यापार को भिन्न शब्दों में वर्णित, भिन्न मापों को प्रयोग में लोने वाली भिन्न शर्तों व भिन्न मुद्राओं में क्रय-विक्रय होने बाली भिन्न वस्तुओं से अवगत होने हेतु घरेलू व्यापार की संस्कृति से बाहर आना पड़ता है।"

**(5)** राजनीतिक इकाइयों की भिन्नताएँ

एक राष्ट्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण इकाई होती है। यद्‌यपि राष्ट्र विशेष के भिन्न क्षेत्रों में सामाजिक व राजनीतिक वातावरण में भिन्नताएँ विद्‌यमान रहती हैं लेकिन फिर भी भिन्न राष्ट्रों की तुलना में एक ही राष्ट्र में राजनीतिक व सामाजिक वातावरण अधिक समान होता है। राष्ट्र के नागरिकों के लिए भिन्न प्रान्तों में रहते हुए भी राष्ट्रीयता की भावना सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है। राष्ट्रीय समूहों का यह संसंजन (Cohesion) रूचियों व रीतिरिवाजों के राष्ट्रीय अन्तरों को समझने में सहायक हैं। राष्ट्रीय सरकारों के लिए विश्व नागरिकों के हित की तुलना में राष्ट्रीय नागरिकों का हित अधिक महत्वपूर्ण होता है।

अत: आन्तरिक व्यापार एक ही समूह के सदस्यों के मध्य का व्यापार होता है जबकि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार भिन्न संसंजन वाली इकाइयों के मध्य का व्यापार है। फ्रेडरिक लिस्ट (Friedrich List)) ने इस अन्तर को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है", घरेलू व्यापार हमारा आपसी व्यापार है जबकि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार हमारे और उनके (विदेशियों के) मध्य व्यापार है।"

---

Kindleberger, C.P. - International Economics (5th ed.) p.5

**(6)** भुगतान संतुलन के समायोजन की भिन्नताएँ

प्रो. किन्डलबर्गर के अनुसार" अन्तर्क्षेत्रीय व अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में अन्तर का सर्वाधिक उलझन भरा पहलू यह है कि क्षेत्रों को व्यवहार में कभी भी भुगतानों की समस्या का सामना नहीं करना पड़ता है जबकि विशेषकर हाल ही के वर्षो में राष्ट्र निरन्तर भुगतान संतुलन के साम्य से बाहर दिखाई पड़ रहे हैं।" इसका आंशिक कारण तो मौद्रिक नीतियाँ हैं लेकिन आंशिक रूप से ऐसा पूँजी की राष्ट्र के भीतर, राष्ट्रों के मध्य की तुलना में, अधिक गतिशीलता के कारण भी है। राष्ट्र के समस्त प्रान्तों की आशिक रूप से वित्त व्यवस्था केन्द्रीय बजट के माध्यम से होती है। अत: अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में भुगतान संतुलन की समस्या गम्मीर रूप धारण नहीं कर पाती है जबकि अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर इस तरह के विश्व बजट व उसमें से राष्ट्रों के घाटों को पूरा करने की कोई पर्याप्त व्यवस्था विद्यमान नहीं है।

अन्तरराष्ट्रीय व अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में उपर्युक्त अन्तरों को यदि गहराई से देखें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि इस तरह केअन्तर राष्ट्रों के भिन्न प्रान्तों में भी पाये जाते हैं लेकिन वास्तविकता यह है कि ये अन्तर अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में कम महत्वपूर्ण व कम श्रेणी के होते हैं। अत: अन्तरराष्ट्रीय व्यापार व अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में अन्तर को स्पष्ट रूप से समझने हेतु हमें विश्लेषण की गहराई तक पहुँचना आवश्यक होता है।

## 9.5 अन्तरराष्ट्रीय व घरेनू व्यापार में समानताएँ (Similarities between International and Domestic Trade)

अन्तरराष्ट्रीय व घरेलू व्यापार की समानताओं को समझने हेतु विश्लेषण को विभिन्न शीर्षकों में विभाजित करना उपयुक्त होगा।

### 9.5.1 अन्तरराष्ट्रीय व अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार दोनों का आधार श्रम विभाजन

एक ही राष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों के मध्य भी व्यापार का आधार लागतों के अन्तर होते हैं तथा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का आधार भी तुलनात्मक लागतों के अन्तर हैं लेकिन आश्चर्य तो यह है कि घरेलू व्यापार का विश्लेषण करते समय हम तुलनात्मक लागत के अन्तरों के बारे में मौन रहते हैं जबकि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का मुख्य आधार तुलनात्मक लागतों में अन्तर को ही मानते हैं। वास्तविकता तो यह है कि अन्तरराष्ट्रीय व घरेलू व्यापार दोनों का ही आधार लागतों के अन्तर होते है

### 9.5.2 दोनों ही प्रकार के व्यापारों में सम्बन्धित पक्षों के मध्य वस्तुओं व सेवाओं का विनिमय

घरेलू व्यापार व अन्तरराष्ट्रीय व्यापार दोनों में ही सम्बन्धित पक्ष व्यक्ति अथवा सरकारें होती

---

6. Kindleberger, C.P.- cit, p.6

7. Quoted in Kindleberger, Ibid, p.7 “Domestic Trade is among us, International Trade is between us and them”.

8. Kindleberger, C.P.- Ibid., p.5

हैं एवं वस्तुओं व सेवाओं का विनिमय होता है। मुद्रा तो मात्र माध्यम होती है।

अत: स्पष्ट है कि अन्य समस्त आर्थिक क्रियाओं की भांति अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में भी क्रय-विक्रय व अन्य क्रियाऐं करने वाला सम्बधित पक्ष व्यक्ति होता है।

### 9.5.3 अन्तरराष्ट्रीय व घरेलू व्यापार दोनों का ही सम्बन्ध दूरी की समस्या से

कुछ अर्थशास्त्री अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को घरेलू व्यापार से अलग करने वाला प्रमुख घटक दूरी को मानते हैं। उदाहरणार्थ, सिजविक के अनुसार अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के लिए विशिष्ट सिद्धान्त की आवश्यकता साधनों की अपूर्ण गतिशीलता के कारण नहीं है,

अपितु दूरी के कारण है। वे लिखते है कि " दूरी अन्तरराष्ट्रीय विनिमय को अधिक महंगा बना देती है।" लेकिन कई बार प्रान्तों के मध्य दूरी राष्ट्रों के मध्य दूरी से अधिक हो सकती है। उदाहरणार्थ, लाहौर व अमृतसर के मध्यम बहुत कम दूरी होते हुए भी इनके मध्य का व्यापार अन्तरराष्ट्रीय व्यापार है जबकि अमृतसर व चैन्नई एक राष्ट्र में ही विद्यमान भिन्न प्रान्त है फिर भी इनके मध्य कई गुणा दूरी है।

अत: अन्तरराष्ट्रीय ब अन्तर्क्षेत्रीय दोनों ही व्यापारों में दूरी की समस्या सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

### 9.5.4 अन्तरराष्ट्रीय व घरेलू व्यापार में साम्य-निर्धारक शर्तें समान

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त सामान्य आर्थिक सिद्धान्तों की विशिष्ट अनुप्रयुक्ति है। दोनों तरह के व्यापार में साम्य निर्धारित करने वाली सामान्य शर्तें समान ही हैं। एजवर्थ के अनुसार" व्यापार के लिए दोनों ही वर्गो (घरेलू व्यापार तथा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार) के लिए साम्य निर्धारण करने वाली सामान्य शर्तें समान हैं, अन्तर केवल यह है कि घरेलू व्यापार में एक अथवा दो समीकरणें अधिक होती हैं।

### 9.5.5 दोनों ही प्रकार के व्यापार का समान आधार

अन्तरराष्ट्रीय व घरेलू दोनों ही व्यापार समान सिद्धान्तों पर आधारित हैं। उदाहरणार्थ, दोनों ही प्रकार के व्यापारों का प्रमुख उद्देश्य अधिकतम लाभ होता है तथा दोनों ही प्रकार के व्यापारों में अधिक पूर्ति वाले स्थानों से कम पूर्ति वाले स्थानों की ओर वस्तुओं का चलन है। इसी प्रकार दोनों ही प्रकार के व्यापारों में स्वैच्छिक आर्थिक सौदें होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त व घरेलू व्यापार के सिद्धान्त भी पृथक नहीं हैं।

## 9.6 एडम स्मिथ का निरपेक्ष लाभ का सिद्धान्त (Adam Smiths Theory of Absolute Advantage)

---

9. quoted in Ohlin, B.op.cit., p.97

1०.Quoted in Haberler-op. cit., p.8 (foot note) from Edge Worth’s- “The Pure Theory of International Values.”

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में एडम स्मिथ का महत्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक " Wealth of Nations" (1776 ई।) में अन्तरराष्ट्रीय विशिष्टीकरण एवं श्रम विभाजन तथा इसके परिणाम स्वरूप स्वतंत्र व्यापार से प्राप्त लब्धियों का प्रभावी विश्लेषण प्रस्तुत किया। स्मिथ ने स्पष्ट रूप से दर्शाया कि स्वतन्त्र व्यापार से प्रत्येक देश को उन वस्तुओं का उत्पादन करने का प्रोत्साहन मिलेगा जिनके उत्पादन के लिए वह राष्ट्र सर्वाधिक उपयुक्त है एवं इस प्रकार के विशिष्टीकरण से उच्च जीवन स्तर की आलोचना की तथा स्वतन्त्र व्यापार के लाभों को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि स्वतन्त्र व्यापार के परिणाम स्पष्ट श्रम विभाजन का विस्तार होगा एवं सम्बन्धित राष्ट्रों की वास्तविक आय में अभिवृद्धि होगी।

स्मिथ के अनुसार 'एक परिवार के समझदार स्वामी का यह सिद्धान्त होता है कि वह उस वस्तु को घर पर तैयार करने का कभी भी प्रयास नहीं करेगा जो कि क्रय करने में लगने वाली लागत से ऊँची लागत पर तैयार कर सकें। दर्जी अपने जूते स्वयं बनाने का प्रयास नहीं करता बल्कि उन्हें मोची से खरीदता है, मोची स्वयं अपने कपड़े नहीं सिलता बल्कि वह दर्जी से सिलवाता है। एक किसान इन दोनों में से कुछ भी बनाने का प्रयास नहीं करता बल्कि भिन्न व्यवसाय वालों को काम पर लगाता है। सभी इसमें अपना हित समझते हैं कि वे अपनी सम्पूर्ण मेहनत इस प्रकार से व्यवसाय में लगावें कि उस वस्तु के उत्पादन में उन्हें अपने पडोसी से कुछ अधिक सुविधा उपलब्ध हो और अपने उत्पादन के एक भाग से अथवा उसके मूल्य से, जो कि एक ही बात है, उपयुक्त हो वही खरीद लें। "

स्मिथ आगे लिखते हैं, "प्रत्येक निजी परिवार के आचरण में जो समझदारी है वह एक महान् राष्ट्र के आचरण में शायद ही मूर्खता हो। यदि कोई विदेशी राष्ट्र हमें किसी वस्तुत की पूर्ति हमारी लागत की उपेक्षा सुविधा वाले हमारे निजी मेहनत के उत्पादन के कुछ भाग बदले में ऐसी वस्तु को खरीद लें - इस तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए स्मिथ आगे लिखते है कि विशेष वस्तुओं के उत्पादन में एक देश की अपेक्षा दूसरे देश को जो प्राकृतिक लाभ होते हैं वे कभी-कभी इतने अधिक होते हैं कि विश्व द्वारा यह स्वीकार किया जाता है कि उनके लिए यह संघर्ष व्यर्थ हैं। शीशे, हॉटबैड और हॉटबाल द्वारा स्कॉटलैण्ड में बहुत अच्छे अंगुर उगाये जा सकते हैं और इनकी सहायता से अच्छी शराब भी बनायी जा सकती है लेकिन लागत बाहर से मगाँयी गयी शराब से तीस गुना ऊँची होगी। क्या स्कॉटलैण्ड में क्लेरेट व बरगंडी के उत्पादन मात्र को प्रोत्साहित करने हेतु सभी शराबों के आयातों पर निषेध लगाने वाला कानून उचित होगा? जब तक एक देश को वे सुविधाएँ उपलब्ध हैं तथा दूसरा देश उन्हें चाहता है, दूसरे देश के लिए स्वयं बनाने की अपेक्षा प्रथम देश से क्रय करना सदैव अधिक लाभप्रद होगा। यह मात्र एक अर्जित सुविधा है जो एक शिल्पी को अन्य व्यापार में संलग्न अपने पड़ौसी से बेहतर उपलब्ध है। इसके बावजूद भी उन दोनों के लिए ही अपने विशेष व्यवसाय के अन्तर्गत न आने वाली वस्तु को तैयार करने की अपेक्षा एक दूसरे से क्रय करना अधिक लाभप्रद है। "

एडम स्मिथ के उपर्युक्त विचारों से अवगत होने के पश्चात् व्यापार में प्राप्त होने वाले लाभों की वास्तविकता के बारे में किसी भी प्रकार का सन्देह बना रहता सम्मव नहीं है। एक परिवार के स्वामी तथ राष्ट्र को उसी वस्तु का उत्पादन करना चाहिए जिसमें उनकी दक्षता अथवा उत्पादकता अधिक है।

---

11 Adam Smith- The Wealth of Nations, Bantan Classic, p.p.76.

स्मिथ ने व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभों के आधार पर ही सरकारी हस्तक्षेप की नीति का विरोध किया व स्वतन्त्र नीति की वकालत की। यद्यपि स्मिथ की व्यापार से प्राप्त लाभों की व्यवस्था बहुत ही प्रभावशाली व स्पष्ट थी लेकिन साथ ही अपूर्ण भी थी। क्योंकि स्मिथ के अनुसार दो राष्ट्रों के मध्य व्यापार के लिए लागतों में निरपेक्ष अन्तर विद्यमान होने आवश्यक हैं अर्थात् प्रत्येक देश में एक वस्तु की लागत दूसरे देश में उस वस्तु की लागत से निरपेक्ष रूप से नीची होनी आवश्यक है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए प्रो. एल्सवर्थ[12] ने स्मिथ के निरपेक्ष लाभ के सिद्धान्त पर अग्रलिखित टिप्पणी की है:-

स्मिथ की व्याख्या 'जहाँ तक बढ़ी बहुत उत्तम थी लेकिन यह बहुत आगे नहीं बढ़ी इसमें यह मान लिया गया कि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के लिए यह आवश्यक है कि निर्यात वस्तु के उत्पादक को निरपेक्ष लाभ प्राप्त हो अर्थात् निर्यातक उद्योग निर्यातक पूँजी व श्रम की मात्रा उत्पादित करने में समर्थ होना चाहिए। "

यद्यपि कुछ वस्तुओं के व्यापार का प्रमुख कारण एक देश को दूसरे देश की तुलना में प्राप्त अधिक प्राकृतिक लाभ ही होता है लेकिन यह सिद्धान्त एक पिछडे हुए व विकसित राष्ट्र के मध्य होने बाले व्यापार के आधार को स्पष्ट करने में असमर्थ है। मान लिजिए एक अल्पविकसित राष्ट्र सभी वस्तुओं के उत्पादन में दूसरे विकसित राष्ट्रों की तुलना में निरपेक्ष रूप से अकुशल है तो क्या विकसित राष्ट्र को ऐसे राष्ट्र के साथ व्यापार के लाभ प्राप्त हो सकते हैं? इस प्रशन का उत्तर अमूर्त चिन्तक एवं प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री डेविड रिकार्डों ने आज से लगभग पोने दो सौ वर्ष पूर्व अपने तुलनात्मक लागत के प्रसिद्ध सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया था।

## 9.7 सारांश (Summary)

प्रस्तुत इकाई में अन्तरराष्ट्रीय अर्थशास्त्र का अर्थ व प्रकृति स्पष्ट करते हुए अन्तरराष्ट्रीय व्यापार व घरेलू व्यापार में अन्तर व समानताओं का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने घरेलू व अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में मूलभूत अन्तर माना था तथा इस अन्त का आधार साधन गतिशीलता को माना था लेकिन आधुनिक अर्थशास्त्री व नोबेल पुरस्कार विजेता प्रो. बर्टिल ओहलीन (Prof. Bertil Ohlin) ने अन्तरराष्ट्रीय व घरेलू व्यापार में मूलभूत अन्तर होने की अवधारणा को नकारा। ओलीन का मत है कि जिस सिद्धान्त को प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का आधार पर एक राष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों के मध्य व्यापार होता है। अत: अन्तरराष्ट्रीय व घरेलू व्यापार में अन्तर नहीं है।

इसके अतिरिक्त इस अध्याय में हमने एडम स्मिथ (Adam Smith) के निरपेक्ष लाभ के सिद्धान्त को भी स्पष्ट किया हैं स्मिथ ने व्यापार से प्राप्त होने वालों लाभों के आधार पर सरकारी हस्तक्षेप की नीति का विरोध किया व स्वतन्त्र नीति की वकालत की। यद्यपि ये व्याख्या बहुत प्रभावशाली

---

[12] Ellsworth, P.T.& Leith, J.C., The International Economy (5th ed.) Collier MacMillan, International editions;

स्पष्ट थी लेकिन साथ ही अपूर्ण भी थी। स्मिथ का यह सिद्धान्त एक पिछडे हुए व विकसित राष्ट्र के मध्य होने वाले व्यापार के आधार को स्पष्ट करने में असमर्थ हैं। इस आधार पर स्पष्टीकरण रिकार्डो ने अपने ' तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त” में प्रस्तुत किया।

## 9.8 शब्दावली (Glossary)

| | |
|---|---|
| अन्तरराष्ट्रीय व्यापार | International Trade |
| अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार | Inte-regional Trade |
| साधन गतिशीलता | Factor Mobility |
| निरपेक्ष लाभ का सिद्धान्त | Theory of Absohite Advanbtage |
| स्वतंत्र व्यापार | Free Trade |

## 9.9 संदर्भ ग्रन्थ

Pugel, T.A., International Economics (13th ed), Tata Mc Graw Hill Publishing Co.

Aslbvatore, D., International Economics (7th ed), John Wiley & Sons,2001

Swami, K.D., International Economics (Hindi ed), Scientific Publishing, Jodhpur, 2003

## 9.10 अभ्यासार्थ प्रश्न (Unit-end Questions)

1. अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. अन्तरराष्ट्रीय व्यापार व अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में साधन गतिशीलता में भिन्नता के आधार पर अन्तर कीजिए।
3. अन्तरराष्ट्रीय व अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में समानता से सम्बन्धित ओलीन के विचार स्पष्ट कीजिए।
4. “एडम स्मिथ का निरपेक्ष लाभ का सिद्धान्त उनके श्रम विभाजन के लाभों के विचार का विस्तार मात्र था।" स्पष्ट कीजिए।

# इकाई -10

# रिकार्डो का तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त

## (Ricardo's Comparative Cost Doctrine)

**इकाई के उद्देश्य**

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 रिकार्डो के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण
    10.2.1 लागतों में तुलनात्मक अन्तर का अभिप्राय
    10.2.2 रिकार्डो के सिद्धान्त की मान्यताएँ
    10.2.3 मूल का श्रम सिद्धान्त
10.3 रिकार्डो के सिद्धान्त का संख्यात्मक उदाहरण
    10.3.1 उदाहरण में व्यापार की दिशा निर्धारित करना
    10.3.2 व्यापार की शर्तो (Terms of Trade) की सीमाएँ
    10.3.3 व्यापार से प्राप्त लाभ
    10.3.4 रिकार्डो का लागत सिद्धान्त व वास्तविक जीवन
10.4 रिकार्डो के सिद्धान्त की आलोचनाएँ
10.5 हेबरलर (Haberler) का अवसर लागत सिद्धान्त
10.6 सारांश
10.7 शब्दावली
10.8 सन्दर्भ ग्रन्थ
10.9 अभ्यासार्थ प्रशन

## 10.0 उद्देश्य (Objectives)

एडम स्मिथ का सिद्धान्त एक पिछडे हुएव विकसित राष्ट्र के मध्य होने वाले व्यापार के आधार को स्पष्ट करने में असमर्थ है। इस अध्ययाय में हमारा उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि एक अल्पविकसित राष्ट्र जो कि सभी वस्तुओं के उत्पादन में दूसरे विकसित राष्ट्र की तुलना में निरपेक्ष रूप से अकुशल है, तब भी एक विकसित राष्ट्र को ऐसे राष्ट्र के साथ व्यापार से लाभ प्राप्त हो सकता है। यदि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से सभी वस्तुओं के उत्पादन में कम कुशल है तथा दूसरा अधिक तो उन राष्ट्रों के मध्य व्यापार की दिशा निर्धारित करने हेतु हमें रिकार्डो के तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की सहायता लेनी पडेगी।

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात आप समझ सकेंगे कि:

- अन्तरराष्ट्रीय व्यापार किस प्रकार दोनों देशों के लिए लाभदायी है;
- रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की मान्यताओं से परिचित हो जाएंगे; एवं

- सिद्धान्त की प्रमुख कमियाँ बता सकेंगे।

## 10.1 प्रस्तावना (Introduction)

प्रस्तुत इकाई में रिकार्डों के तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का वर्णन किया गया है। इकाई के प्रारम्भ में रिकार्डों के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए लागतों में तुलनात्मक अन्तर का अभिप्राय, सिद्धान्त की मान्यताएँ व मूल के श्रम सिद्धान्त को विस्तार से वर्णित किया गया है। इकाई में आगे रिकार्डों के सिद्धान्त का संख्यात्मक उदाहरण प्रस्तुत किया जायेगा। उदाहरण में व्यापार का दिशा निर्धारण, व्यापार की शर्तों की सीमाएँ व व्यापार से प्राप्त उपलब्धियों को विस्तारपूर्वक समझाया गया है। रिकार्डों का प्रस्तुत सिद्धान्त अति सरलीकृत है लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं कि यह सभी दृष्टिकोणों से पूर्ण है। आलोचकों ने रिकार्डों के मूल सिद्धान्त की कई आलोचनाएँ की हैं जो इस इकाई में बतायी गयी है। हेबरलर (Haberler) ने रिकार्डों के सिद्धान्त को इसके 'मूल्य के श्रम सिद्धान्त" की अवास्तविक मान्यताओं से मुक्त कर इसका पुनर्कथन अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में "अवसर लागत सिद्धान्त" के नाम से किया है। इकाई के अन्त में सारांश, शब्दावली, सन्दर्भ ग्रन्थ व अभ्यासार्थ प्रशन दिये गये हैं।

## 10.2 रिकार्डों के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण (Illustration of Ricardian Theory)

यद्यपि कुछ वस्तुओं के व्यापार का प्रमुख कारण एक देश के दूसरे देश की तुलना में प्राप्त अधिक प्राकृतिक लाभ ही होता है लेकिन एडम स्मिथ (Adam Smith) का सिद्धान्त एक पिछड़े व विकसित राष्ट्र के मध्य होने वाले व्यापार के आधार को स्पष्ट करने में असमर्थ है। मान लीजिए एक अल्पविकसित राष्ट्र सभी वस्तुओं के उत्पादन में दूसरे विकसित राष्ट्र की तुलना में निरपेक्ष रूप से अकुशल है तो क्या विकसित राष्ट्र को ऐसे राष्ट्र के साथ व्यापार के लाभ प्राप्त हो सकते हैं? इस प्रशन का उत्तर अमूर्त चिन्तक एवं प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री डेविड रिकार्डो (David Ricardo) ने आज से लगभग पौने दो सौ वर्ष पूर्व अपने तुलनात्मक लागत के प्रसिद्ध सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया था।

**रिकार्डों द्वारा अपनी प्रसिद्ध कृति "The principal of Political and Taxation"** (सन् 1817) में प्रतिपादित अन्तरराष्ट्रीय व्यापार-सिद्धान्त को " तुलनात्मक लागत सिद्धान्त ' के नाम से जाना जाता है।

क्या तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को सर्वप्रथम रिकार्डों ने ही प्रतिपादित किया? इस प्रशन के बारे में कुछ मतभेद हैं। कुछ अर्थशास्त्री इस सिद्धान्त का प्रतिपादन रॉबर्ट टॉरेन्स (Robert Torrens) को मानते हैं। क्योंकि टॉरेन्स के सन् 1815 में छपे 'Essay on the External Corn Trade' के उद्धरणों से स्पष्ट पता चलता है कि टॉरेन्स तुलनात्मक लागत के विचार से परिचित थे। इसीलिए कुछ विशेषज्ञों ने इस सिद्धान्त को रिकार्डो- टॉरेन्स सिद्धान्त' नाम देना अधिक उपयुक्त समझा है। लेकिन यह तो स्वीकार करना होगा कि इस सिद्धान्त को एक तर्कयुक्त सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करने व इसकी पूर्ण महत्ता को समझाने का श्रेय डेविड रिकार्डों को ही जाता है। अत: हम इसका रिकार्डों के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त शीर्षक के अर्न्तगत ही अध्ययन करेंगे।

### 10.2.1 लागतों में तुलनात्मक अन्तर का अभिप्राय (Meaning of Comparative Difference in Costs)

रिकार्डो ने अपने इस सिद्धान्त द्वारा यह दर्शाने का प्रयास किया है कि राष्ट्रों के मध्य लाभदायक अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के लिए दो देशों की लागतों में निरपेक्ष अन्तर विद्यमान होना आवश्यक नहीं हैं, लागतों के तुलनात्मक अन्तरों की उपस्थिति के कारण भी लाभदायक व्यापार सम्भव है।

रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का अर्थ निम्न शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है- एक देश उस वस्तु का निर्यात (आयात) करेगा जिसमें उस देश की तुलनात्मक साधन उत्पादकता लागत कम (अधिक) है।

अर्थात तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार एक देश उस वस्तु का निर्यात करेगा जिसमें देश की तुलनात्मक साधन उत्पादकता लागत कम है तथा उस वस्तु का आयात करेगा जिसमें देश की तुलनात्मक साधन उत्पादकता लागत अधिक है।

### 10.2.2 रिकार्डो के सिद्धान्त की मान्यताएँ (Assumptions Underlying Ricardian Theory)

रिकार्डो के सिद्धान्त का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करने से पूर्व उन मान्यताओं से अवगत होना आवश्यक है जो रिकार्डो के मूल सिद्धान्त में निहित थीं। रिकार्डो के सिद्धान्त की मान्यताएँ हैं:

1. दो देश व दो वस्तुएँ
2. केवल श्रम ही उत्पादन का साधन
3. मूल्य निर्धारण का श्रम सिद्धान्त
4. राष्ट्र के भीतर श्रम गतिशील परन्तु राष्ट्रों के मध्य गतिहीन।
5. समस्त साधन बाजारों में पूर्ण प्रतियोगिता
6. प्रत्येक उत्पादन क्रिया में पैमाने की स्थिर उत्पत्ति का नियम क्रियाशील होता है।
7. माँग पक्ष में पसंदगियाँ तथा मूर्ति पक्ष में तकनीकी तथा साधन उपलब्धता अपरिवर्तित।
8. पूर्णरूप से स्वतन्त्र व्यापार, प्रशुल्क अथवा अन्य किसी भी प्रकार के सरकारी नियंत्रण की अनुपस्थिति।
9. वस्तु विनिमय वाली अर्थव्यवस्थाएँ।
10. दोनों राष्ट्र साधन सम्पन्नता दृष्टिकोण से एक समान।

### 10.2.3 मूल्य का श्रम सिद्धान्त (Labour Theory of Value)

एडम स्मिथ, डेविड रिकार्डो तथा अन्य सभी प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री मूल्य के श्रम सिद्धान्त में विश्वास करते थे तथा श्रम को ही मात्र एक उत्पादन का साधन मानते थे। मूल्य के श्रम सिद्धान्त के अनुसार किसी भी वस्तु का मूल्य इस बात से निर्धारित होगा कि उसके उत्पादन में कितने श्रमिक लगे हैं। उदाहरणार्थ - यदि एक कुर्सी तैयार करने में बढ़ई को दो. दिन का श्रम लगाता है तथा एक मेज तैयार करने में एक दिन का, तो मूल्य के श्रम सिद्धान्त के अनुसार एक कुर्सी के बदले दो मेज़ों का विनिमय होगा।

## 10.3 रिकार्डो के सिद्धान्त का संख्यात्मक उदाहरण (A Numerical Example of Ricardian Theory)

यदि हम तालिका 10.1 के संख्यात्मक उदाहरण के अन्तर्गत इंग्लैण्ड में एक इकाई कपड़े की लागत 100 श्रमवर्ष माने तो हमें रिकार्डो का प्रसिद्ध इंग्लैण्ड-पुर्तगाल का उदाहरण प्राप्त हो जाता है।

तालिका-10.1

लागतों के तुलनात्मक अन्तर: उत्पादन की श्रम लागतों (श्रम वर्षों) की तुलना

| देश | 1इकाई शराब की लागत | 1 इकाई कपड़े की लागत |
|---|---|---|
| पुर्तगाल | 80 | 90 |
| इंग्लैण्ड | 120 | 100 |

### 10.3.1 उदाहरण में व्यापार की दिशा निर्धारित करना (Direction to Trade)

उपर्युक्त तालिका 10.1 के उदाहरण में स्पष्ट है कि पुर्तगाल इंग्लैण्ड की तुलना में शराब व कपड़ा दोनों को ही कम लागत पर उत्पादित करने में सक्षम है। अत: व्यापार की दिशा निर्धारित करने हेतु निरपेक्ष लाभ का सिद्धान्त काम में नहीं आ सकता, ऐसी परिस्थितियों में व्यापार का नियमन तुलनात्मक लागत द्वारा होगा। अत: हम रिकार्डो के सिद्धान्त द्वारा उपर्युक्त उदाहरण में व्यापार की दिशा व्यापार की शर्तों की सीमाएँ तथा व्यापार की लब्धियाँ निर्धारित करने का प्रयास करेंगे।

रिकार्डो ने स्पष्ट किया कि यद्यपि पुर्तगाल की लागतें दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष रूप से कम हैं लेकिन उसकी तुलनात्मक रूप से शराब के उत्पादन में लागत कम है। अत: पुर्तगाल को शराब के उत्पादन में विशिष्टिकरण करना चाहिए। उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि पुर्तगाल शराब का उत्पादन इंग्लैण्ड की तुलना में 67 प्रतिशत (80/120×100) लागत पर तैयार कर सकता है जबकि कपड़े का उत्पादन वह इंग्लैण्ड की तुलना में 90 प्रतिशत (90/100×100) लागत पर तैयार कर पाता है। अत: तुलनात्मक दृष्टिकोण से पुर्तगाल शराब के उत्पादन में अधिक कुशल है और व्यापार में वह शराब का निर्यात करेगा।

इंग्लैण्ड दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष रूप से अकुशल है लेकिन कपड़े के उत्पादन में उसे तुलनात्मक लाभ प्राप्त है। जैसा कि उदाहरण में स्पष्ट है शराब के उत्पादन में इंग्लैण्ड को पुर्तगाल की लागत का 150 प्रतिशत (120/80×100) व्यय करना पड़ता है जबकि कपड़े के उत्पादन में यह प्रतिशत 111 (100/90×100) ही है।

तुलनात्मक लाभ का अर्थ भली-भांति समझने हेतु ध्यान रखा जाना चाहिए कि कम से कम दो राष्ट्र व दो वस्तुएँ होना आवश्यक है और हमें एक वस्तु के दो राष्ट्रों में उत्पादन लागत के अनुपात (80/120) की दूसरी वस्तु के दो राष्ट्रों में उत्पादन लागत के अनुपात (90/100) से तुलना करना होती है। यदि इन दो अनुपातों में अन्तर पाया जाता है तो एक राष्ट्र को एक वस्तु में तथा दूसरे राष्ट्र को दूसरी वस्तु में तुलनात्मक लाभ प्राप्त है और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का आधार विद्यमान है। यह भी स्पष्ट कर देना होगा कि यदि तालिका 10.1 के उदाहरण के अन्तर्गत इंग्लैण्ड में 1 इकाई कपड़े की लागत 100 के स्थान पर 135 श्रम वर्ष हो तो ऐसी स्थिति में उपर्युक्त दोनों ही अनुपात (80/120)

व (90/135) ठीक बराबर होंगे। इस स्थिति में इंग्लैण्ड व पुर्तगाल को किसी भी वस्तु के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ प्राप्त नहीं होंगे तथा व्यापार सम्भव नहीं होगा।

### 10.3.2 व्यापार की शर्तों की सीमाएँ (Limits to the Terms of Trade)

तालिका संख्या 10.1 के उदाहरण के अन्तर्गत व्यापार की अनुपस्थिति में पुर्तगाल में एक इकाई शराब की लागत 80 श्रम वर्ष है जबकि कपड़े की प्रति इकाई लागत 90 श्रम वर्ष है अत: मूल्य के श्रम सिद्धान्त के आधार पर पुर्तगाल में एक इकाई शराब की लागत 80/90= 0.89 कपड़े की इकाइयाँ (0.89 कपड़े व शराब समान श्रम वर्षो (80 श्रम वर्ष) का उत्पादन है।) होंगी।

व्यापार की अनुपस्थिति में दोनों राष्ट्रों में प्रचलित कीमत अनुपात ही ऐसी दो सीमाएँ होती है। जिनके मध्य अन्तरराष्ट्रीय कीमत अनुपात निर्धारित होता है। अत: व्यापार की शर्तों की सीमाएँ निम्न होंगी-

=89 कपड़े की इकाइयाँ (पुर्तगाल)
1 इकाई शराब =1.2 कपड़े की इकाइयाँ (इंग्लैण्ड)

इन सीमाओं के मध्य कोई भी कीमत अनुपात अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की शर्तों के रूप में निर्धारित हो सकता है। व्यापार में वास्तविक व्यापार की शर्त क्या होगी इस प्रशन का उत्तर खोजने का प्रयत्न रिकार्डो ने नहीं किया था। इसका कारण शायद यह रहा होगा कि रिकार्डो का प्रमुख उद्देश्य लागतों में तुलनात्मक अन्तरों की स्थिति में दोनों राष्ट्रों के व्यापार से लाभान्वित होने के तथ्य को साबित करना था|

### 10.3.3 व्यापार से प्राप्त लाभ (Gains from Trade)

मान लीजिए माँग एवं पूर्ति की शक्तियों द्‌वारा उपर्युक्त सीमाओं के मध्य अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में व्यापार की शर्तें व 1 शराब = 1 कपड़ा निर्धारित हो जाती है तो व्यापार से दोनों ही राष्ट्र लाभान्वित होंगें। व्यापार प्रारम्भ होने पर पुर्तगाल तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त के आधार पर शराब के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा तथा कपड़े का आयात करेगा।

व्यापार में पुर्तगाल को 1 शराब के बदले 1 कपडा प्राप्त होगा। यानि कि 80 श्रम तर्षो द्‌वारा उत्पादित शराब के बदले 1इकाई कपडा प्राप्त होने पर पुर्तगाल 10 श्रम वर्षो की बचत कर पायेगा क्योंकि यदि पुर्तगाल स्वयं कपड़े का उत्पादन करता है तो उस को 90 श्रम वर्षों की लागत लगानी पड़ेगी। इसी प्रकार इंग्लैण्ड एक इकाई कपड़े के निर्यात के बदले 1इकाई शराब का आयात करके 20 श्रम वर्षों की बचत करने में सक्षम होगा क्योंकि यदि इंग्लैण्ड स्वयं शराब उत्पादित करता है तो वह 120 श्रम वर्षा की लागत पर शराब तैयार कर पायेगा। अत: स्पष्ट है कि व्यापार से इंग्लैण्ड व पुर्तगाल दोनों ही राष्ट्र लाभान्वित होंगे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि रिकार्डो ने अपने सिद्धान्त द्‌वारा यह दर्शाया कि यदि एक राष्ट्र दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन में दूसरे राष्ट्र की तुलना में निरपेक्ष रूप से अधिक कुशल है तब भी कम कुशल राष्ट्र के साथ व्यापार करने से दोनों ही राष्ट्र लाभान्वित होंगे।

### 10.3.4 रिकार्डो का लागत सिद्धान्त व वास्तविक जीवन (Ricardian theory & Real Life)

रिकार्डो के सिद्धान्त की तर्कसंगतता व सत्यता तो हमारे दिन प्रतिदिन के अनुभव में भी स्पष्ट झलकती है। उदाहरणार्थ- एक चिकित्सक रोगी की शल्य चिकित्सा तथा मरहम पट्टी दोनों ही क्रियाएँ करने में नर्स से निरपेक्ष रूप से अधिक कुशल होते हुए भी मरहम पट्टी का कार्य करवाने हेतु एक नर्स नियुक्त करता है। इसी प्रकार एक प्रोफेसर विषय के ज्ञान व टाईपिंग दोनों ही कार्यो में क्लर्क से अधिक कुशल होते हुए भी टाईप के लिए क्लर्क की नियुक्ति करता है। इसी प्रकार एक प्रबन्धक बुक कीपिंग ब प्रबन्ध दोनों ही कार्यों में बुक-कीपर से अधिक कुशल होते हुए भी एक बुक-कीपर को रोजगार देता है। ये सभी दिन- प्रतिदिन जीवन के तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त के ही तो उदाहरण हैं।

इस सिद्धान्त की तर्कसंगतता सत्यता व वास्तविक जगत में अनुप्रयुक्तता से प्रभावित होकर ही नोबेल पुरस्कार विजेता प्रोफेसर सेम्युअलसन (Prof. Samuelson) ने इस सिद्धान्त के बारे में निम्न टिप्पणी की है-

'यदि सिद्धान्त भी युवतियों की भाँति सौन्दर्य प्रतियोगिता जीत सकते होते तो तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त निश्चय ही उच्च स्थान प्राप्त करता क्योंकि इस का गठन अति सुन्दर तर्कसंगत है। वास्तव में हमें यह मानना होगा कि यह एक सरलीकृत सिद्धान्त है। तथापि इसके अति सरलीकृत होने के बावजूद भी तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त में सत्य की महत्वपूर्ण झलक है। राजनीति अर्थव्यवस्था ने ऐसे विचारों से भरपूर कम ही सिद्धान्तों को जन्म दिया है। जो राष्ट्र तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त की व्यवहार में उपेक्षा करता है उसे जीवन स्तर व सम्भव्य विकास के रूप में भारी कीमत चुकानी पड़ सकती है।

## 10.4 रिकार्डो के सिद्धान्त की आलोचनाएँ (Criticisms of Ricardian Theory)

उपर्युक्त विश्लेषण का यह अभिप्राय नहीं है कि यह सिद्धान्त सभी दृष्टिकोणों से पूर्ण है। आलोचकों ने रिकार्डो के मूल सिद्धान्त की कई आलोचनाएँ की है। इनमें से अधिकांश आलोचनाएँ इस सिद्धान्त की अवास्तविक मान्यताओं पर आक्षेप है। सिद्धान्त की कुछ आलोचनाएँ निम्नलिखित है:

रिकार्डो की दो देश व दो वस्तुओं की मान्यता इस सिद्धान्त की गम्भीर कमी नहीं कही जा सकती क्योंकि इन मान्यताओं को त्यागकर भी इस सिद्धान्त को आसानी से सत्य साबित किया जा सकता है। ये मान्यताएँ तो रिकार्डो ने केवल अपने सिद्धान्त को सरलरूप में प्रस्तुत करने के लिए मानी थीं।

रिकार्डो के सिद्धान्त में मूल्य के श्रम सिद्धान्त की मान्यता निश्चित ही एक गम्मीर मान्यता है क्योंकि यह वास्तविकता का आवश्यकता से अधिक सरलीकरण कर देती है। मौटे तौर पर मूल्य का श्रम सिद्धान्त निम्नलिखित मान्यताओं की उपस्थिति में ही सत्य होगा[2]:

(1) समस्त श्रम समरूप हो।

(2) समस्त श्रमिक प्रत्येक धन्धे में कार्यरत हो सकते हो।

(3) मात्र श्रम ही उत्पादन का गतिशील साधन हो।

---

P.A. Samuelson, Economics, 8th ed. P. 656

(1) श्रमिकों के बीच पूर्ण प्रतिस्पर्धा हो।

वास्तविक जगत में इनमें से कुछ मान्यताएँ तो कभी भी प्राप्त नहीं होती हैं तथा कुछ सदैव प्राप्त नहीं होती हैं। अत: अपने सरलतम रूप में मूल्य का श्रम सिद्धान्त खण्डित हो जाता है।

विशेष रूप से मूल्य का श्रम सिद्धान्त ब्याज के उदय के कारण 'समय तत्व" को सम्मिलित करने में असमर्थ है। इस बिन्दु को हम इस प्रकार समझ सकते हैं यदि ब्याज की दर धनात्मक है तो किसी भी वस्तु की औसत लागत व कीमत केवल इसे तैयार करने में लगे श्रम की मात्रा से ही प्रभावित नहीं होती अपितु इस घटक से भी प्रभावित होगी कि उत्पादन क्रिया में श्रम कितने समय' तक कार्यरत रहा। अत: मूल्य का श्रम सिद्धान्त ब्याज तत्व को सम्मिलित नहीं कर पाता है।

इसके अतिरिक्त यह भी सत्य है कि श्रम साधन न तो समरूप' ही होता है तथा न ही मात्र एक उत्पादन का साधन होता है। श्रमिकों के भिन्न अप्रतियोगी समूह' होते हैं जो कि अन्य धन्धे में शीघ्र ब सरलतापूर्वक स्थानान्तरित नहीं हो पाते हैं। उदाहरणार्थ, कृषि क्षेत्र व औद्योगिक क्षेत्र के श्रमिकों के समूह एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा नहीं कर पाते हैं क्योंकि ये अप्रतियोगी समूह हैं। लेकिन इससे भी गम्भीर आपत्ति यह है कि श्रम ही एक मात्र उत्पत्ति का साधन नहीं होता। वस्तुओं के उत्पादन में भूमि, श्रम तथा पूँजी के भिन्न संयोगों की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ- कृषि पदार्थो के उत्पादन में भूमि साधन तथा मशीनों के उत्पादन में पूँजी साधन की महत्वपूर्ण भूमिकाएँ होती है, अत: इन वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में क्रमशः भूमि तथा पूँजी साधनों की उपेक्षा करना निश्चय ही उचित विधि नहीं हैं।

## 10.5 हेबरलर (Haberler) का अवसर लागत सिद्धान्त

प्रो. सेम्यूलसन (Prof. Samuelson) ने रिकार्डो के सिद्धान्त को सुन्दर तर्कयुक्त बताते हुए इसके निम्न दोषों की तरफ ध्यान दिलाया है; उन्हीं के शब्दों में ' तुलनात्मक लाभ की शायद अधिक गम्भीर स्वामी इसकी स्थैतिक मान्यताएँ हैं। सिद्धान्त को वस्तु विनिमय तथा साक्षेप कीमत अनुपातों के रूप में व्यक्त किया गया है। यह कीमतों व मजदूरी की चिपके रहने की प्रवृति (All Stick ness), समस्त संक्रमणकालीन मुद्रास्फीति तथा अधिमूल्यन अन्तरालों तथा समस्त भुगतान सन्तुलन की समस्याओं की उपेक्षा करता है। यह सिद्धान्त मान लेता है कि जब श्रमिक एक उद्योग से बेरोजगार होते हैं तो सदैव दूसरे अधिक कुशल उद्योगों में कार्यरत हो जाते है निरन्तर (Chronic) बेरोजगारी में कभी नहीं रहते।'

अत: महत्वपूर्ण प्रशन यह है कि यदि हम मूल्य निर्धारण के श्रम सिद्धान्त को अवास्तविक मानकर अस्वीकार कर दें तो क्या हमें तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त भी अस्वीकार करना पड़ेगा? सौभाग्यवश ऐसा नहीं है अर्थात् तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त सत्य बने रहने के लिए अपनी मान्यताओं पर निर्भर नहीं है।

सन् 1936 में हेबरलर ने रिकार्डो के सिद्धान्त को इसके 'मूल्य के श्रम सिद्धान्त' की अवास्तविक

---

2. For These points, See Haberler- The Theory of International Trade (1936), Ch. 10.

3. Samuelson P.A., Economics, 8th ed. 656.

मान्यताओं से मुक्त कर इसका पुनर्कथन किया जिसे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में 'अवसर लागत सिद्धान्त' के नाम से जाना जाता है।

## 10.6 सारांश (Summary)

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि एडम स्मिथ (Adam Smith) के सिद्धान्त को अपूर्णमानते हुए डेविड रिकार्डो (David Ricardo) ने 'तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त' प्रस्तुत किया। रिकार्डो ने सिद्धान्त का स्पष्टीकरण लागतों में तुलनात्मक अन्तर के आधार पर किया है। रिकार्डो ने सिद्धान्त का संख्यात्मक उदाहरण भी दिया हैं उदाहरण में व्यापार की दिशा निर्धारण, व्यापार की शर्तों की सीमाएँ व प्राप्त लाभ को शामिल किया है। रिकार्डो का यह सिद्धान्त अत्यधिक सरलीकृत सिद्धान्त है अत: इसमें कुछ कमियाँ हैं। इन कमियों को दूर करते हुए हेबरलर (Haberler) ने 1936 में अवसर लागत सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसमें उन्होंने अपेक्षाकृत अधिक वास्तविक मान्यताओं को आधार माना है।

## 10.7 शब्दावली (Glossary)

| | |
|---|---|
| लागतों में तुलनात्मक अन्तर | Comparative difference in Costs |
| व्यापार की दिशा | Directive of Trade |
| मूल्य का श्रम सिद्धान्त | Labour Theory of Value |
| व्यापार की शर्त | Terms of Trade |

## 10.8 सन्दर्भ ग्रन्थ (References)

Sodersten, B., International Economics; “The Macmillan Press Ltd, Latest Edition.”

Salvatore, D., SCHAUM, S OUTLINES, “International Economics, Fourth Edition.”

Swami, K.D., International Economics (Hindi), Edition- Scientific Publishers, Jodhpur, 2003

## 10.9 अभ्यासार्थ प्रश्न (Unit-end Questions)

1. रिकार्डो के तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की मान्यताएँ लिखिए।
2. रिकार्डो के लागतों में तुलनात्मक अन्तर के अभिप्राय को स्पष्ट कीजिए।
3. मूल्य के श्रम सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए।
4. रिकार्डो के सिद्धान्त का संख्यात्मक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए व्यापार की दिशा, व्यापार की शर्तों की सीमाएं व व्यापार से प्राप्त लाभ को समझाइये।
5. रिकार्डो के लगान सिद्धान्त की वास्तविक जीवन में अनुप्रयुक्तता को स्पष्ट कीजिए।
6. रिकार्डो के सिद्धान्त की आलोचनाओं की विवेचना कीजिए।

# इकाई -11

# विनिमय दर निर्धारण-स्वर्णमान, क्रयशक्ति समता सिद्धान्त (Exchange Rate Determination- Gold Standard, Purchasing Power Parity Theory)

**इकाई की रूपरेखा**

110 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 विनिमय दर से अभिप्राय
    11.2.1 स्वतंत्र रूप से प्रवाहित मुद्रा व विनिमय दर निर्धारण
    11.2.2 वस्तु कीमत निर्धारण व विनिमय दर निर्धारण के विश्लेषण में अन्तर
    11.2.3 विदेशी विनिमय के माँग व पूर्ति वक्र के पीछे की शक्तियाँ
11.3 स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर निर्धारण
    11.3.1 स्वर्ण आयात व निर्यात बिन्दु
11.4 अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा चलन के अन्तर्गत विनिमय दर निर्धारण (क्रयशक्ति समता सिद्धान्त)
    11.4.1 क्रयशक्ति समता सिद्धान्त का उद्‌गम
    11.4.2 क्रयशक्ति समता सिद्धान्त का निरपेक्ष व सापेक्ष रूप
    11.4.3 क्रयशक्ति समता सिद्धान्त की सीमाएँ
    11.4.4 क्रयशक्ति समता सिद्धान्त की आलोचना
    11.4.5 क्रयशक्ति समता सिद्धान्त की अनुप्रयुक्तता
11.5 सारांश
11.6 शब्दावली
11.7 सन्दर्भ ग्रन्थ
11.8 अभ्यासार्थ प्रशन

## 11.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप:

- विनिमय दर निर्धारण के बारे में विस्तारपूर्वक जानकारी प्राप्त कर सकेंगे;
- स्वतंत्र रूप से प्रवाहमान मुद्रा की विनिमय दर के निर्धारण को समझ सकेंगे;
- वस्तु कीमत निर्धारण एवं विदेशी विनिमय निर्धारण के विश्लेषण में अन्तर जान सकेंगे;
- विदेशी विनिमय के माँग व पूर्ति वक्र के पीछे की शक्तियों के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे;
- स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर निर्धारण व स्वर्ण आयात-निर्यात बिन्दुओं को भी समझ सकेंगे; एवं

- क्रयशक्ति सिद्धान्त को विस्तार पूर्वक समझ सकेंगे।

## 11.1 प्रस्तावना (Introduction)

प्रस्तुत इकाई में विनिमय दर निर्धारण के विषय में बताया गया है। इकाई के प्रारम्भ में विनिमय दर का अभिप्राय दिया गया है, तत्पश्चात् स्वतंत्र रूप से प्रवाहित मुद्रा में विनिमय दर निर्धारण समझाया गया है। वस्तु कीमत निर्धारण व विनिमय दर निर्धारण के विश्लेषण में अन्तर छ विदेशी विनिमय के माँग व पूर्ति वक्रों के पीछे की शक्तियों को समझाने का प्रयास किया है। स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर निर्धारण व स्वर्ण आयात-निर्यात बिन्दु को भी उदाहरण सहित स्पष्ट किया है। इकाई के अन्त में अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा मान के अन्तर्गत विनिमय दर निर्धारण को स्पष्ट किया गया है, जहाँ पर इस सिद्धान्त का उद्गम, निरपेक्ष व सापेक्ष रूप, सीमाएँ व आलोचनाएँ स्पष्ट की गई है।

## 11.2 विनिमय दर से अभिप्राय (Meaning of Exchange Rate)

विदेशी विनिमय दर से अभिप्राय उस अनुपात से है जिस अनुपात में एक राष्ट्र की मुद्रा का दूसरे राष्ट्र की मुद्रा के बदले विनिमय होता है। उदाहरणार्थ, यदि विनिमय दर 1$ = 12 रूपये है तो इस अनुपात को हम दो प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं।

1$ = 12 रूपये (भारत के लिए प्रत्यक्ष क्वोटेशन अथवा घरेलू मुद्रा क्वोटेशन)

अथवा $R_e$ 1 = 0.0833 $ (भारत के लिए अप्रत्यक्ष क्वोटेशन अथवा विदेशी मुद्रा क्वोटेशन)

स्पष्ट है कि विनिमय दर एक राष्ट्र की मुद्रा का दूसरे राष्ट्र की मुद्रा के रूप में मूलय है। अत: जिस प्रकार अन्य वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण उनकी माँग ब पूर्ति की शक्तियों द्वारा होता है उसी प्रकार स्वतंत्र विनिमय बाजार में किसी भी मुद्रा की विनिमय दर का निर्धारण भी विदेशी विनिमय की माँग व पूर्ति द्वारा होता है। **प्रो. हेबरलउ (Prof. Haberler) ने ठोक हों लिखा है कि "दो राष्ट्रों के मध्य भुगतान के साधनों (Means of Payments) के मध्य विनिमय दर, अन्य समस्त कीमतों की भांति, माँग व पूर्ति द्रारा निर्धारित होती है।"**

### 11.2.1 स्वतंत्र रूप से प्रवाहमान मुद्रा व विनिमय दर निर्धारण

### (Exchange Rate Determination of a Floating Currency)

चूँकि एक मुद्रा की पूर्ति दूसरी मुद्रा की माँग होती है, अत: घरेलू तथा विदेशी मुद्रा में से किसी एक को हम वस्तु मान सकते हैं तथा दूसरी को मुद्रा। रेखाचित्र 11.1 में विदेशी मुद्रा को वस्तु मान गया है तथा इसकी कीमत को घरेलू मुद्रा के रूप में व्यक्त किया गया है। रेखाचित्र में लम्बवत अक्ष पर विनिमय दर को प्रत्यक्ष क्वोटेशन के रूप में मापा गया है अर्थात् मुद्रा की एक इकाई के विनिमय में घरेलू मुद्रा की विनिमय होने वाली इकाइयों के रूप में विनिमय दर को व्यक्त किया गया है। चित्र 11.1 में क्षैतिज अक्ष पर विदेशी मुद्रा की माँग व पूर्ति मापी गई है जिसका प्रतिनिधित्व यहाँ डॉलर कर रहा है।

चित्र में यह दर्शाने हेतु कि एक प्रवाहमान मुद्रा की विनिमय दर किस तरह से निर्धारित होती है इसके लिए हमने भारत के विदेशी विनिमय बाजार का उदाहरण दिया है जिसके अन्तर्गत रूपये तथा डॉलर का विनिमय हो रहा है। हमने यह भी मान लिया है कि जहाँ तक भारत का प्रशन है, अमेरीकी

डॉलर समस्त विदेशी मुद्राओं का प्रतिनिधित्व कर रहा हैं। चित्र में माँग व पूर्ति वक्र डॉलर की रूपये के रूप में विभिन्न कीमतों पर क्रमश: माँग व पूर्ति दर्शाते हैं। इन वक्रों का ढाल सामान्य है, अर्थात् ज्यों-ज्यों डॉलर की रूपये के रूप में कीमत गिरती है, डीलर की माँग अधिक व पूर्ति की माँग कम हो जाती हैं चित्र में जहाँ माँग व पूर्ति वक्र एक दूसरे को काटते हैं वहाँ साम्य विनिमय दर निर्धारित होती हैं यदि माँग अथवा पूर्ति वक्र विवर्त (Shift) होते हैं तो साम्य विनिमय दर भी परिवर्तित होगी। चित्र में

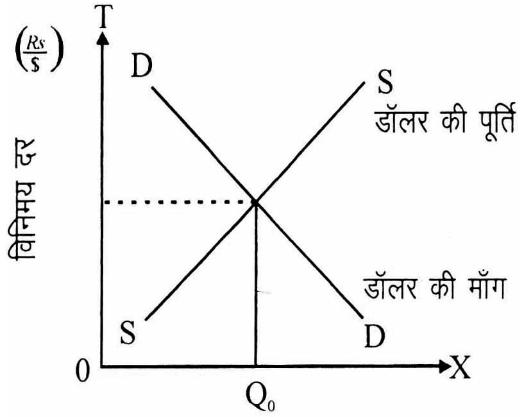

डॉलर की माँग व पूर्ति
रेखाचित्र 11.1

स्रोत: भारत में डॉलर के माँग व पूर्ति वक्र (Supply & Demand Curves for dollars in India)

लेकिन इस विश्लेषण में महत्वपूर्ण प्रशन यह उठता है कि चित्र में दर्शाये गये माँग व पूर्ति वक्रों की जनक शक्तियाँ कौन-सी है? क्योंकि विदेशी मुद्राएँ वस्तुएँ नहीं होती।

### 11.2.2 वस्तु कीमत निर्धारण व विनिमय दर निर्धारण के विश्लेषण में अन्तर

### (Difference Between Commodity Price Determination and Exchange Rate Determination)

उपर्युक्त विश्लेषण से हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि वस्तु कीमत निर्धारण व विनिमय दर निर्धारण का विश्लेषण एक ही है। दोनों प्रकार के विश्लेषण में निम्नांकित मूलभूत अन्तर है.

उपभोक्ता द्वारा किसी वस्तु की माँग उसके सन्तोष के स्तर में वृद्धि करने हेतु उपभोग के लिए की जाती है तथा उसकी पूर्ति उत्पादक-साधनों को प्रयुक्त करके उत्पादकों द्वारा की जाती है। इसके विपरीत विदेशी मुद्राओं की माँग स्वयं विदेशी मुद्रा के लिए नहीं की जाती तथा न ही विदेशी मुद्रा का निर्माण वस्तुओं की भांति किया जाता है। वास्तव में विदेशी विनिमय की माँग व्युत्पन्न माँग है जो वस्तुओं व सेवाओं के आयात करने के लिए की जाती है।

इसी प्रकार वस्तु बाजारों के ठीक विपरीत विदेशी विनिमय बाजार ने पूर्ति-कर्त्ताओं व माँग-कर्त्ताओं

---

1. Haberler, G.V., The Theory of International Trade, P.19

में निश्चय ही कोई अन्तर नहीं होता। मात्र अन्तर यह होता है कि वर्तमान में हमारे पास कौन-सी मुद्रा की हमें आवश्यकता है अन्यथा तो माँग व पूर्ति कर्त्ताओं के व्यवहार की जाँच एक ही तरह से की जाती है।

### 11.2.3 विदेशी विनिमय के माँग व पूर्ति वक्र के पीछे की शक्तियाँ

हमारे उदाहरण में विदेशी डॉलर की माँग भारत के नागरिकों द्वारा विदेशी वस्तुओं, भ्रमण व अन्य विदेशी सेवाएँ क्रय करने हेतु अथवा विदेशों में निवेश करने हेतु अथवा अन्य उद्देश्य हेतु पूँजी के हस्तान्तरण हेतु की जाती हैं। ये समस्त मद भारत के भुगतान संतुलन की देनदारी पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। दूसरे शब्दों में हम इससे भारत के भुगतान संतुलन की देनदारी (Debit) पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। दूसरी तरफ विदेशी मुद्राओं की पूर्ति का उदय वस्तुओं तथा सेवाओं के निर्यातों तथा विदेशी पूँजी के अन्तरवाहों से होता है। ये प्रविष्टियाँ भारत के भुगतान संतुलन के लेनदारी पक्ष का प्रतिनिधित्व करती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि चित्र में माँग वक्र भारत की डॉलर देनदारियों का प्रतिनिधित्व करता है तथा पूर्ति वक्र भारत की डॉलर लेनदारियों का प्रतिनिधित्व करता है। चूँकि साम्य विनिमय दर उस बिन्दु पर निर्धारित होती है जहाँ विदेशी विनिमय दर के माँग व पूर्ति वक्र एक दूसरे को काटते हैं अत: साम्य विनिमय दर पर भारत की विदेशी विनिमय की लेनदारियाँ तथा देनदारियाँ समान होती हैं।

## 11.3 स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर निर्धारण (Exchange Rate Determination under Gold Standard)

जब कोई राष्ट्र स्वर्णमान अपनाता है तो उसकी मुद्रा का स्वर्ण से एक निश्चित अनुपात बना रहता है। ऐसे राष्ट्र में प्रचलित मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन स्वर्ण कोषों में परिवर्तन करके ही किया जा सकता है एवं मुद्रा स्वर्ण में परिवर्तनीय बनी रहती है। अत: स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर के निर्धारण का आधार दोनों राष्ट्र की मुद्राओं में निहित स्वर्ण की मात्रा होती है। उदाहरणार्थ, सन् 1914 से पूर्व एक पौण्ड में 113:0016 ग्रेन विशुद्ध स्वर्ण की मात्रा थी जबकि डॉलर में विशुद्ध स्वर्ण की मात्रा 23.22 ग्रेन थी। इस प्रकार दोनों राष्ट्रों की मुद्राओं में स्वर्ण की मात्रा (Gold Contents) के आधार पर विनिमय दर 1 पौण्ड न= 4.866 डॉलर थी क्योंकि पौण्ड का स्वर्ण मूल्य डॉलर से ठीक 4.866 गुणा अधिक था।

दो राष्ट्रों की मुद्राओं में निहित स्वर्ण-मात्राओं के आधार पर इस प्रकार निर्धारित आधारभूत विनिमय दर को टंक समता (Mint Par) के नाम से जाना जाता है।

ध्यान रहे कि स्वर्णमान वाले राष्ट्रों में स्वर्ण चलनमान हो अथवा स्वर्ण विनिमय मान (अर्थात् ऐसी पत्र मुद्रा चलन में हो जिसका स्वर्ण में मूल्य निर्धारित कर दिया गया हो।) विनिमय दर निर्धारण की विधि यथावत् ही रहती है। अत: स्वर्णमान के अन्तर्गत दोनों राष्ट्रों की मुद्राओं की स्वर्ण तुल्यता का अनुपात ही उनकी टंक समता होती है तथा यही विनिमय दर निर्धारण का आधार होता है।

स्वर्णमान के अन्तर्गत भी विनिमय दर में उच्चावचन होते रहते थे लेकिन ये उच्चावचन अति संकीर्ण सीमाओं के अन्तर्गत ही हो सकते थे तथा ये सीमाएँ अमेरिका से इंग्लैण्ड स्वर्ण हस्तान्तरित करने की लागत द्वारा निर्धारित स्वर्ण बिन्दुओं पर निर्भर करती थीं।

मान लीजिए कि अमेरीका में 1/10 औंस स्वर्ण की कीमत 2$ निर्धारित की दी जाती है तथा इंग्लैण्ड में 1/10 औंस स्वर्ण की कीमत 1 पौण्ड निर्धारित की जाती है तो टंक समता के आधार पर विनिमय दर 1 पाउण्ड = 2 डॉलर निर्धारित होगी। यह भी मान लीजिए कि 1/10 औंस स्वर्ण को अमेरीका से इंग्लैण्ड भेजने की लागत 2 सेन्ट (Cent) लगती है तो इस स्थिति में डॉलर तथा पौंड की आपसी विनिमय दर 1.98 डीलर तथा 2.02 डॉलर के मध्य ही परिवर्तित हो सकती है।

$$£1= \left\{ \frac{\$2.02(\text{जो कि U.K.का स्वर्ण आयात बिन्दु है})}{\$1.98(\text{जो कि U.K.का स्वर्ण–निर्यात बिन्दु है})} \right.$$

स्वर्णमान के अन्तर्गत 1 पौंड का मूल्य इन दो सीमाओं से बाहर नहीं जा सकता था। इस तथ्य को निम्नांकित उदाहरण की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है:

मान लीजिए कि किसी विदेशी विनिमय बाजार में एक पौंड की कीमत मात्र 1.50 डॉलर हो जाती है तो ऐसी स्थिति में एक अमेरीकी को 1.50 डॉलर के बदले 1 पौंड ले लेना चाहिए तथा इंग्लैण्ड के बैंक से 1/10 औंस सोना क्रय कर सोना अमेरीका भेज देना चाहिए तथा वह सोना अमेरीका के कोष (ट्रेजरी) में जमा करवाकर उसके बदले 2 डॉलर ले लेना चाहिए। ऐसा करने से उसे 48 सेन्ट का लाभ मिलेगा (50 सेन्ट - 2 सेन्ट सोना भेजने की लागत)। ऐसा करके वह नागरिक पौंड की माँग में वृद्धि करेगा तथा पूर्ति में जिससे पौंड का मूल्य बढ़ेगा। ये प्रक्रिया उस समय तक जारी रहेगी जब तक उसको लाभ मिलता रहता है अथवा जब तक पौंड का मूल्य बढ़कर 1.98 डॉलर होता है जिससे कि दोनों बाजारों में स्वर्ण की कीमत का अन्तर सोने की हस्तान्तरण लागत के बराबर हो जाता है। वास्तविकता तो ये है कि पौंड की कीमत जब भी 1.98 डॉलर से कम होगी तो लन्दन से न्यूयॉर्क स्वर्ण भेजने की प्रक्रिया चालू हो जायेगी।

इसके विपरीत पौंड का अधिकतम मूल्य 2.02 डॉलर तक जा सकता है क्योंकि इससे अधिक मूल्य के होने की स्थिति में न्यूयॉर्क से लन्दन को स्वर्ण का प्रवाह प्रारम्भ हो जाएगा। इस बिन्दु को समझने हेतु मान लीजिए कि कोई ऐसा अजीबोगरीब बाजार विकसित हो जाता है तो ऐसी स्थिति में अंग्रेज नागरिक को 1 पौंड के बदले 3 डॉलर लेकर उससे 0.15 औंस सोना अमेरीका के कोष से खरीदकर उसे यू.के. (U.K.) भेजने तथा वहाँ बैंक ऑफ इंग्लैण्ड से 1.5 पौंड विनिमय में प्राप्त करने से लाभ होगा। इस तरह से लाभ अर्जित करके वह अंग्रेज पौंड की पूर्ति बढ़ायेगा तथा डॉलर की नहीं जिसके परिणामस्वरूप डॉलर के रूप में पौंड का मूल्य गिरेगा। यह प्रक्रिया उस समय तक जारी रहेगी जब तक कि 1 पौंड का मूल्य 2.02 डॉलर के बराबर नहीं हो जाता है तथा स्वर्ण हस्तान्तरण से लाभ मिलने का अवसर समाप्त नहीं हो जाता है (चूँकि स्वर्ण हस्तान्तरण की लागत 2 सेन्ट है)। इसी बात को निम्नांकित रेखाचित्र 11.2 से भली-भांति स्पष्ट कर सकते है:-

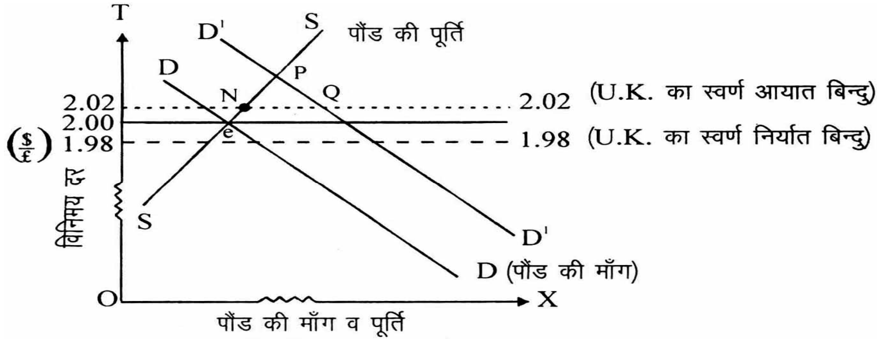

रेखाचित्र 11.2

रेखाचित्र 11.2 में प्रारम्भिक साम्य बिन्दु e है क्योंकि इस बिन्दु पर पौंड की माँग व पूर्ति बराबर है अत: £1= \$2$^{.0}$ साम्य विनिमय दर है जिसे हम टंक समता (Mint Par) कहते हैं। अब मान लीजिए कि माँग वक्र में भारी विवर्ती (Shift) होकर नया मांग वक्र $D^1 D^1$ हो जाता है तो विनिमय दर स्वर्ण आयात बिन्दु तक पहुँच जाती है लेकिन ये इससे ऊपर नहीं जा सकती है क्योंकि इससे ऊपर जाने पर व्यापारी स्वर्ण का आयात करने पर तत्पर रहेंगे। स्वर्ण आयात रेखा पर दिखाये गये NQ अन्तराल के बराबर आयात होंगे। अत: स्पष्ट है कि विनिमय दर स्वर्ण आयात बिन्दु से ऊपर नही जा सकती।

उपर्युक्त विश्लेषण में हमने स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर निर्धारण की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है लेकिन यदि सम्बद्ध राष्ट्रों में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा चलन में हो तो उनकी मुद्राओं के मध्य विनिमय दर दोनों राष्ट्रों की मुद्राओं की क्रय शक्ति द्वारा निर्धारित होती है। इस प्रक्रिया का अध्ययन हम आगे 'क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त' शीर्षक के अन्तर्गत करेंगे।

## 11.4 अपरिवर्तनीय पत्र - मुद्रा चलन के अन्तर्गत विनिमय दर निर्धारण क्रयशक्ति समता सिद्धान्त) (Purchasing- Power- Parity Theory)

### 11.4.1 क्रय- शक्ति समता सिद्धान्त का उद्गम

**(Origins of the Purchasing- Power- Theory)**

क्रय-शक्ति-समता पद का उद्गम कैसल (Cassel) के सन् 1918 के लेख में हुआ था[2] लेकिन कैसल ने इससे पूर्व सन् 1916 में क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त को ' सैद्धान्तिक विनिमय दर ' शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तुत किया था। यद्यपि अधिकांश अर्थशास्त्री कैसल को क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त का प्रतिपादक मानते हैं लेकिन कुछ लोगों का विचार है कि सन् 1797 से 1821 की अवधि में लिखने वाले अंग्रेज अर्थशास्त्री इस सिद्धान्त के प्रतिपादक थे। इन विचारकों के अनुसार अंग्रेज अर्थशास्त्री वीटले (Wheatley) ने सन् 1803 में सर्वप्रथम PPP सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। अन्य विचारकों का मत है कि इस सिद्धान्त का जन्म इससे भी पूर्व हुआ था। ब्रिसमेन[3] (Brisman) का दावा है कि बैंक प्रतिबन्ध अवधि से 20 वर्ष पूर्व यम सिद्धान्त सर्वप्रथम स्वीडन में प्रकट हुआ। ऐजिंग[4] (Einzig) के अनुसार 16 वीं तथा 17 वीं शताब्दियों में स्पैनिश ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

फिर भी कैसल हो ऐसे प्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होंने PPP सिद्धान्त को एक सुव्यवस्थित ढांचे में ढाला जिससे यह सिद्धान्त संग्रामिक (Operational) सिद्धान्त बना। प्रो. वाइनर (Viner) ने ध्यान दिलाया कि कैसल ही ऐसे प्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होंने इस सिद्धान्त को सांख्यिकी औसतों के रूप में व्यक्त किया।[5] कैसल ने न केवल PPP सिद्धान्त को संग्रामिक सिद्धान्त ही बनाया अपितु ये ही ऐसे प्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होंने इस सिद्धान्त को आनुभाविक कसौटी पर कसा तथा कैसल ही PPP सिद्धान्त के सर्वाधिक सक्रिय प्रतिपादक थे। सर्वाधिक प्रभावित करने वाली बात तो यह है कि कैसल का PPP सिद्धान्तिक विश्लेषण तथा आनुभाविक जाँच बाद की अवधि (वर्तमान अवधि सहित) की जाँच से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। अत: कैसल के योगदान को ही PPP सिद्धान्त का प्रथम विश्लेषण व अनुप्रयुक्ति मानी जानी चाहिए।

### 11.4.2 क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त का निरपेक्ष व सापेक्ष रूप

### (Absolute and Relative Version of PPP Theory)

दो राष्ट्रों के मध्य PPP को या तो हम उन राष्ट्रों के कीमत स्तरों के अनुपात (निरपेक्ष क्रय शक्ति समता) के रूप में अथवा आधार वर्ष की विनिमय दर तथा राष्ट्रों के कीमत सूचकांकों के अनुपात के गुणनफल (सापेक्ष क्रय-शक्ति समता) के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। माना कि A व B दो राष्ट्र हैं, t चालू समयावधि है, तो परिभाषानुसार :

$$PPP_t^{abs} = \frac{PL_t^B}{PL_t} \quad \text{और} \quad PPP_t^{reL} = \frac{P_t^B}{P_t^A} R_O$$

यहाँ, $PL_{ij}$ = i राष्ट्र में j वर्ष में कीमत स्तर

$P_{ij}$ = O’ आधार वर्ष का i राष्ट्र में j वर्ष में कीमत सूचकांक

$PPP_j^{abs}$ = j वर्ष में निरपेक्ष क्रय-शक्ति समता (A राष्ट्र की मुद्रा की एक इकाई के बदले B राष्ट्र की मुद्रा की विनिमय होने वाली इकाईयां)

$PPP_j^{rel}$ = j वर्ष में सापेक्ष क्रय-शक्ति समता (A राष्ट्र की मुद्रा की एक इकाई के बदले B राष्ट्र की मुद्रा की विनिमय होने वाली इकाइयां)

$R_j$ = j वर्ष वास्तविक विनिमय दर (A राष्ट्र की मुद्रा की एक इकाई के बदले B राष्ट्र की विनिमय होने वाली इकाइयां)

उदाहरणार्थ - यदि दिए हुए वर्ष में भारत (B) में दी हुई वस्तुओं व सेवाओं के समूह (Bundle) का मूल्य 100 रूपये है तथा अमेरिका में वस्तुओं व सेवाओं के इसी समूह का मूल 10 डॉलर है, तो÷

$$PPP^{rel} = \frac{PL^B{}_t}{PL^A{}_t} = \frac{100}{10} = \text{Rs.}10$$

अर्थात् एक अमेरिकन डॉलर के बदले भारतीय रूपये की 10 इकाइयों का विनिमय होगा। इसी प्रकार यदि सन् 1970 को आधार वर्ष मान लेने पर सन् 1985 में भारत (B) का कीमत सूचकांक 300 हो जाय तथा अमेरिका (A) का 200 ब आधार वर्ष (197O) में विनिमय दर 1$=Rs. 7.5० है तो ÷

$$PPP^{rel} = \frac{P_t^B}{P_t^A} R_0 = \frac{300}{200} \times 7.50 = \text{Rs. } 11.25$$

---

2. Cassel, Gustav- Abnormal Peviation in International Exchange- Economic Journal (Dec., 1918) Pp. 413-15.

3.Brisman, S.- Some Reflections on the Theory of Foreign Exchange in Economic Essay in honour of Gaustar Cassel (London 1933) pp 69-74

4. Einzig. Paul- The History of Foreign Exchange, (London 1970 pp 145-46

5. Viner, J. - Studies in the Theory of International Trade- PP. 379- 80

अर्थात् PPP के अनुसार सन् 1985 में विनिमय दर 1$ =11.25 हो जायेगी।

### 11.4.3 क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त की सीमाएँ (Cassel, s Recognized Limitations of PPP Theory)

कैसल द्वारा PPP सिद्धान्त की स्वीकृत सीमाएँ इस सिद्धान्त का अभिन्न अंग है। ये मान्यताएँ व अपवाद कैसल के PPP से सम्बन्धित लेखों में स्थान-स्थान पर प्रस्तुत किये गये हैं। कैसल के लेखों के आधार पर एक स्वतंत्र रूप से निर्धारित विनिमय दर के PPP में भिन्न होने के निम्न कारण हो सकते हैं:

(1) आयात-निर्यात प्रतिबन्ध एक दिशा में अधिक कडे हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि राष्ट्र के निर्यातों की तुलना में आयातों पर अधिक कड़े प्रतिबन्ध हैं तो राष्ट्र की मुद्रा का विनिमय मूल्य PPP से अधिक हो सकता है।

(2) विदेशी विनिमय बाजार में सट्टा राष्ट्र विशेष की मुद्रा के विरूद्ध हो सकता है। अत: इस राष्ट्र की मुद्रा का विनिमय मूल्य PPP से नीचा बना रह सकता है।

(3) विदेशों की तुलना में राष्ट्र विशेष में अधिक मुद्रा स्फीति के कारण इस राष्ट्र की मुद्रा का विनिमय मूल्य से PPP कम हो सकता है।

(4) अर्थव्यवस्था में सापेक्ष कीमतों के परिवर्तन आधार वर्ष की तुलना में वास्तविक परिवर्तनों को इंगित करते हैं। अत: इनके कारण सापेक्ष PPP व विनिमय दर में अन्तर विद्यमान सह सकते हैं।

(5) दीर्घकालीन पूँजी के चलन के कारण विनिमय दर PPP से परे चलन कर सकती है। उदाहरणार्थ - दीर्घकालीन पूँजी के विशुद्ध बर्हिगमन (Outflow) से राष्ट्र विशेष की मुद्रा की विनिमय दर PPP से नीची बनी रह सकती हैं।

(6) राष्ट्र विशेष की सरकार विदेशी विनिमय बाजार में हस्तक्षेप करके विदेशी विनिमय कीमत की परवाह किये बिना, विदेशी विनिमय की निश्चित मात्रा की माँग करके इसके मूल्य को ppp से ऊँचा बनाये रख सकती है।

### 11.4.4 क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त को आलोचना (Criticisms of the PPP Theory)

PPP की गणना में कुछ समस्याएँ सांख्यिकी की है जिनका सम्बन्ध प्रमुखतया समता की गणना करने की विधि से है। पीगू (Pigou) ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि वास्तविक कीमत सूचक की गणना अर्थव्यवस्था में उपलब्ध समस्त वस्तुओं के निदर्शन (Sample) की कीमतों के आधार पर की जाती है। अत: कोई भी संगणित (Computed) कीमत वास्तविक सैद्धान्तिक समता का केवल अपूर्ण प्रतिनिधित्व कर सकती है।

एक अन्य दुविधा यह है कि यदि सूचकांकों के निर्माण हेतु समस्त वस्तुओं की कीमतें भी ले ली जाए तो भी समता का मूल्य इस बात पर निर्भर करेगा कि किस प्रकार का कीमत स्तर (अथवा कीमत सूचकांक) उपयोग में लिया गया है। जैसा कि प्रो. बानेक' (Vanek) ने ध्यान दिलाया है कि इस दुविधा का अपवाद तभी सम्भव है जब (1) दी हुई वस्तु की एक राष्ट्र में कीमत से इसकी दूसरे

राष्ट्र में कीमत का अनुपात सभी वस्तुओं के लिए एक समान हो, तथा (2) प्रत्येक राष्ट्र की कीमत माप की गणना करने हेतु एक जैसी (Identical) भार संरचना का उपयोग किया जाय।

यदि कीमत माप में केवल व्यापार में शामिल वस्तुओं की कीमतें शामिल की जाय तथा इन वस्तुओं का लागत विहीन अन्तरराष्ट्रीय अन्तरपणन (Arbitrage) होता तो (व्यापार प्रतिबन्ध व परिवहन लागतें शून्य हों तथा अन्तरपणन प्रक्रिया में अपूर्णताएँ न हो) राष्ट्रों के कीमत स्तरों (अथवा कीमत सूचकांको) की भिन्न पारित प्रणालियाँ सामान्यतया भिन्न समताएँ प्रदान करेंगी जिनमें से कोई भी समता उस 'वास्तविक समता' (अर्थात चालू विनिमय दरों) के बराबर नहीं होगी जो समस्त वस्तुओं की कीमतों को अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर समान कर देती है अर्थात् ऊपर दी गई शर्तों में से शर्त (1) तो पूरी हो जाती है लेकिन शर्त (2) पूरी नहीं होती है।

केन्ज[8] ने सर्वप्रथम इंगित किया कि व्यापार में शामिल वस्तुओं की कीमतों से संगणित क्रय-शक्ति समता स्वयंसिद्ध सत्य (Truism) है। अत: थोक मूल्य सूचकांक PPP की संगणना का कमजोर आधार है। केन्ज ने इसका कारण यह बतलाया है कि इस प्रकार के सूचकांक व्यापार में शामिल वस्तुओं के भार से अत्यधिक भारित होते हैं। अत: इन सूचकांकों से संगणित सापेक्ष कीमत समताएँ वास्तविक विनिमय दर के करीब होंगी। इसलिए सिद्धान्त का मिथ्या सत्यापन (Spurious Verification) हो जाता है।

प्रशुल्क एवं परिवहन लागतों के अस्तित्व से अल्पकालीन साम्य विनिमय दर PPP के मध्य विचलन उत्पन्न हो सकता है तथा इस विचलन की मात्रा का इस अपूर्णताओं की कठोरता (Severity) से सीधा सम्बन्ध होता है।

PPP सिद्धान्त केवल कीमतों की भूमिका पर जोर देता है जबकि आय की परिवर्तन भी सम्बद्ध है। इस सन्दर्भ में प्रो. यीगर[9] (Yeager) ने इंगित किया है कि आय शक्तियों के कारण PPP से विचलन कीमत-निर्धारित व्यापार प्रवाहों को उत्पन्न करेंगे जिससे ये विचलन घटेंगे। आगे यीगर ने ध्यान दिलाया कि व्यापार चक्र की अवधि में कीमतों के चलन में आय के चलन के अनुरूप होने की प्रवृत्ति होती है।

PPP सिद्धान्त की आधारभूत कमी यह है कि इसमें भुगतान संतुलन के गैर चालू (Non-Current) मदों की और ध्यान नहीं दिया गया है लेकिन जैसा कि पूर्व में कैसल के सिद्धान्त की सीमाओं में इंगित किया जा चुका है कि कैसल ने स्वयं अल्पकालीन सान्द्र विनिमय दर के निर्धारक तत्वों में अल्पकालीन सट्टे व दीर्घकालीन पूँजी के चलन की भूमिका को स्वीकार किया है। वास्तविकता तो ये है कि दीर्घकालीन पूँजी प्रवाहों का PPP पर प्रभाव इस बात पर निर्भर करेगा कि सम्बन्ध प्रवाह अधिक मात्रा में है अथवा कम मात्रा में एवं ये प्रवाह निरन्तर बने रहने वाले है अथवा नहीं। एक भिन्न प्रकार की आलोचना यह है कि PPP सिद्धान्त मे कीमत स्तरों को तो कारणात्मक चर (Causal Variable)

---

6. Pigou, A.C. The Foreign Exchanges- Quarterly Journal of Economics, Now, 1922. PP. 52-74.

7. Vanek, J. International Trade: Theory and Economic Policy (Homewood Illinious, 1962) P. 84.

8. Keynes, J.M. - A treatise on Money, Vol. - (London, 1930), PP. 72-74.

तथा विनिमय दर को निर्धारित चर माना गया है जबकि विनिमय दरों के परिवर्तन भी कीमत स्तरों में परिवर्तन उत्पन्न करते हैं।

प्रो. ऑफिसर (Officer) ने इंगित किया है कि विनिमय दरों के कीमत स्तरों पर प्रभाव सामान्यतया अल्पकालीन प्रकृति के होते हैं जबकि क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि कीमत स्तर साम्य विनिमय दर का दीर्घकालीन निर्धारक है।

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त की अन्य आलोचना व्यापार में शामिल न होने वाली वस्तुओं की कीमतों को PPP की गणना में शामिल करने से सम्बन्धित है। सामान्यतया यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि व्यापार में शामिल न होने वाली वस्तुओं की कीमतें भुगतान-संतुलन के साम्य से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि प्रो. सेम्यूलसन (Samuelson) ने लिखा है- 'स्पष्ट ही, मैं इटली के सस्ते हेयरकट्स (Haircuts) आयात नहीं कर सकता और न ही नियागरा फाल्स (Nigara falls) की सुहागरातों का निर्यात किया जा सकता। ' अर्थात ऐसी चीजे जो व्यापार में कभी शामिल नहीं होगी उनकी कीमतों को PPP गणना में शामिल करना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता है।

सापेक्ष समता की गणना में आधार वर्ष के चुनाव की समस्या है जो कि निरपेक्ष समता की गणना में उत्पन्न नहीं होती। वास्तव में उपयुक्त आधार वर्ष चुनने की कठिनाई इतनी गम्मीर है कि इसके कारण यह सिद्धान्त उपयोगी नहीं रह जाता है।

आदर्श रूप में आधार वर्ष की विनिमय दर दीर्घकालीन साम्य होनी चाहिए लेकिन जब तक विनिमय दर आधार वर्ष में स्वतंत्र रूप से प्रवाहमान (Free Floating) नहीं हो तब तक यह भी निश्चित नहीं हो पाता कि विनिमय दर अल्पकालीन साम्य में थी भी अथवा नहीं। इसके अतिरिक्त यदि विनिमय दर स्वतंत्र रूप से प्रवाहमान भी हो तब भी यह अस्थाई घटकों (जैसे-अल्पकालीन पूँजी के प्रवाहों) के कारण साम्य विनिमय दर से भिन्न हो सकती है।

### 11.4.5 क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त की अनुप्रयुक्तता (Inapplicability of PPP Theory)

PPP सिद्धान्त के अधिकांश आलोचक इस सिद्धान्त की आलोचनाओं के आधार पर इसे पूर्णतया अस्वीकार नहीं कर सकते हैं। वे सिद्धान्त की "अवशिष्ट अनुप्रयुक्तता” को स्वीकार करते हुए इन आलोचनाओं के बावजूद इस सिद्धान्त की अनुप्रयुक्ति की विस्तार सीमा इंगित करते हैं।

प्रो. हेबरलर (Haberler) ने तीन ऐसी स्थितियाँ इंगित की है जिनमें PPP सिद्धान्त की अनुप्रयुक्ति सम्मव हैं.

(1) **सामान्य परिस्थितियाँ** (Normal Circumstances) सामान्य परिस्थितियों में PPP सिद्धान्त सन्निकट रूप (Approximate Fashion) में इस दृष्टिकोंण से लागू होता है 'कि हमें शायद ही ऐसी स्थिति देखने को मिले जिसमें वास्तविक विनिमय दर क्रय-शक्ति समता से 15-20 प्रतिशत से अधिक भिन्न हो।

(2) **कीमतों में भारी परिवर्तनों को स्थिति में** (When General Price Movements dominate Changes in Relative Prices) जब सामान्य कीमत चलन सापेक्ष के परिवर्तनों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं तो सापेक्ष PPP उपयोगी अवधारणा है।

---

9. Yeager, L.B.- A Rehabilitation of PPP- (J.P.E.- Dec., 1958) PP. 72-74

10. Officer, L.H.- OP. Cit, (1976), P.17.

प्रो. हेबरलर के अनुसार 'यदि अन्य प्रमाणों के साथ सतर्कतापूर्वक उपयोग किया जाय तो PPP गणनाओं का महत्वपूर्ण नैदानिक मूल (Diagnostic Value) है विशेषकर भारी मुद्रा स्फीति की अवधि में।

(3) **व्यापार सम्बन्ध विछिन्न हो जाने को स्थिति में** (When Trade Relations between Countries have been Interrupted) उस स्थिति में जब राष्ट्रों के मध्य व्यापार सम्बन्ध विच्छिन्न हो चुके हों (उदाहरणार्थ- युद्ध के कारण) अथवा राष्ट्रों के मध्य व्यापार वस्तु-विनिमय अथवा सरकार से सरकार के आधार पर होने लगा तो PPP एक ऐसी साम्य विनिमय दर इंगित करेगी जो कि सामान्य व्यापार सम्बन्ध होने पर लागू की जानी चाहिए।

## 11.5 सारांश (Summary)

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि कैसल का सिद्धान्त समय की कसौटी पर खरा उतरा है। इस सिद्धान्त का अधिक जटिल (Sophisticated) रूप में विकसित नहीं होना इसकी खूबी मानी जानी चाहिए। PPP सिद्धान्त का प्रमुख गुण यह है कि इसके आधार पर साम्य विनिमय दर की गणनाएँ एक 'लिफाफे के पिछले हिस्से' पर बिना जटिल अर्थमिति (Econometric) व गणितीय तकनीक की अनुप्रयुक्ति से की जा सकती है। ये सरल गणनाएँ उन शक्तिशाली मॉडल्स की जाँच करने के लिए प्रयुक्त की जा सकती है जिनमें विनिमय दरों के परिवर्तनों अथवा साम्य विनिमय दरों की भविष्यवाणी करने के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है। PPP सिद्धान्त तैरती हुई विनिमय दरों की भविष्यवाणी करने के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है। इस उद्देश्य के लिए हमें केवल कीमत सूचकांकों की आवश्यकता होती है तथा इन कीमत सूचकांकों की भविष्यवाणी विद्यमान मॉडल्स की सहायता से की जा सकती है।

## 11.6 शब्दावली (Glossary)

| | |
|---|---|
| विनिमय दर | Exchange Rate |
| प्रवाहमान विनिमय दर प्रणाली | Floating Exchange Rate System |
| टंक समता सिद्धान्त | Mint-par Parity Theory |
| स्वर्णमान | Gold Standard |
| स्वर्ण आयात बिन्दु | Gold Import Point |
| स्वर्ण निर्यात बिन्दु | Gold Import Point |
| क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त | Purchasing Power Parity Theory |
| क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त का निरपेक्ष रूप | Absolute Form of Purchasing Power Parity Theory |
| क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त का सापेक्ष रूप | Relative From of Purchasing, Power parity Theory |

---

Haberler, G.V.- OP. Cit; (1861), P.50

## 11.7 सन्दर्भ ग्रन्थ (References)

Pugel, T.A., “International Economics”, 13th ed., Tata Mc. Graw Hill Publishing Co. Ltd., 2008.

Kreinin, M.E., “International Economics”, 9th ed. South- Western, Thomson, Learning, 2002.

Swami, K.D., “International Economics”, Hindi ed., Scientific Publishers, Jodhpur, 2003.

## 11.8 अभ्यासार्थ प्रशन (Unit-end Questions)

1. विनिमय दर से क्या अभिप्राय है?
2. स्वतंत्र रूप से प्रवाहमान मुद्रा प्रणाली के अन्तर्गत विनिमय दर निर्धारण स्पष्ट कीजिए।
3. वस्तु कीमत निर्धारण व विनिमय दर निर्धारण के विश्लेषण में अन्तर को समझाइए।
4. स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर निर्धारण की प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।
5. ‘टंक समता’ से क्या आशय है?
6. क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त को विस्तारपूर्वक समझाइए।
7. क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त की आलोचनाओं की व्याख्या कीजिए।
8. क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त की अनुप्रयुक्तता समझाइए।

## इकाई - 12

# सार्वजनिक वित्त-अर्थ सार्वजनिक एवं निजी वित्त अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त

# (Public Finance- Meaning, Public Finance and Private Finance, Principle of Maximum Social Advantage)

**इकाई की रूपरेखा**

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 सार्वजनिक वित्त का अर्थ
    12.2.1 सार्वजनिक वित्त की परिभाषाएँ
12.3 सार्वजनिक वित्त एवं निजी वित्त की तुलना
    12.3.1 सार्वजनिक वित्त एवं निजी वित्त में समानताएं
    12.3.2 सार्वजनिक वित्त एवं निजी वित्त में अन्तर
12.4 अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त
    12.4.1 परिभाषा
    12.4.2 मान्यताएँ
    12.4.3 अधिकतम सामाजिक लाभ की व्याख्या
12.5 अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त का महत्व
12.6 सिद्धान्त की सीमाएँ
12.7 सारांश
12.8 शब्दावली
12.9 संदर्भ ग्रन्थ
12.10 अभ्यासार्थ प्रशन

## 12.0 उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात ही आप समझ सकेंगे कि :

- सार्वजनिक वित्त से क्या आशय है?
- सार्वजनिक वित्त तथा निजी वित्त में क्या अन्तर है?
- अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त आर्थिक संसाधनों का संग्रहण एवं उनके विवेकपूर्ण उपयोग का किस प्रकार व्यावहारिक हल प्रस्तुत करता है?

## 12.1 प्रस्तावना (Introduction)

विश्व में प्रत्येक अर्थव्यवस्था चाहे उसका स्वरूप पूँजीवाद हो या समाजवाद अथवा मिश्रित, जिसका एक आधारभूत तथ्य यह है कि यह सदैव संसाधनों के अभाव से ग्रसित रहती है। हर अर्थव्यवस्था में साधन सीमित होते हैं और आवश्यकताएँ अनन्त, जिसे आर्थिक समस्या कहा जाता है। यह एक ऐसी समस्या हैं जिससे कोई राष्ट्र चाहते हुए भी मुक्ति नहीं पा सकता। इस समस्या के समाधान हेतु प्रयुक्त अथाह प्रयत्नों के बावजूद पुरानी आवश्यकताएँ तो बार-बार उभरती रहती हैं ही, लगातार नवीन आवश्यकताओं की उत्पत्ति भी होती रहती है। इस प्रकार प्रत्येक अर्थव्यवस्था को यह मंथन करना होता है कि सीमित साधनों का प्रयोग करते हुए प्राथमिकता के आधार पर किन आवश्यकताओं की पूर्ति की जाए तथा किन आवश्यकताओं को छोड़ दिया जाए, संसाधनों को किस प्रकार बढ़ाया जाए तथा किस प्रकार उनके अपव्यय को रोका जाए।

वर्तमान समय में आर्थिक संसाधनों को संग्रहण तथा विवेकपूर्ण उपयोग एक महत्वपूर्ण समस्या है। किस प्रकार करों से अधिकतम राशि जनता से एकत्रित की जाए तथा प्राप्त राशि का किस प्रकार विवेकपूर्ण उपयोग हो ताकि अधिकतम सामाजिक कल्याण के लक्ष्य की प्राप्ति हो सके। इस प्रकार के प्रश्नों तथा उनके सम्भावित उत्तरों का विचार-क्षेत्र ही सार्वजनिक वित्त की विषम सामग्री है। आज आर्थिक क्रियाओं में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राज्य की भूमिका के बढने के साथ-साथ सार्वजनिक वित्त का क्षेत्र भी व्यापक होता जा रहा है। इसलिए इस विषय के अध्ययन की भी ज्यादा आवश्यकता है। प्रस्तुत इकाई के खण्ड 12.2 में सार्वजनिक वित्त के अर्थ को विस्तार पूर्वक समझने का प्रयास किया गया है। खण्ड 12.3 में सार्वजनिक वित्त एवं निजी वित्त की तुलना पर प्रकाश डाला है। खण्ड 12.4 में अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त की व्याख्या की गई है। इसके पश्चात् खण्ड 12.5 में अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त के महत्व एवं खण्ड 12.6 में सीमाओं का विवेचन किया गया है। खण्ड 12.7 में सारांश प्रस्तुत किया है। इकाई के अंत में शब्दावली, संदर्भ ग्रन्थों की सूची एवं अभ्यासार्थ प्रशन दिये गये हैं |

## 12.2 सार्वजनिक वित्त का अर्थ (Meaning of Public Finance)

सार्वजनीय वित्त दो शब्दों से मिलकर बना है- सार्वजनिक + वित्त। सार्वजनिक शब्द का अर्थ है- जन-समूह, जिसका प्रतिनिधित्व सरकार करती है और वित्त का अर्थ है- मौद्रिक साधन। अत: सार्वजनिक वित्त का अभिप्राय किसी देश की सरकार के वित्तीय साधनों अर्थात् आय और व्यय से है। इस प्रकार अर्थशास्त्र के जिस भाग में सरकार की आय तथा व्यय सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन किया जाता है उसे सार्वजनिक वित्त कहते हैं। अत: सार्वजनिक वित्त केन्द्रीय, राज्य या स्थानीय सरकारों के वित्त सम्बन्धी मामलों का अध्ययन है। इसे लोक वित्त एवं राजस्व के नाम से भी जाना जाता है।

### 12.2.1 सार्वजनिक वित्त की परिभाषाएँ (Definition of Public Finance)

इस विषय में राज्य द्वारा किये जाने वाले कार्यो का, जिसका मुद्रा से सम्बन्ध है, अध्ययन किया जाता है। सार्वजनिक वित्त का आशय सार्वजनिक संस्थाओं के वित्तीय प्रबन्ध से है। अत: सार्वजनीय वित्त अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण भाग है जिसे विभिन्न विद्वानों द्वारा अलग-अलग

सन्दर्भों में परिभाषित किया गया है। सार्वजनिक वित्त की अनेक परिभाषाओं को निम्नांकित तीन प्रमुख शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित करके अध्ययन किया जा सकता है -

### (क) अत्यधिक विस्तृत परिभाषाएँ

इस वर्ग में सार्वजनिक वित्त के विषय के अन्तर्गत लोक प्राधिकरण को शामिल कर लिया गया है। ये परिभाषाएँ इसलिए अधिक विस्तृत कही जाती हैं क्योंकि इसमें सार्वजनिक संस्थाओं की सभी प्रकार की आय-मौद्रिक अथवा अमौद्रिक शामिल कर ली गई हैं।

1. **प्रो. फिण्डले शिराज के अनुसार** "सार्वजनिक वित्त ऐसे सिद्धान्तों का अध्ययन है जो सार्वजनिक सत्ताओं के कोषों की प्राप्ति एवं व्यय से सम्बन्धित है |"
2. **डा० डाल्टन के शब्दों में** " सार्वजनिक वित्त का सम्बन्ध लोक-सत्ताओं के आय - व्यय तथा उस पद्धति से है जिसमें आय का व्यय से समायोजन किया जाता है।"
3. **सी. एफ. बैस्टेबिल के अनुसार** "सार्वजनिक वित्त राज्य की लोक सत्ताओं के आय एवं व्यय, उनके पारस्परिक सम्पर्क तथा वित्तीय प्रशासन एवं नियंत्रण से सम्बन्ध रखता है |"

### (ख) विस्तृत परिभाषाएँ

इस वर्ग में सार्वजनिक वित्त का अध्ययन केवल आय तथा व्यय तक ही सीमित कर दिया गया है अतः ये परिभाषाएँ अत्यधिक विस्तृत परिभाषाओं से संकीर्ण हैं :

1. **प्लेहन के अनुसार** " सार्वजनिक वित्त वह विज्ञान है जो कि राजनीतिज्ञों की उन क्रियाओं का वर्णन करता हैं, जिन्हें राज्य के उचित कार्यो के लिए मौद्रिक साधनों को प्राप्त करने एवं प्रयोग करने में उपयोग किया जाता है |"
2. **एच. एल. लुट्ज के अनुसार** "सार्वजनिक या राजकीय कार्यो को पूर्ण करने के लिए आवश्यक साधनों का प्रावधान, संरक्षण एवं व्यय करने का अध्ययन ही सार्वजनिक वित्त का विषय है |"
3. **श्रीमती उर्सला हिक्स के शब्दों में** 'सार्वजनिक वित्त का मुख्य विषय ऐसी विधियों का अध्ययन एवं परीक्षण करना है जिसके द्वारा सरकारी संस्थाएँ आवश्यकताओं की सामूहिक रूप से संतुष्टि करने का प्रबन्ध करती है और अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक कोष प्राप्त करती है |"

### (ग) संकुचित परिभाषाएँ

इस वर्ग में उन वित्त शास्त्रियों की परिभाषाएँ शामिल की गई हैं जिन्होंने सार्वजनिक वित्त के विषय को अत्यन्त

संकीर्ण रूप में लिया हैं -

1. **प्रो0 जे0 के0 मेहता के अनुसार** "सार्वजनिक वित्त में सरकार के मौद्रिक एवं साख साधनों के अध्ययन को सम्मिलित किया जाता है।"
2. **फिलिप ए. टेलर के शब्दों में** "सरकारी संस्था के अन्तर्गत संगठित रूप में जनता के वित्त का व्यवहार ही सार्वजनिक वित्त है। इसमें केवल सरकारी वित्त का अध्ययन किया जाता है |"

उपर्युक्त वर्णित परिभाषाओं का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि इनमें मूलत: कोई अन्तर नहीं है। सार्वजनिक वित्त को सभी विद्‍वान आय, व्यय उनके नियंत्रण तथा प्रशासन का अध्ययन मानते हैं।

## 12.3 सार्वजनिक वित्त एवं निजी वित्त की तुलना (Comparison between Public Finance and Private Finance)

सार्वजनिक वित्त के मूलभूत सिद्धान्तों को समझने के लिए आवश्यक है कि सार्वजनिक वित्त एवं निजी वित्त में अन्तर को जान लें। यद्‍यपि दोनों व्यवस्थाओं के सिद्धान्त मूलरूप से समान है और दोनों का मुख्य उद्देश्य भी अधिकतम लाभ की प्राप्ति करना है, फिर भी इन दोनों के उद्देश्य, प्रकृति, व्यवस्था तथा प्रशासन में मूलभूत अन्तर है। कीन्स का मत है कि 'जो बात एक व्यक्ति के लिए सत्य है, वही बात राज्य के लिए सही भी हो सकती है और नहीं भी।" सार्वजनिक वित्त एवं निजी वित्त में कुछ समानताएँ हैं और कुछ असमानताएँ हैं, जो निम्नानुसार हैं:

### 12.3.1 सार्वजनिक वित्त एवं निजी वित्त में समानताएँ

**(Similarities between Public Finance and Private Finance)**

सार्वजनिक वित्त एवं निजी वित्त के समस्त व्यवहारों में निम्नाकिंत समानताएँ हैं :

1. **समान उद्देश्य** दोनों का ही मूल उद्देश्य मानवीय आवश्यकताओं को अधिकतम संतुष्ट करना है। दोनों के पास साधन सीमित होते हैं तथा दोनों उन साधनों का सर्वोत्तम उपयोग करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार दोनों पक्ष सम-सीमान्त उपयोगिता के सिद्धान्त को अपनाते हैं।
2. **ऋण की आवश्यकता** आय की तुलना में व्यय अधिक होने पर सार्वजनिक एवं निजी दोनों क्षेत्रों में ऋण लेना पडता हैं।
3. **आय-व्यय में साम्य** दोनों क्षेत्रों में ही आय-व्यय में असाम्य होने पर साम्य लाने का प्रयास करना पड़ता है क्योंकि लगातार बचत या घाटा दीर्घकाल में दुखदायी होता है।
4. **आय में लोच** दोनों क्षेत्रों की ही आय परिवर्तनशील होती है, स्थिर नहीं रहती।
5. **आर्थिक परिवर्तनों का प्रभाव** आर्थिक परिवर्तनों का भी दोनों के अर्थ प्रबन्ध पर लगभग समान प्रभाव पड़ता है। यदि देश में मुद्रा-स्फीति अथवा मंहगाई की स्थिति पायी जाती है तो इसका प्रभाव राज्य तथा व्यक्ति दोनों के व्यय पर पड़ेगा। दोनों पक्षों का व्यय पहले से अधिक बढ़ जाएगा।
6. **कल्याण कार्य** निजी वित्त के अन्तर्गत निजी हितों को अधिक महत्व दिया जाता है। सार्वजनिक वित्त के अन्तर्गत भी समाज कल्याण कार्यो पर अधिक ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार दोनों ही व्यवस्थाओं में कल्याण के विचार को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है।
7. **कुशल प्रबन्ध** व्यक्ति और सरकार दोनों को अपने वित्तीय साधनों का कुशलता से प्रबन्ध करना पड़ता है इसके अभाव में दोनों को वित्तीय मामलों में बुरे परिणाम भुगतने पड़ सकते हैं।

### 12.3.2 सार्वजनिक वित्त एवं निजी वित्त में अन्तर

### (Differences between Public Finance and Private Finance)

सार्वजनिक वित्त एवं निजी वित्त में निम्नांकित बिन्दुओं के आधार पर अन्तर किया जा सकता है.

**सारणी 12.1**

| क्र.सं. | अन्तर का आधार | सार्वजनिक वित्त | निजी वित्त |
|---|---|---|---|
| 1. | उद्देश्य | इसका मुख्य उद्देश्य समाज का अधिकतम कल्याण करना होता है। | निजी वित्त सदैव व्यक्तिगत लाभ की भावना से प्रेरित होता हैं \| |
| 2. | आय-व्यय का समायोजन | इसमें व्यय की आवश्यकताओं के अनुरूप आय बढ़ाने का प्रयास किया जाता हैं\| | निजी वित्त में आय के अनुरूप ही व्यय करने का प्रयास किया जाता हैं \| |
| 3. | आय प्राप्ति के साधन | सरकार के आय प्राप्ति के साधन व्यापक एवं विविध होते हैं जैसे कर चुंगी, ऋण, शुल्क आदि\| | इसमें आय के निश्चित एवं सीमित स्रोत होते हैं जैसे व्यक्ति का वेतन, मजदूरी, लाभ आदि\| |
| क्र.सं. | अन्तर का आधार | सार्वजनिक वित्त | निजी वित्त |
| 4. | अवधि | सरकार एक वर्ष कि अवधि हेतु आय-व्यय ब्यौरा तैयार करके बजट बनती है \| | व्यक्तिगत वित्त में किसी निश्चित अवधि के लिए लेखा किया जाता है\| |
| 5. | लोच | सार्वजनिक वित्त अत्यन्त लोचपूर्ण होता है प्रतिवर्ष सरकार आय-व्यय के ढाँचे में परिवर्तन करती रहती है। सरकार नये कर लगाकर करों की दरों में वृद्धि कर आय बढ़ा सकती है। | निजी वित्त व्यवस्था में आय के साधन प्राय: बेलोच होता है \| |
| 6. | गोपनीयता | सरकारी आय-व्यय के ऑकड़े बजट के रूप में प्रकाशित होते हैं, इसमें गोपनीयता नहीं रहती। | व्यक्ति अपनी आय को अपने परिवार तक सीमित रखता है, अत: इसमें गोपनीयता रहती है \| |
| 7. | ऋण प्राप्ति क्षेत्र | सरकार के ऋणों का क्षेत्र देश-विदेश दोनों में होता है तथा जनता से अनिवार्य रूप में ऋण लेने का अधिकार रखती है तथा ब्याज दर भी कम होती है। | व्यक्ति को सार्वजनिक संस्थाओं पर ऋण के लिए निर्भर रहना पड़ता है\| तथा ब्याज दर भी ऊँची होती है\| ऋण क्षेत्र देश तक सीमित रहता है\| |
| 8. | घाटा एवं बचत | सरकार घाटे का बजट बनाकर कल्याणकारी कार्य करती है। | व्यक्तिगत आय-व्यय ढाँचे में बचत करना विवेकपूर्ण माना जाता है \| |
| 9. | लेखा एवं निरीक्षण | इसमें नियमित लेखा रखने एवं | निजी वित्त में न तो बजट बनाया |

| | | | |
|---|---|---|---|
| | | निरीक्षण की व्यवस्था रहती है \| प्रतिवर्ष 31 मार्च तक सभी सार्वजनिक निकाय एवं सरकारें अपना बजट पास करती है \| | जीता है और न ही इसे पारित करवाया जाता है \| |
| 10. | अंकेक्षण | इसमें अनिवार्य नियमित अंकेक्षण व्यवस्था रहती है। | निजी वित्त का सामान्यतः अंकेक्षण नही होता \| |
| 11. | हीनार्थ प्रबन्धन | सरकार नोट छापकर भी आय प्राप्तियों में वृद्धि कर सकती है। | व्यक्ति को इस प्रकार के कोई अधिकार नहीं होते \| |
| 12. | अपव्यय | इसमें मितव्ययता के सिद्धान्त के स्थान पर अनावश्यक व्यय तथा अपव्यय होता है। | निजी वित्त में धनराशि का व्यक्तिगत एवं परिवार हित में सही उपयोग किया जाता है \| |
| 13. | सुरक्षा व्यय | सार्वजनिक वित्त में देश के सुरक्षा व्यय का महत्वपूर्ण स्थान होता है। | निजी वित्त में सुरक्षा व्यय नहीं होता \| |
| 14. | दीर्घकालिक दृष्टि | सरकार भविष्य की महत्वपूर्ण योजनाओं पर व्यय करती है। | निजी वित्त में वर्तमान आवश्यकताएं अधिक महत्वपूर्ण होती है \| |
| 15. | ऋणदाता को बाध्य करना | सरकार का नागरिकों पर प्रभुत्व होने के कारण वह अपने नागरिकों को ऋण देने हेतु बाध्य भी कर सकता है। | निजी व्यक्ति अपने ऋणदाता को ऋण देने के लिए बाध्य नहीं कर सकता \| |

बोध प्रशन - 01

1. सार्वजनिक वित्त क्या है?
2. निजी वित्त क्या है?
3. सार्वजनिक एवं निजी वित्त में कोई दो समानताएँ बताइये?
4. सार्वजनिक एवं निजी वित्त में कोई दो अन्तर लिखिए |

## 12.4 अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त (Principle of Maximum Social Advantage)

सार्वजनिक वित्त प्रत्येक अर्थव्यवस्था में अपनी अहम् भूमिका अदा करता है। इसका मुख्य उद्देश्य अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करना है। अधिकतम सामाजिक लाम के सिद्धान्त का प्रतिपादन ब्रिटेन के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डा. डाल्टन द्वारा किया गया। यह सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित है कि न तो प्रत्येक कर ही एक बुराई है और न ही प्रत्येक व्यय एक अच्छाई है। कर तथा सार्वजनिक व्यय के प्रभावों के बीच सन्तुलन की आवश्यकता है, ताकि अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त किया जा सके।

### 12.4.1 परिभाषा (Definition)

डाल्टन के अनुसार अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त यह बतलाता है कि "सर्वजनिक वित्त की सबसे अच्छी प्रणाली वह है जिसके अनुसार राज्य अपने कार्य द्वारा अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करता है।"

### 12.4.2 मान्यताएँ (Assumptions)

अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त निम्नांकित मान्यताओं पर आधारित हैं :

1. सरकार की आय का मुख्य स्रोत कर है।
2. घटते सीमान्त सामाजिक लाभ का नियम सार्वजनिक व्यय पर लागू होता है।
3. करों पर बढ़ती सीमान्त सामाजिक अनुपयोगिता लागू होती है।

### 12.4.3 अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त की व्याख्या

### (Explanation of the Principle of Maximum Social Advantage)

इस सिद्धान्त का मूल आधार सीमान्त उपयोगिता नियम एवं सीमान्त त्याग का नियम है। सरकार जब जनता पर कर लगाती है तो इससे जनता को त्याग करना पडता है और जब यह आय सार्वजनिक कार्यो पर खर्च की जाती है तो इससे जनता को सामाजिक लाभ या संतुष्टि मिलती है। इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार को अपनी आय-व्यय को इस ढंग से समायोजित करना चाहिए कि समाज को व्यय से मिलने वाली उपयोगिता, आय को प्राप्त करने से उत्पन्न अनुपयोगिता से कम नहीं हो। डाल्टन के अनुसार "राजकीय व्यय प्रत्येक दशा में उस सीमा तक बढ़ाते रहना चाहिए जब तक कि इस व्यय से उत्पन्न होने वाला संतोष राज्य द्वारा लगाये गये करों से उत्पन्न होने वाले असंतोष के बराबर हो जाय।" यह सीमा ही राजकीय आय और व्यय में वृद्धि करने की आदर्शतम सीमा है।

- **सीमान्त सामाजिक त्याग (Marginal Social Sacrifice)**

सरकार जब कर लगाती हैं तो कर दाता के पास धन की मात्रा क्रमशः कम होती जाती हैं। धन की मात्रा जैसे-जैसे कम होती रहती है वैसे-वैसे उसकी सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जाती हैं। जैसे-जैसे सरकार करों में वृद्धि करती है वैसे-वैसे समाज को अधिक उपयोगिता का त्याग करना पड़ता है अर्थात करों मे वृद्धि के साथ-साथ सीमान्त सामाजिक त्याग बढ़ता जाता हैं।

- **सीमान्त सामाजिक उपयोगिता (Marginal Social Utility)**

सामाजिक बिन्दु से लोगों को उपयोगिता मिलती हे। सरकार करों से प्राप्त आय को लोक कल्याण के कार्यो में व्यय करती है। इससे लोगों को उपयोगिता मिलती हैं। सीमान्त उपयोगिता हास नियम के कारण सार्वजनिक व्यय की प्रत्येक इकाई की तुलना में अगली इकाई से सीमान्त उपयोगिता कम मिलती है। जैसे-जैसे सार्वजनिक व्यय में वृद्धि होती है उसी अनुरूप सीमान्त सामाजिक उपयोगिता में कमी होती रहती हे।

- **साम्य बिन्दु (Point of Equilibrium)**

साम्य बिन्दु पर ही अधिकतम सामाजिक लाभ होगा। यह वह बिन्दु है जहाँ सीमान्त सामाजिक त्याग तथा सीमान्त सामाजिक उपयोगिता दोनों बराबर होती है। यदि कर से उत्पन्न सीमान्त त्याग तथा व्यय से उत्पन्न सीमान्त उपयोगिता दोनों बराबर नहीं है जो अधिकतम सामाजिक लाभ नहीं होगा।

अत: अधिकतम सामाजिक लाभ के लिए यह आवश्यक है कि सीमान्त सामाजिक त्याग एवं सीमान्त सामाजिक उपयोगिता बराबर हो।

**डा. डाल्टन के अनुसार**, “राजकीय व्यय प्रत्येक दशा में उस सीमा तक बढ़ाते रहना चाहिए, जब तक कि व्यय से प्राप्त होने वाला संतोष राज्य द्वारा लगाये गये करों से उत्पन्न होने वाले असंतोष के बराबर न हो जाये। यह सीमा ही राजकीय आय तथा व्यय में वृद्धि करने की आदर्श सीमा हो सकती है।"

**पीगू के अनुसार,** “यदि हम समाज को एक इकाई प्राणी तथा सरकार को उसका मस्तिष्क माने तो सभी दिशाओं में व्यय उस बिन्दु तक बढ़ाया जाना चाहिए जहाँ व्यय की गयी अन्तिम इकाई से प्राप्त सन्तोष राजकीय सेवा में लायी गयी अन्तिम इकाई से खोए संतोष के बराबर हो जाये। सामाजिक लाभ उसी स्थिति में अधिकतम होगा, जबकि संतोष और असंतोष पूर्ण संतुलन की स्थिति में हो |” अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त को निम्न तालिका द्वारा समझा जा सकता है :

**सारणी 12.2**

**अधिकतम सामाजिक लाभ का बिन्दु**

| सार्वजनिक आय/व्यय की इकाइयाँ | कर की प्रत्येक इकाई से उत्पन्न सीमान्त त्याग | सार्वजनिक व्यय की अतिरिक्त इकाई से प्राप्त सीमांत सामाजिक लाभ | समाज को शुद्ध उपयोगिता |
|---|---|---|---|
| 1. | 25 | 70 | 75-25=50 |
| 2. | 30 | 70 | (75+70)-(25+30) =90 |
| 3. | 40 | 60 | (75+70+60)-(25+30+40) =110 |
| 4. | 50 | 50 | (75+70+60+50)-(25+30+40+50) =11o |
| 5. | 60 | 40 | (75+70+60+50+40)-(25+30+40+50+60) =90 |
| 6. | 70 | 35 | (75+70+60+50+40+35)-(25+30+40+50+60+70)=55 |

उपर्युक्त सारणी 12.1 से स्पष्ट है कि कर की इकाई बढ़ने के साथ-साथ कर की प्रति इकाई का समाज पर भार बढ़ता जाता है जबकि सार्वजनिक व्यय की प्रति अतिरिक्त इकाई से समाज के लिए सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है। अत: अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त के अनुसार इस तालिका में चौथी इकाई के बाद सरकार को कर नहीं लगाना चाहिए क्योंकि यहाँ पर सीमान्त सामाजिक त्याग और सीमान्त सामाजिक संतुष्टि समान हो जाती हैं। यह वह बिन्दु है जहाँ सामाजिक लाम अधिकतम होगा। इसे रेखाचित्र 12.1 मे प्रदर्शित किया गया है।

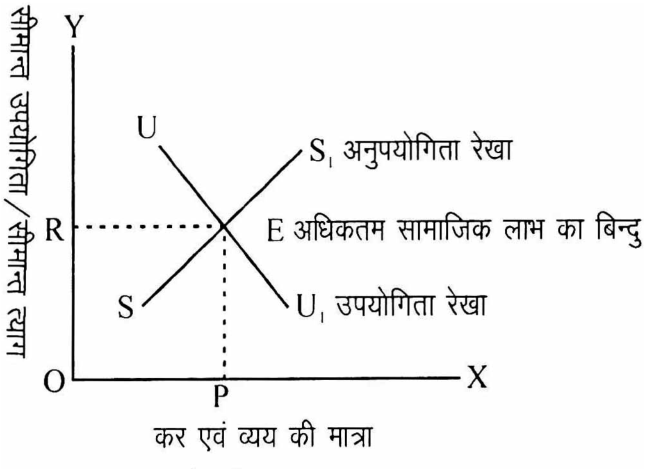

रेखाचित्र 12.1

चित्र में OX अक्षांश पर कर (आय) एवं व्यय की मात्रा तथा OY अक्षांश पर सीमान्त सामाजिक त्याग एवं सामाजिक उपयोगिता (लाभ) को दर्शाया गया है। त्याग रेखा $SS_1$ हैं तथा उपयोगिता रेखा $UU_1$ हैं। $SS_1$ रेखा प्रत्येक अतिरिक्त इकाई पर घटती हुई लाभ की मात्रा को दर्शाती है जबकि $SS_1$ रेखा प्रत्येक अतिरिक्त इकाई पर त्याग में वृद्धि को दर्शाती है। E बिन्दु पर दोनों आपस में काट रही है जो आदर्श बिन्दु को दर्शाता है, जहाँ पर सामाजिक लाभ अधिकतम है तथा सीमान्त त्याग और सीमान्त उपयोगिता बराबर है। चित्र में प्रदर्शित OP दूरी सरकार के सार्वजनिक व्यय की यह सीमा है जिससे समाज को अधिकतम लाभ प्राप्त होगा। E वह सीमा है जहाँ तक सरकार को अपना कार्य क्षेत्र बढ़ाते जाना चाहिए। यदि E बिन्दु से आगे सरकार ने अपना कार्य किया तो इससे जनता को अधिक कष्ट सहन करना पड़ेगा।

## 12.5 अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त का महत्व (Significance of the Principal of Maximum Social Advantage)

अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त का राजस्व के क्षेत्र में बहुत महत्व है। इसमें सार्वजनिक व्यय तथा सार्वजनिक आय दोनों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इस सिद्धान्त का व्यवहारिक महत्व इस बात पर निर्भर करता है कि सामाजिक लाभ को कैसे मापा जायें। डाल्टन ने इसके लिए निम्नलिखित मापदण्ड निर्धारित किये हैं -

1. **उत्पादन में वृद्धि (Increase in Production)** अधिकतम सामाजिक लाभ इस बात पर निर्भर करता है कि सार्वजनिक वित्त का देश के उत्पादन पर क्या प्रभाव पड़ रहा है। सामाजिक लाभ को अधिकतम करने के लिए सरकार की आय और व्यय में इस प्रकार के परिवर्तन होने चाहिए जिनसे उत्पादन अधिक हो तथा रोजगार और निर्यात में वृद्धि हो।

   डाल्टन के अनुसार उत्पादन में वृद्धि तीन बातों पर निर्भर करती है :

   (अ) उत्पादन की तकनीक में इस प्रकार के सुधार हो जिसके फलस्वरूप प्रति श्रमिक उत्पादन अधिक हो सकें।

   (ब) उत्पादन के संगठन में इस प्रकार सुधार किये जाये जिससे आर्थिक साधनों का कम से कम अपव्यय हो।

(स) उत्पादन के स्वरूप में इस प्रकार सुधार किये जायें जिससे समाज को अधिकतम लाभ प्राप्त हो।

2. **आय का न्यायपूर्ण वितरण (Equitable distribution of Wealth)** इसके लिए कर व्यवस्था में इस प्रकार के परिवर्तन किये जाये जिनसे धनी वर्ग से उचित मात्रा में धन एकत्रित करके उस धन को निर्धनों को अधिक से अधिक सुविधाएँ देने पर खर्च किया जाये।
3. **राजनैतिक स्थिरता (Political Stability)** अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करने की एक शर्त यह है कि देश में राजनैतिक स्थिरता हो। इसलिए विदेशी आक्रमणों से देश की सुरक्षा और देश के अन्दर शान्ति बनाये रखना सरकार का कर्त्तव्य है, परिणाम स्वरूप सामाजिक कल्याण और उत्पादन की कुशलता बढ़ सकें।
4. **आर्थिक स्थिरता (Economic Stability)** आर्थिक स्थिरता के परिणामस्वरूप सामाजिक कल्याण में वृद्धि होना स्वाभाविक हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार की एक उपर्युक्त राजकोषीय नीति होनी चाहिए।
5. **पूर्ण रोजगार (Full Employment)** प्रत्येक देश की सरकार अपनी राजकोषीय नीति के द्वारा पूर्ण रोजगार प्राप्त करने के लक्ष्य को प्राथमिकता देती है। इसके फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि होती है और सामाजिक कल्याण बढ़ता है।
6. **भविष्य का ज्ञान (Future Consideration)** प्रत्येक सरकार का कर्तव्य है कि वह भविष्य में आने वाली संतानों के सामाजिक लाभ को भी ध्यान में रखे अर्थात प्राकृतिक साधनों का उपयोग केवल वर्तमान में रहने वाले लोगों के लिए न किया जाए बल्कि उन्हें भविष्य के लिए भी सुरक्षित रखें।

**डा. डाल्टन के अनुसार.** “राजनीतिज्ञ भविष्य के लिए वर्तमान से कम न्यासी नहीं होता। व्यक्ति मरते हैं परन्तु समुदाय जिसका वह अंग होते हैं चलता रहता है। इसलिए राजनीतिज्ञ को वर्तमान के कम लाभ को भविष्य के अधिक सामाजिक लाभ से प्राथमिकता देनी चाहिए।"

## 12.6 सिद्धान्त की सीमाएँ (Limitation of the Doctrine)

डा. डाल्टन के अनुसार यह सिद्धान्त सरल एवं स्पष्ट है परन्तु इसे व्यवहार में लागू करना कठिन है। अधिकतम सामाजिक लाभ को मापने में मुख्य रूप से निम्नलिखित कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है.

(I) **त्याग तथा लाभ का माप (Measurement of Sacrifice and Benefit)** अधिकतम सामाजिक लाम का निर्धारण सीमान्त सामाजिक त्याग तथा सीमान्त सामाजिक लाभ या उपयोगिता के द्वारा किया जाता है। परन्तु इन दोनों का माप बहुत ही कठिन है। समाज बहुत से व्यक्तियों का समूह है, अत: प्रत्येक के त्याग और लाभ को मापना सरल नहीं है। इसके अतिरिक्त संतुष्टि भावगत है, इसका अनुमान लगाना सम्भव नहीं हैं।

(II) **कर भार का अनुमान (Estimate of Tax Burden)** यह मापना बहुत ही कठिन है कि प्रत्येक कर का अलग-अलग रूप से जनता पर कितना प्रभाव पड़ता है। इसका माप किए बिना सीमान्त सामाजिक त्याग का अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

(III) **भविष्य में प्राप्त होने वाले लाभ (Future Advantages)** विकास की योजनाओं पर किये जाने वाले व्यय से भविष्य में लाभ प्राप्त होता हैं, परन्तु करों का भार जनता पर तुरन्त बढ़ जाता है। अत: भविष्य के लाभ तथा वर्तमान त्याग के आधार पर अधिकतम सामाजिक लाभ का अनुमान लगाना कठिन हो जाता है।

(IV) **आर्थिक विकास तथा आर्थिक स्थिरता से सम्बन्धित व्यय (Expenditure Concerning Economic Development and Economic Stability)** आर्थिक विकास की गीत को तीव्र करने के लिए सरकार को बहुत अधिकव्यय करने पढ़ते हैं। इसी प्रकार मन्दी के समय रोजगार लेने, प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि करने के लिए भी अधिक मात्रा में व्यय करने पढ़ते है। इन आवश्यकताओं में व्यय करते समय सरकार इस सिद्धान्त का अधिक पालन नहीं कर सकती।

(V) **सार्वजनिक ऋण (Public Debt)** सरकार जब सार्वजनिक व्यय के लिए करों द्वारा धन एकत्र करती है तब अनुपयोगिता उत्पन्न होती है परन्तु सार्वजनिक ऋणों से धन एकत्र करने में अनुपयोगिता उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार सार्वजनिक ऋणों के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त लागू नहीं होता।

(VI) **कर भार एवं सार्वजनिक व्यय (Tax Burden and Public Expenditure)** यह मान्यता है कि सरकार द्वारा लगाया गया प्रत्येक कर जनता पर भार है, सही नहीं हैं। मादक पदार्थो पर लगाया गया कर जनता के स्वास्थ्य के लिए लाभकारी होता है। इसी प्रकार सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी प्रत्येक निर्णय आर्थिक तत्वों को ही ध्यान में रखकर नहीं किया जाता बल्कि राजनैतिक दबाव में आकर किया जाता है। उपरोक्त दोनों तथ्यों के परिणामस्वरूप सामाजिक कल्याण का सही अनुमान लगाना कठिन होता है।

(VII) **निष्कर्ष (Conclusion)** राजस्व के क्षेत्र में अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त बहुत महत्वपूर्ण है। राजकीय व्यवस्था की सर्वोत्तम प्रणाली वही है जो देश के उत्पादन में वृद्धि करके वितरण कार्य में भी सुधार कर सके, त्याग एवं उपयोगिता में सामंजस्य बैठा सके। यद्यपि यह कार्य कठिन है तथापि आवश्यक है। इस सम्बन्ध में डाल्टन ने यूनानी कहावत के द्वारा यह कहा है कि “सरल चीजें नहीं, वरन् कठिन चीजें ही सुन्दर हुआ करती है।" इस सम्बन्ध में कॉलेरिज का मत है “सूरज, नदियों, झीलों व समुद्रों आदि से पानी लेकर बगीचों चारागाहों, खेतों आदि कार्यो के स्थानों पर वर्षा के रूप में डालता है। परन्तु वह बगीचों, खेतों आदि से नमी खींचकर समुद्रों, झीलों, नदियों आदि बेकार स्थानों पर भी डाल सकता है।" अत: इसका मापदण्ड अधिकतम सामाजिक लाभ ही है।

बोध प्रशन -2

1. अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त का प्रतिपादक कौन है?
2. सार्वजनिक वित्त की सर्वोत्तम प्रणाली कौन सी है?
3. सीमान्त सामाजिक त्याग से क्या आशय है?
4. सीमान्त सामाजिक उपयोगिता से क्या अभिप्राय है?
5. अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त की परिभाषा दीजिए।
6. अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त किन मान्यताओं पर आधारित हैं?

7. अधिकतम सामाजिक लाभ सिद्धान्त के महत्व के दो मुख्य बिन्दु लिखिए।
8. अधिकतम सामाजिक लाभ सिद्धान्त की दो सीमाएँ लिखिए।

## 12.7 सारांश (Summary)

सार्वजनिक वित्त से अभिप्राय देश की सरकार के वित्त संसाधनों अर्थात आय व्यय से है। विभिन्न विद्‌वानों द्‌वारा भिन्न-भिन्न आधारों पर इसकी परिभाषा की गई है जिन्हें अत्यधिक विस्तृत, एवं संकुचित वर्ग में विभाजित किया गया है। सार्वजनिक एवं निजी वित्त में कुछ समानताएँ है एवं कुछ भिन्नताएँ। इस इकाई में उन्हें स्पष्ट किया हैं। दोनों का उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना है। प्रस्तुत इकाई में डाल्टन के अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त की चर्चा की गई है। इस सिद्धान्त के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि न तो हर कर एक बुराई है और न हर व्यय एक अच्छाई हैं। करारोपण एक तरह से त्याग है तो सार्वजनिक व्यय से व्यक्ति को लाभ पहुँचता है अत: कर व्यय सार्वजनिक व्यय के प्रभावों के मध्य संतुलन की आवश्यकता है ताकि अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त किया जा सके। अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त एवं सीमान्त सामाजिक त्याग एवं सीमान्त सामाजिक उपयोगिता में संतुलन स्थापित करने का प्रयास करता है। जहाँ यह दोनों बराबर होते हैं वह साम्य बिन्दु होता है।

## 12.8 शब्दावली (Glossary)

| | |
|---|---|
| सार्वजनिक वित्त/लोक वित्त/ राजस्व | Public Finance |
| निजी वित्त | Private Finance |
| सार्वजनिक आय | Public Revenue |
| सार्वजनिक ऋण | Public Debt |
| संघीय वित्त | Federal Finance |
| सम सीमान्त उपयोगिता का सिद्धान्त | Principle of Equi-marginal Utility |
| निवल हित | Net Benefit |
| कल्याण कार्य | Welfare Functions |
| आर्थिक कल्याण | Economic Welfare |
| न्यूनतम कर का सिद्धान्त | Canon/Principal of Minimum Taxation |
| न्यूनतम सामूहिक त्याग का सिद्धान्त | Canon of Minimum Collective Sacrifice |
| मितव्ययता का सिद्धान्त | Canon of Economy |
| अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त | Principal/Doctrine of Maximum Social Advantage |
| सीमान्त सामाजिक त्याग | Marginal Social Sacrifice |
| सीमान्त सामाजिक उपयोगिता | Marginal Social Utility |
| साम्य/संतुलन बिन्दु | Points of Equilibrium |
| उत्पादन आदर्श | Production Optimum |
| उपयोगिता आदर्श | Utility Optimum |

## 12.9 संदर्भ ग्रन्थ (References)

C.T. Sand for, (1969) "Economics of Public Finance", Pergaman Press.

Dr. Daltan, (1975) "Principles of Public Finance", Routledge Kegan Paul Ltd. London.

Findley Shirraj, "The Science of Public Finance".

H.L. Lutz, "Public Finance".

Gupta, Swami, Vashistha, (2008) "Banking and Finance", Ramesh Book Depo, Jaipur.

H.L. Bhatia, "Public Finance", Vikas Publishing House Pvt. Ltd. New Delhi.

Jain, T.R. Khanna, Tiwari, (2008) "Banking and Public Finance", V.k (India) Enterprises, New Delhi.

Reeta mathur, (2006) "Public Finance", Arjun Publishing House, New Delhi.

Taylor, "The Economics of Public Finance", Macmillan Co. Newyork.

## 12.10 अभ्यासार्थ प्रशन (Unit-end Questions)

1. सार्वजनिक वित्त से क्या अभिप्राय है? सार्वजनिक वित्त और निजी वित्त में क्या अन्तर है?
2. अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त को समझाइए राज्य की वित्तीय क्रियाओं में इसका क्या महत्व है?
3. "सार्वजनिक वित्त की सर्वोत्तम प्रणाली वह है जिसमें राज्य अपने कार्यो द्वारा अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त कर सकता है।" (डाल्टन), इस कथन की व्याख्या कीजिए।
4. अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

# इकाई 13

# सार्वजनिक आगम, कर, अच्छी कर प्रणाली के गुण एवं करारोपण के सिद्धान्त

## (Public Revenue, Tax, Characteristics of a Good Tax System and Canons of Taxation)

**इकाई की रूपरेखा**

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 सार्वजनिक आगम

- 13.2.1 सार्वजनिक आगम का अर्थ
- 13.2.2 सार्वजनिक आगम का वर्गीकरण
- 13.2.3 सार्वजनिक आगम के स्रोत

13.3. कर

- 13.3.1 कर का अर्थ एवं विशेषताएं
- 13.3.2 करों का वर्गीकरण
- 13.3.3 करारोपण के नियम

13.4 एक अच्छी कर प्रणाली के गुण

13.5 करारोपण के सिद्धान्त

- 13.5.1 करारोपण में न्यायशीलता की समस्या
- 13.5.2 लाम का सिद्धान्त
- 13.5.3 सेवा की लागत का सिद्धान्त
- 13.5.4 भुगतान सामर्थ्य का सिद्धान्त

13.6 सारांश

13.7 शब्दावली

13.8 संदर्भ ग्रन्थों की सूची

13.9 अभ्यासार्थ प्रशन

## 13.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समझ सकेंगे कि :

- सार्वजनिक आगम का अर्थ एवं इसके विभिन्न स्रोत क्या है?
- कर किसे कहते हैं?
- करारोपण के विभिन्न नियम क्या है?

- एक अच्छी कर प्रणाली की क्या विशेषताएं है?
- करारोपण में न्यायशीलता की समस्या क्या है एवं उससे सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्त कौन से हॉ

## 13.1 प्रस्तावना (Introduction)

सार्वजनिक एवं निजी आय के स्वरूप एवं प्रकृति में पर्याप्त अंतर है। वर्तमान समय में सरकार के कार्यो में वृद्धि होने के कारण सार्वजनिक आगम के स्रोतों का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है। कर सार्वजनिक आगम का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्रोत है। इस इकाई में करों का वर्गीकरण उनके नियमों आदि को स्पष्ट किया गया है। एक अच्छी कर प्रणाली की विशेषताएं क्या होती है। इसकी व्याख्या की गयी है। लोकतांत्रिक शासन प्रणाली में करों का न्यायपूर्ण होना आवश्यक है। करारोपण के कुछ सिद्धान्तों के अनुसार कर लगाने पर समानता या न्यायशीलता के गुण को प्राप्त किया जा सकता है। इस इकाई के खण्ड 13.2 में सार्वजनिक आगम का अर्थ, वर्गीकरण एवं स्रोत स्पष्ट किए गये हैं। इसके पश्चात् 13.3 में कर का अर्थ एवं वर्गीकरण तथा करारोपण के नियम तथा 13.4 में एक अच्छी कर प्रणाली के गुणों को बताया गया है। खण्ड 13.5 में करारोपण के सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। इकाई के अन्त में अन्य इकाइयों की भांति सारांश, शब्दावली, सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची तथा अभ्यासार्थ प्रश्न दिए गए हैं।

## 13.2 सार्वजनिक आगम (Public Revenue)

### 13.2.1 सार्वजनिक आगम का अर्थ

वर्तमान समय में सरकार को अनेक विकासात्मक एवं कल्याणकारी कार्य करने पड़ते हैं, जिससे सार्वजनिक व्यय काफी बढ़ गया है। इस व्यय को पूरा करने के लिये सरकार को अपनी आय में वृद्धि करनी पड़ती है। सरकार को उसके समस्त स्रोतों से जो आय प्राप्त होती है, उसे सार्वजनिक आगम कहा जाता है। डाल्टन ने सार्वजनिक आगम को दो अर्थों में प्रयोग किया है। व्यापक अथवा विस्तृत अर्थ में इसके अन्तर्गत राज्य की सभी प्रकार की प्राप्तियों अथवा आय को सम्मिलित कर लिया जाता है, सार्वजनिक ऋण, सार्वजनिक सम्पत्ति की बिक्री तथा पत्र-मुद्रा छापकर जुटाई गयी राशि को आय में सम्मिलित किया जाता है। जबकि संकुचित गयी राशि को आय में सम्मिलित किया जाता है। जबकि संकुचित या संकीर्ण अर्थ में सार्वजनिक आगम में सरकार की केवल वही आय अथवा प्राप्तियां सम्मिलित की जाती है जिन्हें लौटाना न पढ़े। सार्वजनिक आगम का अध्ययन करते समय उसे संकुचित अर्थ में ही प्रयोग करना चाहिये।

### 13.2.2 सार्वजनिक आगम का वर्गीकरण

सरकार की आय प्राप्ति के स्रोत अलग-अलग प्रकृति के होते हैं। सार्वजनिक आगम के वर्गीकरण द्वारा हम एक समाज प्रकृति के आय स्रोतों को एक वर्ग में रख सकते है। वर्गीकरण का उद्देश्य यह जानना है कि सार्वजनिक आगम के विभिन्न स्रोत किन बातों में एक दूसरे से मिलते हैं और किन बातों में भिन्न है। आय के स्रोतों की प्रकृति में भिन्नता के कारण अनेक विद्वानों ने समय-समय पर विभिन्न वर्गीकरण प्रस्तुत किये है। कुछ महत्वपूर्ण वर्गीकरण इस प्रकार हैं :

**(1) एडम्स ने सार्वजनिक आगम को तीन भागों में विभाजित किया है :**

(i) प्रत्यक्ष आय में सार्वजनिक उद्योगों, उपहारों, क्षतिपूर्तियों से प्राप्त आय को रखा है।

(ii) व्युत्पन्न आय में करों, शुल्कों तथा जुर्मानों से मिलने वाली आय आती है।

(iii) प्रत्याशित आय में अल्पकालीन ऋण, विपत्रों तथा अन्य ऋणों से प्राप्त आय सम्मिलित होती है।

**(2) सेलिगमैन के अनुसार सार्वजनिक आगम को तीन भागो में वर्गीकृत किया जा सकता है :**

(i) निःशुल्क आय जो उपहार व चन्दों से प्राप्त होती है।

(ii) अनुबन्धीय आय जो सरकार को उद्योगों, खानों, भूमि आदि के मूल्य से प्राप्त होती है।

(iii) अनिवार्य आय जो करों तथा क्षतिपूर्ति के रूप में जनता से प्राप्त की जाती है।

**(3) लुट्ज ने सार्वजनिक आगम को छ: भागों में विभाजित किया है :**

(i) व्यापारिक आय

(ii) प्रशासनिक आय

(iii) करारोपण

(iv) सार्वजनिक ऋण

(v) आर्थिक सहायता एवं अनुदान

(vi) स्थानान्तरण आय।

सार्वजनिक आगम के विभिन्न स्रोतों को हम निम्न तालिका से दिखा सकते हैं :

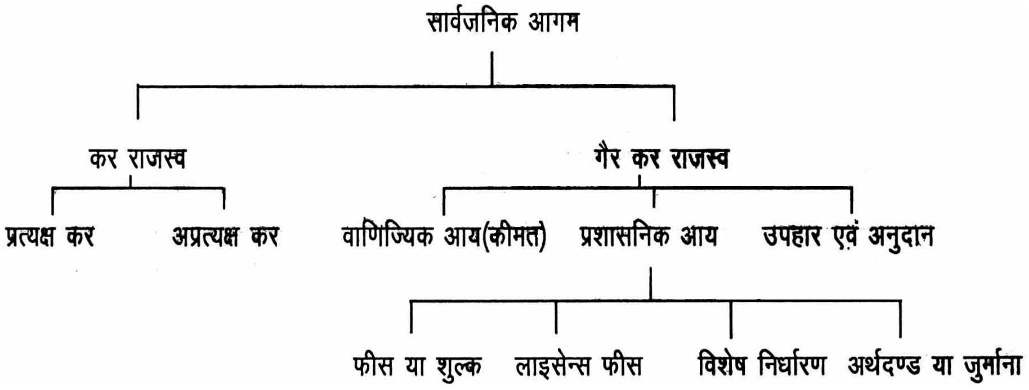
सार्वजनिक आगम
कर राजस्व
गैर कर राजस्व
प्रत्यक्ष कर
अप्रत्यक्ष कर
वाणिज्यिक आय(कीमत)
प्रशासनिक आय
उपहार एवं अनुदान
फीस या शुल्क
लाइसेन्स फीस
विशेष निर्धारण
अर्थदण्ड या जुर्माना

### 13.2.3 सार्वजनिक आगम के स्रोत

सार्वजनिक आगम के विभिन्न स्रोतों को मोटे तौर पर दो भागों में बांटा जाता है:

- **कर राजस्व**

कर सरकार की आय का प्राचीनतम एवं महत्वपूर्ण स्रोत है। कर एक व्यक्ति या संस्था द्वारा सरकार को दिया गया वह भुगतान है जिसके बदले में सरकार कोई विशिष्ट लाभ नहीं देती बल्कि यह सर्वसाधारण के हितों पर व्यय किया जाता है। प्रो. डाल्टन के अनुसार "कर एक अनिवार्य अंशदान है, जो किसी सरकार द्वारा लगाया जाता है और जिसका करदाता को बदले में प्राप्त होने वाली सेवाओं की मात्रा से कोई सम्बन्ध नहीं होता।" इस प्रकार कर में निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती है:

(i) यह करदाताओं द्वारा अनिवार्य भुगतान है। कर नहीं देने पर आवश्यक सजा का प्रावधान होता है।

(ii) सरकार कर-राजस्व का उपयोग सर्वसाधारण के हित में करती है और उसके सम्बन्ध में स्वयं निर्णय लेती है।

(iii) कर-भुगतान और बदले में प्राप्त लाभ में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है। टॉजिग के अनुसार, कर में "जैसे को

(iv) जैसा का अभाव होता है।

(v) कर का भुगतान आय में से किया जाता है एवं कर देना व्यक्ति का निजी दायित्व है।

(vi) कर दण्ड नहीं वरन् वैधानिक अनिवार्य वसूली है। करदाता को कर अदायगी में त्याग करना पड़ता है।

(vii) कर का उद्देश्य नियमन एवं नियंत्रण भी होता है।

- **कर सामान्यतया दो प्रकार के होते है :**

(i) **प्रत्यक्ष कर** जिनका कराघात एवं कराघात एक ही व्यक्ति पर होता है। जैसे आयकर, सम्पत्ति कर, उपहार कर, मृत्युकर, पूँजीगत लाभकर आदि।

(ii) **अप्रत्यक्ष कर** वस्तुओं एवं सेवाओं पर लगाये जाते हैं, करदाता इनके भाग को विवर्तित कर सकता है। जैसे उत्पाद कर, बिक्री कर, मनोरंजन कर, आयात-निर्यात कर आदि।

- **गैर कर राजस्व**

गैर कर आगम का अभिप्राय सरकार की उस आय से है जो उसे गैर कर के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से प्राप्त होती है। प्रारम्भ में आय के इन स्रोतों का अधिक महत्व नहीं था, क्योंकि आर्थिक क्रियाओं में राज्य का हस्तक्षेप बहुत कम था। लेकिन वर्तमान समय में राज्य का कार्यक्षेत्र बढने के साथ-साथ उसके व्यय भी बढ़ रहे हैं इसलिये गैर कर आय का महत्व भी बढ़ता जा रहा है। गैर कर आगम के निम्नलिखित स्रोत महत्वपूर्ण हैं:

**(i) वाणिज्यिक आय अथवा कीमत**

सरकारी वस्तुओं व सेवाओं के लिये दी जानेवाली कीमतें वाणिज्यिक आय के अन्तर्गत आती है जैसे रेलों का यात्री किराया, डाक-तार सेवाएं, पानी बिजली की आपूर्ति आदि। इसमें कीमत का भुगतान करने वाले व्यक्ति को बदले में प्रत्यक्ष रूप से वस्तु या सेवा प्राप्त होती है। कर अनिवार्य भुगतान होता है लेकिन मूल्य ऐच्छिक रूप से चुकाए जाते हैं। कीमत के सम्बन्ध में दो प्रकार की स्थिति पाई जा सकती है, प्रथम सरकार अपनी एकाधिकारी स्थिति का लाभ उठाकर ऊँची कीमत ले सकती है अथवा सब्सिडी देकर कीमत कम ले सकती है जैसे कैरोसीन कम मूल पर गरीब जनता को उपलब्ध कराया जाता है।

**(ii) प्रशासनिक आय**

सरकार को प्रशासनिक कार्य करते हुए जो आय प्राप्त होती है, उसे इसके अन्तर्गत रखते हैं।

**(अ) फीस या शुल्क** इसका भुगतान सरकार द्वारा प्रदान की जाने वाली न्यायिक एवं प्रशासनिक सेवाओं के लिए किया जाता है। यह भुगतान करने वाले को प्रत्यक्ष लाभ पहुँचाती है। फीस दोहरे उद्देश्य से ली जाती है, इससे भुगतानकर्ता को प्रत्यक्ष लाभ होता है एवं सार्वजनिक हित में भी वृद्धि होती है। कोर्ट फीस, स्कूल कॉलेज आदि की फीस इसके अन्तर्गत आती है।

**(ब) लाइसेन्स फीस** जब सरकारी संस्था स्वयं किसी कार्य को न करके उस कार्य को करने की अनुमति व्यक्ति या संस्था को प्रदान करती है तो उसे लाइसेन्स फीस के रूप में आय प्राप्त होती है। जैसे दवा की बिक्री का लाइसेन्स या संचार सवा प्रदान करने का लाइसेन्स। लाइसेन्स प्राप्तकर्ता पर सरकार का नियंत्रण रहता है। फीस एवं
लाइसेन्स फीस में अन्तर है। फीस के बदले सरकार स्वयं सवा प्रदान करती है जबकि लाइसेन्स फीस के बदले व्यक्ति विशेष को सेवा प्रदान करने की अनुमति दी जाती है।

(**स) विशेष निर्धारण** जब सरकार द्वारा किये गये कार्यो से किसी क्षेत्र विशेष की सम्पत्ति के मूल्य में वृद्धि हो जाती है तो सरकार लाभप्राप्तकर्ताओं से एक विशेष प्रकार का कर वसूल करती है जिसे विशेष निर्धारण कहते हैं। जैसे सिंचाई परियोजन से क्षेत्र की कृषि भूमि की कीमत में वृद्धि हो जाए तो सरकार परियोजना की लागत का अंश भूस्वामियों से विशेष निर्धारण के रूप में प्राप्त कर सकती है। यह सामान्यतया स्थानीय सुधार के बदले लिया जाता है|

**(अर्थदण्ड या जुर्माना)** जब व्यक्ति या संस्थाओं के द्वारा सरकारी नियमों का उल्लंघन किया जाता है तो उनसे सरकार जुर्माना वसूल करती है। यद्यपि यह आय प्राप्ति के लिए नहीं लिया जाता, लेकिन जुर्मानों से भी सरकार को आय प्राप्त होती है।

**(iii) उपहार एवं अनुदान**

सरकार को देश की जनता विदेशी सरकारों एवं संस्थाओं से उपहार एवं अनुदान प्राप्त होते हैं। जनता युद्धकाल में, प्राकृतिक आपदाओं आदि के समय सरकार को स्वेच्छा से चन्दा या उपहार देती है जिससे सरकार को आय प्राप्त होती है। विकासशील देशों को अन्तरराष्ट्रीय संगठनों से भी विकास कार्यो के लिये बढ़ी अनुदान राशियाँ प्राप्त होती है।

इस प्रकार वर्तमान समय में सरकार अनेक स्रोतों से सार्वजनिक आगम प्राप्त करती है लेकिन आज भी कर सरकारों की आय का सबसे प्रमुख स्रोत है।

बोध प्रशन -

1. सार्वजनिक आगम का वर्गीकरण समझाइये |
2. शुल्क एवं लाइसेन्स फीस में अन्तर बताइये |
3. कर राजस्व एवं गैर कर राजस्व में क्या अन्तर है?

## 13.3 कर (Tax)

### 13.3.1 कर का अर्थ एवं विशेषताएं

कर व्यक्ति द्वारा राज्य को दिया जाने वाला एक अनिवार्य भुगतान है, जिसके बदले में उसे कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं मिलता है। सेलिगमैन के शब्दों में "कर सरकार को दिये जाने वाले उस अनिवार्य अंशदान को कहते हैं जो सबके सामान्य हित के लिये किये जाने वाले खर्चो के भुगतान में अदा किया जाता है और जिसके बदले में कोई विशेष लाभ नहीं दिया जाता है।" कर की विशेषताएं पूर्व में स्पष्ट की जा चुकी है :

(अ) यह वैधानिक सत्ता द्वारा निर्धारित होता है।

(छ) यह एक अनिवार्य भुगतान है।

(स) करों में “जैसे को तैसा” नहीं पाया जाता है।

(द) कर चुकाना व्यक्ति की स्वयं की जिम्मेदारी है।

(य) कर का उपयोग सार्वजनिक हित में किया जाता है।

(र) कर के भुगतान में करदाता को त्याग का अनुभव होता है।

- **करारोपण के उद्देश्य**

प्रत्येक देश में सरकार अर्थव्यवस्था की विशिष्ट स्थितियों के अनुरूप करों का निर्धारण करती है लेकिन करारोपण के सामान्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

(i) **राजकीय व्यय के लिये आय प्राप्त करना** बढ़ते हुए सार्वजनिक व्यय की पूर्ति के लिये सरकार अनेक प्रकार के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कर लगाती है। आर्थिक विकास व सामाजिक सेवाओं पर सरकार के बढ़ते व्यय ने अनेक प्रकार के नये करों को जन्म दिया है। जैसे भारत में वर्तमान में सेवाकर लगाया गया है।

(ii) **निजी मांग को नियमित करना** करों के द्वारा राज्य निजी उपभोग व निवेश मांग में कमी कर सार्वजनिक वस्तुओं के लिये वित्तयन करता है। कर द्वारा सरकार अनावश्यक एवं स्वास्थ्य के लिये हानिकारक वस्तुओं के उपभोग को भी नियन्त्रित करती है। जैसे सिगरेट, गुटका आदि पर ऊँची दरों से कर लगाया जाता है।

(iii) **समानताओं में कमी करना** कल्याणकारी राज्य का मुख्य उद्देश्य आय सम्पत्ति की विषमताओं को कम करना है। अमीर वर्ग पर अनेक प्रकार के कर ऊँची दर से लगाये जाते हैं जैसे आयकर, सम्पत्ति कर एवं गरीब वर्ग को करों से मुक्त रखा जाता है।

(iv) **स्थिरता के साथ विकास** अर्थव्यवस्था में स्थिरता को बनाये रखने के लिये सरकारें करारोपण का प्रयोग करती है। मंदी के समय करों में छूट प्रदान करके मांग में वृद्धि की जाती है एवं तेजी के समय ऊँची दर से करारोपण करके समस्त मांग में कमी करने का प्रयास किया जाता है।

(v) **बचत व निवेश को प्रोत्साहित करना** करों में छूट प्रदान करके सरकार बचतों को प्रोत्साहित करती है। जैसे भारत में डाकघर की विभिन्न बचत योजनाओं पर आयकर में छूट दी जाती है। इससे देश में तेजी से पूंजी निर्माण होता है और रोजगार एवं राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है।

(vi) **संरक्षण एवं प्रशुल्क नीति को सफलता** सरकार देश में शिशु उद्योगों को बढ़ावा एवं संरक्षण देने के लिये आयातों पर ऊँची दर से प्रशुल्क लगाती है। इसी प्रकार निर्यातों को बढ़ावा देने के लिये उन पर कर में छूट दी जाती है।

(vii) **उत्पादन पर नियंत्रण** करों के माध्यम से इच्छित बच्चों के उत्पादन को प्रोत्साहित किया जाता है। इन वस्तुओं पर उत्पाद शुल्क एवं बिक्रीकर में छूट दी जा सकती है। अवांछित वस्तुओं के उत्पादन पर ऊँची दर से कर लगाये जाते हैं।

अत: स्पष्ट है आधुनिक समय में करों का एक मात्र उद्देश्य आय प्राप्ति नहीं है वरन् राज्य इन्हें आर्थिक नीति के एक प्रभावी यंत्र के रूप में प्रयोग करता है।

### 13.3.2 करों का वर्गीकरण

करों को निम्नलिखित आधारों पर वर्गीकृत किया जाता है:

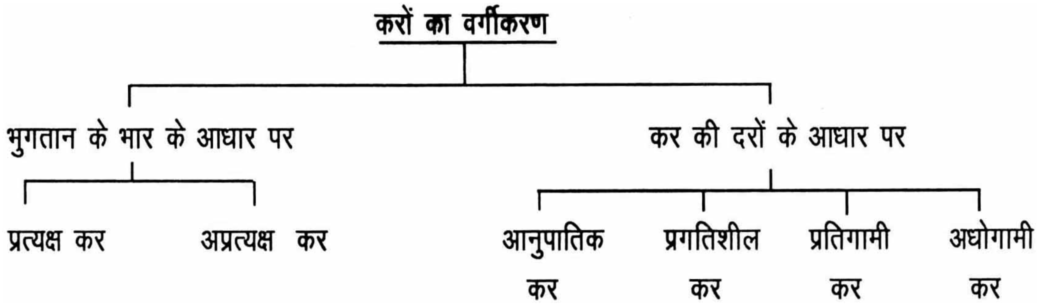

**(i) भुगतान के भार के आधार पर**

**(अ) प्रत्यक्ष कर** जिन करों का विवर्तन नही होता, उन्हें प्रत्यक्ष कर कहते हैं। अर्थात् जो व्यक्ति कर का भुगतान करता है वही वास्तव में इसके वित्तीय भार को वहन करता है। प्रत्यक्ष कर में कराघात एवं करापात दोनों एक ही व्यक्ति पर होते हैं। सामान्यतया आय, व्यय एवं सम्पत्ति पर लगाये गये करों को प्रत्यक्ष कर कहते है। आयकर, निगम-कर, सम्पत्ति-कर, उपहार-कर आदि प्रत्यक्ष कर है।

- **प्रत्यक्ष करों के गुण**

(i) ये कर, कर देय योग्यता के सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण प्रगतिशील होते हैं। अर्थात पर इन करों का भार अधिक पडता है।

(ii) ये निश्चितता के सिद्धान्त को पूरा करते हैं। करदाता एवं राज्य दोनों कर के बारे में पूर्ण जानकारी होती है।

(iii) यह लोगों में नागरिक भावना जाग्रत करते हैं जनता सरकार की गतिविधियों एवं सार्वजनिक व्यय में रूचि रखती है |

- **प्रत्यक्ष करों के दोष**

(i) प्रत्यक्ष करों की दर मनमाने ढंग से निर्धारित की जाती है।

(ii) इन करों में लोकप्रियता का अभाव होता है। करदाता को अपनी सम्पूर्ण आय का ब्यौरा रखना पड़ता है, इसलिये असुविधाजनक भी होते है।

(iii) ये कर आय एवं बचत की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। व्यक्ति इन करों की चोरी का प्रयास करते हैं।

(iv) प्रत्यक्ष कर एकत्र करने में सरकार को अधिक व्यय करना पड़ता है।

**(ब) अप्रत्यक्ष कर** जब कर चुकाने वाले तथा उसके भार को सहन करने वाले व्यक्ति अलग-अलग होते हैं, तो दे अप्रत्यक्ष कर होते हैं। कोई उत्पादक अपने समस्त उत्पादन पर एक बार तो सरकार को कर चुका दे किन्तु बाद में उस माल का विक्रय करके थोक अथवा फुटकर विक्रेताओं से एवं वे उसे उपभोक्ताओं से वसूल कर लें तो इसे अप्रत्यक्ष कर कहा जाता है। जैसे बिक्रीकर, उत्पाशुल्क, आयात-निर्यात कर, मनोरंजन कर आदि।

- **अप्रत्यक्ष करों के गुण**

(i) अप्रत्यक्ष कर सुविधाजनक होते हैं क्योंकि इनको वस्तु को खरीदते समय या सवा के उपभोग के समय लगाया जाता है। सरकार भी इन्हें उत्पादकों आदि से आसानी से एकत्र कर लेती है।

(ii) अप्रत्यक्ष करों की मात्रा मूल्य में सम्मिलित होती है। अत: इनसे आसानी से नहीं बचा जा सकता है।

(iii) अप्रत्यक्ष कर द्वारा प्रत्येक व्यक्ति राज्य के खजाने में अपना योगदान देता है। इस कारण सरकार को इन करों से काफी आय प्राप्त होती है।

(iv) अप्रत्यक्ष कर सिगरेट, शराब तथा अन्य हानिकारक वस्तुओं के उपभोग पर रोक लगाते हैं। इन पर सरकार ऊँची दरों से कर लगाती है।

- **अप्रत्यक्ष करों के दोष**

(i) अप्रत्यक्ष कर समानता के सिद्धान्त के विरुद्ध होते है। ये जनता पर समान रूप से लगाए जाते है इनका कर देय क्षमता से सीधा सम्बन्ध नहीं होती है। इनका भारत धनीवर्ग की अपेक्षा निर्धन वर्ग पर अधिक पड़ता है।

(ii) इनसे प्राप्त आय अनिश्चित होती है क्यों कि वस्तुओं की मांग पर करों के प्रभाव का सही-सही अनुमान लगान संभव नहीं होता है।

(iii) अप्रत्यक्ष कर स्फीति को बढ़ावा देते हैं। इन करों से वस्तुओं की कीमत और फिर लागत बढ़ जाती है। जिससे मजदूरी में वृद्धि होती है और अर्थव्यवस्था स्फीतिकारी होने लगती है।

(iv) अप्रत्यक्ष नागरिक चेतना जाग्रत नहीं करते हैं। कीमत में सम्मिलित होने के कारण उपभोक्ता को करभार का ज्ञान नहीं हो पाता है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कर दोनों के अपने गुण व दोष है। सार्वजनिक आगम के स्रोत के रूप में आधुनिक सरकारों द्वारा दोनों प्रकार के करों का उपयोग किया जाता है।

- **कर की दर के आधार पर वर्गीकरण**

कर भुगतान की दरों के आधार पर करों को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है :

(i) **आनुपातिक कर** आनुपातिक कर वह हैं जिसका कर आधार बढ़ने पर भी कर की दर समान रहती है। जैसे 10 प्रतिशत दर से कर लगाया जाए तो 100 रूपये आय पर 10 रूपये कर होगा, 1000 रूपये पर 100 रूपये एवं 1,00,000 रूपये पर 10,000 रूपये कर देना होगा। यद्यपि यह पद्धति सरल एवं निश्चित है पर न्यायपूर्ण उत्पादक एवं प्रगतिशील नहीं है। इसका भार अमीरों पर कम तथा गरीबों पर कम पड़ता है क्योंकि आय में वृद्धि के साथ-साथ मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता कम होती जाती है।

(ii) **प्रगतिशील कर** प्रगतिशील कर वह है, जिसकी प्रतिशत दर कर आधार में वृद्धि के साथ बढ़ती है। इसमें सामान्यतया एक न्यूनतम आय को कर मुक्त रखा जाता है एवं फिर आय में वृद्धि के साथ की दर तेजी से बढ़ती जाती है। इस अवस्था में प्राय: आय का विभाजन कुछ भागों में कर दिया जाता है और प्रत्येक उच्च आय स्तर पर कर की दर बढ़ती जाती है। जैसे भारत में आयकर प्रगतिशील प्रकृति के है। वर्तमान में 1 लाख 30 हजार तक की आय कर मुक्त है। 3 लाख तक की आय पर 10 प्रतिशत की दर से कर लगता है। 5 लाख तक 20 प्रतिशत

की दर से एवं उसके ऊपर की आय पर 30 प्रतिशत की दर से कर लगता है। प्रगतिशील कर प्रणाली को सार्वभौमिक मान्यता प्राप्त हुई है क्योंकि यह मानता एवं करभार में न्यायशीलता के सिद्धान्त के अनुरूप है। यह अमीरों पर अधिक व गरीबों पर कम कर भार डालती है। प्रगतिशील कर आय के वितरण में समानता लाने, का महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। ये कर लोचपूर्ण एवं स्फीति को नियंत्रित करने वाले होते हैं। लेकिन इन करों में मनमानापन पाया जाता है और ये बचत व पूँजी निर्माण को हतोत्साहित करते हैं।

(iii) **प्रतिगामी कर** यदि आय के आकार में वृद्धि के साथ कर की दर में गिरावट आती है या कर की दर घटती जाती है तो ऐसे कर को प्रतिगामी कर कहते हैं। इस प्रकार यह व्यवस्था कम आय वालों पर अधिक भार डालती है। उदाहरणार्थ यदि व 100 रूपये आय कमाने वाले को 10 प्रतिशत की दर से कर देना है तो 1000 रूपये पर 5 प्रतिशत एवम 10,000 रूपये आय पर कर की दर 2 प्रतिशत होगी। यद्यपि दुनिया की कोई भी सरकार इस प्रकार से करारोपण नहीं करती है। लेकिन बहुत से अप्रत्यक्ष करों की प्रकृति अवरोही या प्रतिगामी होती है। सभी आय वर्गो पर समान दर से कर लगाये पर गरीब वर्ग पर कर भार अधिक हो जाता है। ये कर उत्पादक, न्यायसंगत एवं मितव्ययी नहीं होते है।

(iv) **अधोगामी कर** इस प्रकार के करों में आनुपातिक तथा प्रगतिशील करों की दरों का मिश्रण होता है। इसमें प्रारम्भ में जो कर की दरों में वृद्धि होती है और बाद में आनुपातिक दर की प्रवृत्ति होती है। अधोगामी कर भी धनी व्यक्तियों पर कम एवं निर्धन व्यक्तियों पर अधिक भार डालते हैं। सारणी 13.1 की सहायता से हम निम्न प्रकार के कर की दरों को प्रदर्शित कर सकते हैं

**सारणी-13.1**

| आय का स्तर | आनुपातिक दर | प्रगतिशील दर | प्रतिगामी दर | अधोगामी दर |
|---|---|---|---|---|
| 1000 | 10% | करमुक्त | 30% | 5% |
| 5000 | 10% | 10% | 20% | 10% |
| 10,000 | 10% | 20% | 10% | 20% |
| 50,000 | 10% | 30% | 5% | 20% |

### 13.3.3 करारोपण के नियम

करारोपण को न्यायपूर्ण, समयानुकूल एवं वैज्ञानिक बनाने के लिये कुछ सामान्य सिद्धान्त बनाये गये है जिसके आधार पर अच्छी कर पद्धति को जांचा जा सकता है। करारोपण के नियम (Canons) किसी कर के व्यक्तिगत गुणों के नियम (Canons) कर की विशेषताओं को बताते हैं एवं एक अच्छे कर के गुणों के बारे में जानकारी देते है जबकि करारोपण के सिद्धान्तों (Principles) के द्वारा करों के भार का विभाजन किया जाता है।

इसी प्रकार करारोपण के सामान्य नियम किसी व्यक्तिगत कर का आंकलन करते हैं जबकि एक अच्छी कर प्रणाली में कर प्रणाली के सम्पूर्ण गुणों का समावेश होता है। कर एक ऐसा भुगतान है जिसमें त्याग निहित है। इस त्याग को सरल, सुविधाजनक एवं कम से कम कष्टदायक बनाना सरकार

का काम है। कर ढांचे को न्याय संगत बनाने के लिये सर्वप्रथम एडम स्मिथ ने चार सिद्धान्त बताए थे जिन्हें करारोपण के नियम या (Canons) कहा जाता है :

(i) **समानता का नियम** एडम स्मिथ के अनुसार "सरकार का कार्य चलाने के लिये सभी नागरिकों को अपनी योग्यता के अनुसार अंशदान करना चाहिये अर्थात अपनी आय के उस अनुपात में जो उन्होने क्रमश: राज्य की सुरक्षा के अन्तर्गत प्राप्त की है।" समानता का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को समान राशि के स्थान पर अपनी योग्यता के अनुसार कर चुकाना चाहिये अर्थात प्रत्येक करदाता को अपनी आय के अनुपात में कर का भुगतान करना चाहिये।

यद्‌यपि समानता को अर्थशास्त्रियों ने अलग-अलग तरीके से समझाया है लेकिन एडम स्मिथ को समानता से तात्पर्य यह था कि कर प्रणाली को ऐसा बनाया जाए कि सभी कर दाताओं को बराबर का त्याग करना पड़े। केवल प्रगतिशील कर अर्थात् बढ़ती हुई आय के साथ बढ़ती हुई कर की दर ही समानता के सिद्धान्त के अनुरूप है।

(ii) **निश्चिंतता का नियम** स्मिथ के अनुसार करारोपण में निश्चितता होनी चाहिए क्योंकि अनिश्चितता भष्टाचार को जन्म देती है। एडम स्मिथ के अनुसार "वह कर जिसका भुगतान करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति बाध्य है निश्चित होना चाहिए न कि मनमाना। भुगतान का समय विधि तथा मात्रा सभी करदाताओं एवं प्रत्येक अन्य व्यक्ति के लिये स्पष्ट तथा सरल होनी चाहिए।" इस नियम के अनुसार प्रत्येक करदाता को इस बात की स्पष्ट जानकारी होनी चाहिये कि उसे कब कहां तथा कितना कर अदा करना है।

निश्चितता का अर्थ यह भी है कि कर ऐसे होने चाहिये जिनसे सरकार को स्पष्ट आय प्राप्त हो। इससे शासन व्यवस्था सुचारू रूप से चलती है।

(iii) **सुविधा का नियम** इस नियम के अनुसार करदाताओं के लिये भुगतान की | विधि तथा समय सुविधाजनक होने चाहिये। एडम स्मिथ के शब्दों में "प्रत्येक कर ऐसे समय तथा विधि से लगाना चाहिये कि करदाता के लिये उसे देना सुविधाजनक हो |" भारत में भू-राजस्व का भुगतान इसी नियम के अनुसार किया जाता है। किसानों को इसे फसल की कटाई बाद चुकाना होता है। इसी प्रकार उत्पाद व बिक्री कर को भी वस्तु की कीमत के साथ लिया जाता है ताकि उपभोक्ताओं को कोई असुविधा न हो।

(iv) **मितव्ययिता का नियम** एडम स्मिथ के अनुसार "प्रत्येक कर की रचना इस प्रकार होनी चाहिये कि जो राशि राजकोष को प्राप्त हो उससे अधिक मात्रा में जनता की जेबों से कम कम कम धन निकाला जाए।" कर की मितव्ययिता का अर्थ है कर वसूली कर लागत, कुल कर राजस्व के प्रतिशत के रूप में कम कम होनी चाहिये। प्रत्येक कर को मितव्ययिता के नियम को दो प्रकार से संतुष्ट करना चाहिये। पहला, यह कि सरकार के लिये कर वसूली किफायती दर से हो। यदि कर अधिकारियों को दिया गया वेतन कर राशि से अधिक हो तो ऐसा कर अपव्ययी होगा और सरकार को इस प्रकार का कर नहीं लगाना चाहिए। दूसरा, कर करदाता के लिये भी किफायती होना चाहिये अर्थात् कर के भुगतान के पश्चात करदाता के पास पर्याप्त राशि बचनी चाहिये। कर भार इतना नहीं होना चाहिए कि अर्थव्यवस्था में उद्‌योग एवं व्यवसाय का विकास प्रभावित होने लगे। एडम स्मिथ द्‌वारा प्रतिपादित इन चार नियमों के अतिरिक्त करों को श्रेष्ठ बनाने के लिये अन्य अर्थशास्त्रियों द्‌वारा निम्न नियम बताये गये हैं :

(v) **उत्पादकता का नियम** इस नियम के अनुसार कर को इस प्रकार उत्पादक होना चाहिए कि वह सरकार के लिये पर्याप्त राजस्व ला सकें। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सरकार जनता पर भारी कर लगा दे। ऐसे करों से अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता पर विपरीत असर पड़ेगा। करों के उत्पादक होने का तात्पर्य है कि उनसे सरकार को पर्याप्त आय प्राप्त हो एवं उत्पादन की प्रक्रिया अल्पकाल एवं दीर्घकाल में समान रूप से चले।

(vi) **लोचशीलता का नियम** लोचशीलता के नियम के अनुसार सरकार सार्वजनिक आगम की अवश्यकता के अनुसार करों को बढ़ाने तथा घटाने में सक्षम होनी चाहिए अर्थात् कर लचीले होने चाहिए। बेस्टेबिल ने लोचशीलता के नियम को अधिक महत्व दिया था। उनके अनुसार कर ऐसे होने चाहिए कि जैसे-जैसे अर्थव्यवस्था का विकास हो कर के ढांचे में परिवर्तन किये बिना ही आय बढ़ती जाए। उत्पादन शुल्क इसका सबसे अच्छा उदाहरण है।

(vii) **सरलता का नियम** कर प्रणाली साधारण करदाताओं के लिये सरल,स्पष्ट तथा विवेकपूर्ण होनी चाहिए। जटिल कर अवस्था को समझने में जनता को कठिनाई होती है। करों को समझना एवं उनकी गणना करना आसान होना चाहिये। जटिल कर व्यवस्था करों की चोरी एवं भ्रष्टाचार को जन्म देती है।

(viii) **विविधता का नियम** करारोपण में विविधता होनी चाहिए। बहुत कम कर न तो सरकार की आवश्यकताओं को पूर्ण कर पाते है और न ही न्यायशीलता के नियम को संतुष्ट कर सकते हैं। एक देश में विभिन्न प्रकार के कर होने चाहिये ताकि सभी नागरिक अपनी सामर्थ्य के अनुसार सरकारी आगम में अपना योगदान दे सकें। प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों के उचित संयोग से सरकार पर्याप्त कर आगम प्राप्त कर सकती है।

(ix) **वांछनीयता का नियम** वांछनीयता से अभिप्राय कर की उपयुक्तता से लगाया जाता है। लोकतंत्र में सरकार को लगाये गये करों की उपयुक्तता एवं सार्थकता जनता के सामने स्पष्ट करनी होती है तभी नागरिक कर को समर्थन प्रदान करते हैं। ऐसा न होने पर जनता कर का विरोध करती है और सरकार को आलोचना का सामना करना पडता है।

(x) **समन्वय का नियम** इस नियम के अनुसार विभिन्न कर अधिकारियों के बीच समन्वय स्थापित होना चाहिये। लोकतंत्र में केन्द्र, राज्य एवं स्थानीय सरकारें एवं जिला पंचायते विभिन्न प्रकार के कर लगाती है। इसलिये करदाताओं एवं सरकार के लिये उचित होगा कि विभिन्न सरकारों के बीच कर लगाने में समन्वय हो।

## 13.4 एक अच्छी कर प्रणाली के गुण (Characteristics of a Good Tax System)

प्राचीनकाल से ही सरकारें ऐसी कर प्रणाली अपनाने का प्रयास करती रही है तो सर्वश्रेष्ठ हो अर्थात् आय की आवश्यकताओं को पूरा करे और जनता में भी लोकप्रिय हों। सामान्यतया एक अच्छी कर प्रणाली के बारे में कहा जा सकता है कि आय में वृद्धि होने के साथ करों की दरों में वृद्धि होनी चाहिए और करों का अधिकाधिक भार धनिक वर्ग पर पड़ना चाहिए। एक श्रेष्ठ कर प्रणाली उसे कहा जाता है जो करारोपण के नियमों का अधिकाधिक पालन करती हो। लेकिन व्यवहार में इस प्रकार की कर प्रणाली को अपनाना बहुत कठिन है। एडमण्ड वर्क का कथन इस सन्दर्भ में बिल्कुल उपयुक्त है,

"कर लगाना व लोगों को प्रसन्न रखना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार प्यार करना व बुद्धिमान होना |"देश एवं अर्थव्यवस्था की परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ भी कर प्रणाली में परिवर्तन होते रहते हैं। एक उपयुक्त कर प्रणाली में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है :

(i) **करारोपण के सिद्धान्तों के अनुरूप** एक आदर्श कर प्रणाली में करारोपण के विभिन्न सिद्धान्तों की पूर्ति होनी चाहिए। उसमें समानता, निश्चितता, सुविधा व मितव्ययिता के गुण होने चाहिये। कर का आधार विस्तृत होना चाहिए और प्रशासनिक दृष्टि से कर प्रणाली सरल एवं भ्रष्टाचार से मुक्त होनी चाहिए।

(ii) **विविधता** कर प्रणाली में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों का ऐसा मिश्रण होना चाहिए कि समाज के सभी व्यक्ति कर के रूप में अपना योगदान दे सकें। इससे समाज को कर भार कम प्रतीत होगा एवं सरकार को अधिक आय प्राप्त होगी। प्रत्यक्ष करो का भार धनिकों पर एवं अप्रत्यक्ष करों का भार निर्धन वर्ग पर अधिक होने से सभी गर्म पर कर भारत वितरित हो सकेगा।

(iii) **न्यायशीलता** एक अच्छी कर प्रणाली वह है जिसमें करों का वितरण इस प्रकार को कि देश का प्रत्येक नागरिक अपनी क्षमता के अनुसार कर चुकाए एवं आय की समानता स्थापित करने में सहायता मिलें। इसीलिये प्रगतिशील कर प्रणाली को उपयुक्त माना जाता है। प्रगतिशील कर समाजवादी अर्थव्यवस्था के मूलभूत उद्देश्य 'आय की समानता को प्राप्त करने में सहायक होते हैं।

(iv) **पर्याप्तता** एक अच्छी कर प्रणाली वह है जिसमें बार-बार विशेष परिवर्तन न करना पड़े। देश की जनता की आय में वृद्धि के साथ-साथ सरकार की आय में भी वृद्धि होती जाए एवं सरकार को जल्दी-जल्दी नये कर न लगाने पड़े। प्रत्येक नये कर का जनता में विरोध होता है इसलिये कम से कम नये कर लगाने की आवश्यकता हो।

(v) **मितव्ययिता** राज्य की कर व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कर की वसूली में सरकार तथा जनता को बहु त कम राशि, समय एवं शक्ति खर्च करनी पड़े। यदि किसी कर के संग्रहण की राशि, कर से प्राप्त आय की तुलना में अधिक हो तो ऐसे करों को त्याग देना चाहिये। सरकार को कर वसूलने वाली मशीनरी को कुशल एवं ईमानदार बनाने का प्रयास करना चाहिये।

(vi) **कर वंचन की कम सम्मावना** एक अच्छी कर प्रणाली वह मानी जाती है जिसमें कर चोरी की सम्भावना न्यूनतम हो। बहु त जटिल ख्वं अत्यधिक ऊँची दर वाली कर प्रणाली कर वंचन को प्रोत्साहित करती है। अत: कर प्रणाली में विभिन्न करों में इस प्रकार सामंजस्य बिठाना चाहिये कि कर चोरी को रोका जा सकें।

(vii) **अधिकतम सामाजिक लाभ** कर प्रणाली सबसे बड़ा गुण उसका अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त केअनुरूप होना है। डॉल्टन के अनुसार "करारोपण की सर्वोत्तम प्रणाली वही है जिससे अधिकतम लाभ मिले एवं बुरे आर्थिक प्रभाव कम से कम पड़े। करदाता से जब कर लिया जाता है तो उसे त्याग करना पड़ता है और सरकार जब इस राशि को व्यय करती है तो समाज को लाभ प्राप्त होता है। जब लाभ अधिकतम होता है तभी सामाजिक कल्याण में वृद्धि होती है |"

(viii) **परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुरूप** एक अच्छी कर प्रणाली वह है जो अर्थव्यवस्था की स्थितियों के अनुरूप स्वयं को ढाल सकें। उसमें लचीलापन होना चाहिए अर्थात संकट के समय

करों की दरों में वृद्धि की जा सकें एवं नये कर लगाए जा सके। कर प्रणाली सार्वभौमिक होनी चाहिए ताकि समान परिस्थिति वाले व्यक्तियों पर समान करभार पड़े।

इसके साथ ही करों को आय उपार्जन की प्रेरणा, बचत, निवेश एवं उत्पादन को हतोत्साहित करने वाला नहीं होना चाहिए।

भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्था में कर प्रणाली को इसके अतिरिक्त थी कुछ विशेष कार्य सम्पन्न करने होते है। प्रो. राजा चैलैया के अनुसार "एक विकासशील देश में अच्छी कर प्रणाली का कार्य यह होना चाहिए वह अर्थव्यवस्था में उत्पन्न आर्थिक अतिरेक को गतिशील करें। आर्थिक अतिरेक उस अन्तर को कहते हैं जो वास्तविक चालू उत्पादन तथा उपभोग के बीच पाया जाता है। भारत जैसे देश में इसका एक बड़ा हिस्सा कृषि क्षेत्र में उत्पन्न होता है और किसान इसे उत्पादक कार्यो में नहीं लगाते हैं। अत: आर्थिक विकास की दृष्टि को कर प्रणाली का कार्य यह है कि वह इस अतिरेक को गतिशील करें और उत्पादक कार्यो में निवेश करें।"

अत: विकासशील अर्थव्यवस्था में कर प्रणाली को अनावश्यक उपभोग को नियंत्रित करना होता है और विकास के लिए अतिरिक्त साधन जुटाने पड़ते हैं। विलासिता की वस्तुओं पर ऊँचे कर लगाकर अनावश्यक उपभोग को रोका जा सकता है एवं करों में छूट की व्यवस्था से बचतों को प्रोत्साहित किया जा सकता है। विकासशील अर्थव्यवस्था में एक अच्छी कर प्रणाली को मुद्रा प्रसार की प्रवृत्तियों पर नियंत्रण भी रखना पडता है।

बोध प्रशन - 2

1. प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों में अन्तर स्पष्ट कीजिये |
2. प्रगतिशील एवं प्रतिगामी करों का अन्तर उदाहरण सहित समझाइये |
3. एक अच्छी कर प्रणाली की विशेषताएं बताइये |

## 13.5 करारोपण के सिद्धान्त (Canons of Taxation)

### 13.5.1 करारोपण में न्यायशीलता की समस्या

करारोपण के अन्तर्गत मुख्य समस्या करदान योग्यता के माप की है अर्थात् सरकार करों का भार समाज के विभिन्न वर्गों पर किस अनुपात में डाले। अर्थशास्त्र में इस समस्या को करारोपण में न्यायशीलता की समस्या के नाम से जाना जाता है। प्राचीनकाल से ही अर्थशास्त्री कर प्रणाली को न्यायपूर्ण बनाने के लिये विभिन्न सिद्धान्तों की रचना करते आए हैं।

करारोपण में न्याय या समानता में एक अच्छी कर प्रणाली का सबसे आवश्यक गुण होता है। करों में समानता या न्यायशीलता की कोई सर्वमान्य या निश्चित परिभाषा देना सम्भव नहीं है क्योंकि न्यायशीलता सदैव मूल्य सम्बन्धी निर्णयों पर निर्भर करती है। समानता का अभिप्राय करभार का समाज के विभिन्न सदस्यों पर समाज वितरण से होता है इस समस्या के दो मुख्य पहलू होते हैं -प्रथम, समान स्थिति के व्यक्तियों से समान मात्रा में कर वसूल किया जाए, इसे क्षैतिज सम्बद्धता कहते हैं। द्वितीय, असमान परिस्थिति वाले व्यक्तियों से असमान व्यवहार किया जाए अर्थात् समाज के धनिक व निर्धन वर्ग से अलग-अलग मात्रा में कर वसूला जाए इसे लम्बवत समता कहते हैं। इन दोनों मापदण्डों के आधार पर कर प्रणाली को न्यायपूर्ण बनाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में अनेक प्रणाली को न्यायपूर्ण

बनाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार हैं:

### 13.5.2 लाभ का सिद्धान्त

जे.एस.मिल ने इस सिद्धान्त को "जैसे को जैसा" (Quid Proquo) का नाम दिया है। 'लाभ' करों के भार के वितरण के आधार का कार्य करता है। लिण्डाल, मेजोला आदि ने भी लाभ सिद्धान्त का समर्थन किया है। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति पर उतना ही कर लगाना चाहिए जितना उसे राजकीय संरक्षण में लाभ मिलता है। एक देश के नागरिकों को सुरक्षा, सड़क, बिजली, पानी, सड़के आदि सुविधाएं राज्य की तरफ से प्राप्त होती है। इनमें से कुछ सुविधाओं के बदले सरकार नागरिकों से फीस प्राप्त करती है लेकिन अनेक सुविधाएं यथा सुरक्षा आदि के लिये कोई शुल्क नहीं लिया जाता है। लाभ सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक नागरिक को राज्य से प्राप्त सुविधाओं के अनुपात में कर देना चाहिये।

- **लाभ सिद्धान्त की कई विशेषताएं हैं:**

(i) यह सरकार द्वारा कर लगाने के औचित्य को सिद्ध करता है।

(ii) इससे सरकार के बजट के दोनों पहलू आय एवं व्यय का महत्व स्पष्ट हो जाता है

(iii) बजट की आवंटन शाखा के समाधान में यह सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है क्यों कि यह सरकार द्वारा प्रदत्त सेवाओं और नागरिकों के अधिमानों को एक साथ स्पष्ट करता है, लोकतंत्र में यह प्रक्रिया बजट निर्धारण का आवश्यक अंग हैं |

- **सिद्धान्त को कठिनाईया**

(i) **लाभ मात्रात्मक नहीं** लाभ व्यक्तिगत होते हैं जिन्हें प्रत्यक्ष रूप से मापा नहीं जा सकता है। लाभों का निर्धारण भी गुणवत्ता के अनुसार किया जाता है इन्हें मात्रात्मक रूप से नहीं माप सकते हैं।

(ii) **अवास्तविक मान्यता** सरकार की विविध प्रकार की जटिल क्रियाओं से प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त लाभों की गणना एवं मूल्यांकन किया जा सकता है, यह मान्यता पूर्णत: अवास्तविक है। यथा प्रत्येक नागरिक को सुरक्षा व्यवस्था से व्यक्तिगत रूप से कितना लाभ हो रहा है। इसकी गणना करना लगभग असम्भव है।

(iii) **कर की परिभाषा के विरूद्ध** कर सरकार को दिया गया एक अनिवार्य भुगतान है जिसके बदले कोई प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त नहीं होता है। यह सिद्धान्त इस परिभाषा के बिल्कुल विपरीत है। लाभ सिद्धान्त से तो कर एक शुल्क या फीस का रूप से लेगा।

(iv) **न्यायसंगत सिद्धान्त नहीं** सरकार की क्रियाओं से समाज के निर्धन एवं कमजोर वर्ग को अधिक लाभ प्राप्त होता है। इस सिद्धान्त का पालन करने पर कर का अधिकांश भार समाज के निर्धन वर्ग पर पड़ेगा। यह न्यायसंगत नहीं है।

### 13.5.3 सेवा की लागत का सिद्धान्त

यह सिद्धान्त भी लाभ सिद्धान्त की तरफ है। इसके अनुसार सरकारी सेवाओं की लागत, कर का निर्धारण करती है। इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार एवं नागरिकों के मध्य एक विनिमय सम्बन्ध

होता है। सरकार सेवाओं की विक्रेता है एवं नागरिक उस सेवा के क्रेता है। एक व्यक्ति कर के रूप में सरकार द्वारा प्रदत्त सेवाओं की लागत का भुगतान करता है। व्यूहलर के अनुसार करों को सरकार द्वारा प्रदान की गयी सेवाओं की लागत के आधार पर लगाया जाना चाहिये और जनता को सरकारी सेवाओं को चुनने या अस्वीकृत करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। डाल्टन के अनुसार डाक सेवाओं, विधुत, पानी आदि सेवाओं की पूर्ति पर इस सिद्धान्त को लागू किया जा सकता है। जो व्यक्ति सरकारी सेवाओं का अधिक उपयोग करे उस पर अधिक कर लगाना चाहिये एवं जो उपयोग नही करता उससे कोई कर नहीं लेना चाहिये। इस सिद्धान्त की निम्न आलोचनाएँ की जाती है

(i) **अन्यायपूर्ण** लाभ सिद्धान्त की तरफ सवा की लागत का सिद्धान्त भी न्यायशीलता के विरूद्ध है। शिक्षा, चिकित्सा आदि सरकारी सेवाओं का ज्यादा लाभ समाज का निर्धन वर्ग उठाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकांश कर भार इस वर्ग पर पड़ेगा।

(ii) **लागत की माप कठिन** सरकार की विभिन्न सेवाओं की प्रति व्यक्ति लागत को मापना कठिन है। बांध, सड़कें, सुरक्षा व्यवस्था आदि की प्रति व्यक्ति लागत को मापना कठिन है।

(iii) **दोषपूर्ण कर धारणा** यह सिद्धान्त भी कर की परिभाषा के विरूद्ध है। कर सरकारी व्यय हो पूरा करने के लिये होते है किसी एक व्यक्ति या समूह की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये नहीं होते है।

(iv) **अकुशल प्रशासन के अन्तर्गत जनता पर अधिक करभार** प्रशासन तन्त्र जितना अकुशल होगा सेवा की लागत उतनी ही अधिक आएगी। ऐसे में जनता को अनावश्यक रूप से अधिक कर भार वहन करना पड़ेगा।

आधुनिक समय में सरकारें एक व्यवसायी फर्म की तरफ नहीं वरन् कल्याणकारी राज्य की अवधारणा पर कार्य करती है ऐसे में सेवा की लागत के सिद्धान्त का महत्व बहुत कम हो जाता है।

### 13.5.4 भुगतान सामर्थ्य का सिद्धान्त

यह सिद्धान्त करारोपण का सबसे न्यायसंगत व स्वीकृत सिद्धान्त है। इसमें कर को मूल्य या कीमत के रूप में नहीं देखा जाता है। न्याय के नियमानुसार कर भार का वितरण व्यक्तियों की सापेक्षिक सामर्थ्य के अनुसार किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक नागरिक को जिनके पास आय या धन का स्रोत है उन्हें सरकार के व्ययों को पूरा करने के लिये अपना अंशदान देना चाहिये। इस सिद्धान्त में करों के भुगतान को सामूहिक दायित्व के रूप में माना जाता है।

धनी वर्ग की भुगतान की सामर्थ्य निर्धन वर्ग की अपेक्षा अधिक होती है। अत: यह सिद्धान्त उन पर अधिक कर लगाने की सिफारिश करता है। निर्धन वर्ग पर कम दर से कर लगाना चाहिये या उसे कर मुक्त रखना चाहिये। यह सिद्धान्त समाजवादी विचार धारा के काफी नजदीक है क्योंकि समाजवाद भी आय की विषमता को न्यूनतम करने पर बल देता है।

- **भुगतान सामर्थ्य का माप** इस सिद्धान्त में सबसे बड़ी समस्या भुगतान-सामर्थ्य के माप की है। विभिन्न व्यक्तियों की कर देने की क्षमता को कैसे मापा जाए, इस सम्बन्ध में दो धारणाएं है -(i) व्यक्तिपरक (Subjective) (ii) वस्तुपरक (Objective)

(i) **व्यक्तिपरक धारणा (Subjective)** यह धारणा करदाता की मनौवैज्ञानिक स्थिति पर आधारित है। प्रत्येक कर के भुगतान में करदाता पर कुछ भार या त्याग सम्मिलित होता है। प्रत्येक

कर का भुगतान करदाता करता है। अत: न्यायशीलता या कल्याण के रूप में उसकी भुगतान सामर्थ्य के माप की विवेचना करते है। इस धारणा के अनुसार प्रत्येक कर दाता को अपनी आय का ध्यान किये बिना त्याग की समान मात्रा सहन करनी चाहिए। यह सिदान्तो निम्न मान्यताओं पर आधारित है।

(अ) सीमान्त उपयोगिता को संख्यात्मक रूप से मापा जा सकता है।

(ब) आय में वृद्धि के साथ आय की सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है।

(स) प्रत्येक करदाता की आय उपयोगिता फलन की विशेषताएं समान है।

इन मान्यताओं के आधार पर समान त्याग का विश्लेषण किया गया है। समान त्याग के विचार के तीन रूप प्रचलित हैं :-

(ii) **समान निरपेक्ष त्याग** इस सिद्धान्त के अनुसार करारोपण के कारण उपयोगिता की कुल हानि या त्याग सब करदाताओं के लिये समान होनी चाहिए। जैसे-जैसे मौद्रिक आय बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता धीरे-धीरे कम होती जाती है। अत: जिस करदाता की आय अधिक है वह अधिक कर देगा और कम आयवाला करदाता निश्चित रूप से कम कर चुकाएगा। लेकिन कर से होने वाला त्याग दोनों व्यक्तियों के लिये समान रहेगा।

(iii) **समान आनुपातिक त्याग** करारोपण के कारण उपयोगिता की हानि या त्याग करदाताओं की कुल आय के अनुपात में होना चाहिए। अधिक आय वाला करदाता अधिक कर का भुगतान करेगा एवं कम आय वाला करदाता कर की कम राशि का भुगतान करेगा लेकिन त्याग व आय का अनुपात सभी करदाताओं के लिये समान रहेगा। यदि A और B दो करदाता है, तो-

$$\text{कर का भार} = \frac{\text{A द्वारा त्याग}}{\text{A की आय}} = \frac{\text{B द्वारा त्याग}}{\text{B की आय}}$$

यहां प्रगतिशील करारोपण होगा क्योंकि आय में वृद्धि के साथ उसकी सीमान्त उपयोगिता कम होती जाती है।

(iv) **समान सीमान्त त्याग या न्यूनतम कुल त्याग** इसके अनुसार करदाताओं का सीमान्त त्याग समान होना चाहिए। विभिन्न करदाताओं के मध्य कर का भार इस ढंग से बांटा जाए कि एक व्यक्ति द्वारा कर देने के बाद शेष आय की सीमान्त उपयोगिता सभी व्यक्तिगत कर न्यूनतम हो। इससे समान सभी का अधिकतम कल्याण होगा। प्रो. पीगू के अनुसार "न्यूनतम कुल त्याग का सिद्धान्त वह है जो समुदाय के सभी सदस्यों द्वारा उठाये गये सीमान्त त्याग को समान करता है। धनी वर्ग की आय की सीमान्त उपयोगिता कम होती है इसलिये उन पर ऊँची दर से एवं निर्धन वर्ग पर कम दर से कर लगाया जाता है। अल्प आय वर्ग को इसमें करमुक्त रखा जाता है। यह सिद्धान्त प्रगतिशील व्यवस्था का समर्थन करता है।"

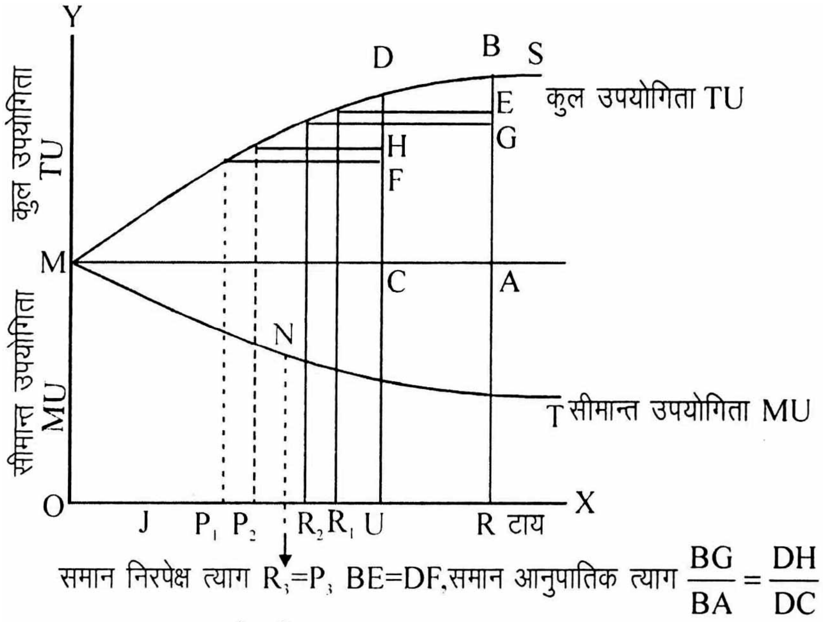
Y
कुल उपयोगिता TU
सीमान्त उपयोगिता MU
D
B
S
E
कुल उपयोगिता TU
G
H
F
M
C
A
N
T सीमान्त उपयोगिता MU
O
J
$P_1$
$P_2$
$R_2$
$R_1$
U
R आय
X
समान निरपेक्ष त्याग $R_3=P_3$ BE=DF,समान आनुपातिक त्याग $\frac{BG}{BA}=\frac{DH}{DC}$

रेखाचित्र 13.1

निरपेक्ष त्याग, समान आनुपातिक त्याग एवं समसीमान्त त्याग तीनों को चित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। चित्र में OX अक्ष पर आय एवं OY अक्ष पर कुल एवं सीमान्त उपयोगिता प्रदर्शित की गयी है।

माना धनी व्यक्ति की आय OR एवं निर्धन की OU है एवं कुल उपयोगिता AB व CD है। माना सरकार RJ कर वसूल करना चाहती है।

- समान निरपेक्ष त्याग के अनुसार धनी $RR_1$ तथा निर्धन $UP_1$ कर भुगतान करे तो कर की कुल राशि RJ प्राप्त होगी एवं धनी व्यक्ति का त्याग BE एवं निर्धन का त्याग DF होता है। यहाँ BF=DF पर समान निरपेक्ष त्याग है।
- समान आनुपातिक त्याग की स्थिति में धनी व्यक्ति, $RR_2$ एवं निर्धन व्यक्ति $UP_2$ कर प्रदान करेंगे। कर के पश्चात् दोनों व्यक्तियों का त्याग $\frac{BG}{BA}=\frac{DH}{DC}$ होगा। यह समान आनुपातिक त्याग होगा।
- समान सीमान्त त्याग की स्थिति में धनी व्यक्ति $RR_3$ एवं निर्धन $UP_3$ कर अदा करेंगे $(R_3 = P_3)$, दोनों व्यक्तियों का सीमान्त त्याग $R_3n= P_3 n$ होता है। यहाँ कुल त्याग न्यूनतम हो जाता है। यह सर्वाधिक प्रगतिशील कर प्रणाली को इंगित करता है।

व्यक्तिगत विचारधारा के अनुसार कर व्यवस्था प्रगतिशील होती है- जो व्यक्ति जितना धनी होता है। आय की सीमान्त उपयोगिता उसके लिये उतनी ही कम होती है, और कर के रूप में भुगतान की गयी आय से होने वाला त्याग भी उतना ही कम होगा। अत: उसकी कर देने की क्षमता उतनी ही अधिक होगी। निर्धन व्यक्ति के लिये आय की सीमान्त उपयोगिता अधिक होती है, अत: उस पर कम कर लगाया जा सकता है।

यह सिद्धान्त न्यायशीलता की धारणा के अनुरूप है। लेकिन व्यवहार में इसे लागू करने में कई कठिनाइयाँ आती है। उपयोगिता को संख्यात्मक रूप से मापना कठिन है, उनकी अन्त: वैयक्तिक तुलनाएँ करना संभव नहीं है। ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता को मापना कठिन है।

(i) **वस्तुपरक धारणा** व्यक्तिपरक धारणा व्यवहारिक नहीं है क्योंकि मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं को मापना कठिन है। इसलिये अनेक अर्थशास्त्री वस्तुपरक धारणा को अपनाते हैं। इसके अनुसार कर देने की क्षमता को निर्धारित करने वाली कसौटियाँ संपत्ति, आय एवं व्यय है।

(ii) **संपत्ति अथवा धन** इस कसौटी के अनुसार जिसके पास अधिक सम्पत्ति है उसे अधिक कर देना चाहिये एवं जिनके पास कम सम्पत्ति है वह कम कर देगा। संपत्ति आर्थिक शक्ति की प्रतीक है, जो व्यक्ति आर्थिक तौर से शक्तिशाली है उसे अधिक कर देना चाहिए। धन जोखिम के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करता है इसलिये इसे कर देय सामर्थ्य का आधार बनाना चाहिये। आजकल सम्पत्ति की अपेक्षा आय को भुगतान सामर्थ्य का आधार माना जाता हे।

(iii) **आय** व्यक्ति की भुगतान सामर्थ्य का आधार आय को माना जाता है। इस मापदण्ड के अनुसार व्यक्ति पर उसकी आय के अनुपात में कर लगाना चाहिये। निम्न आय वर्ग पर कर नहीं लगाना चाहिये एवं आय में वृद्धि के साथ कर की दर में वृद्धि होनी चाहिये। इस मापदण्ड की भी कुछ कठिनाइयां है, अर्जित व अनार्जित आय में अन्तर नहीं किया जाता है। दो समान आय वाले व्यक्तियों के परिवार एवं उत्तरदायित्वों में अन्तर हो सकता है। ऐसे में दोनों व्यक्तियों की भुगतान सामर्थ्य के लिये लोग आय को छुपाते हैं।

(iv) **उपभोग व्यय -** एक व्यक्ति का उपभोग व्यय भुगतान सामर्थ्य को निर्धारित करने का आधार है। हॉब्स कैल्डर आदि ने इसका समर्थन किया है। अधिक व्यय करने वालों पर अधिक कर लगाना वाहिये एवं कम व्यय करने वालों पर अधिक कर लगाना चाहिये एवं कम व्यय करने वालों पर कम कर लगाना चाहिये। लेकिन उपभोग पर कम व्यय में कमी कर देगा जिसका कार्यक्षमता एवं उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा।

वर्तमान में आय को भुगतान सामर्थ्य का प्रमुख सूचक माना जाता है। भुगतान सामर्थ्य सिद्धान्त कर मार के वितरण का मुख्य सिद्धान्त है। करारोपण में न्याय, समानता और अधिकतम कल्याण की प्राप्ति के लिये वर्तमान में इस सिद्धान्त को सर्वाधिक उपयुक्त समझा जाता हैं।

## 13.6 सारांश (Summary)

वर्तमान समय में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के विकास के साथ सरकार के कार्यो में बहुत अधिक वृद्धि हो गयी है। इसीलिये सरकार के व्यय भी बढ़ गये हैं। अपने समस्त व्ययों की पूर्ति के लिये विभिन्न स्रोतों से सरकार जो आय प्राप्त करती है,उसे सार्वजनिक आगम कहते हैं। सार्वजनिक आगम के दो महत्वपूर्ण स्रोत हैं-कर राजस्व एवं गैर कर राजस्व। कर सरकार की आय का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। सरकार प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों के द्वारा आय प्राप्त करती है। कर प्रगतिशील, आनुपातिक एवं प्रतिगामी व अधोगामी हो सकते हैं। करों के कारण जनता को त्याग का अनुभव होता है इसलिये करारोपण इस प्रकार से किया जाना चाहिये कि जनता को कम से कम असुविधा हो। एडम स्मिथ ने चार करारोपण के नियम (Canons) दिये हैं। एक अच्छी कर प्रणाली वह है, जिसमें करारोपण के नियमों का अधिक से अधिक पालन किया जाए।

करारोपण में न्यायशीलता या समानता के द्वारा यह निर्धारित किया जाता है कि करों का भार समाज के विभिन्न वर्गो पर किस अनुपात में डाला जाए। इस समय में अनेक सिद्धान्त प्रचलित है, जिसमें से लाभ का सिद्धान्त, सेवा की लागत का सिद्धान्त एवं भुगतान सामर्थ्य सिद्धान्त प्रमुख है। करारोपण में न्याय एवं समानता की प्राप्ति के लिये भुगतान सामर्थ्य सिद्धान्त को सर्वाधिक उपयुक्त समझा जाता है।

## 13.7 शब्दावली (Glossary)

| | |
|---|---|
| शुल्क (fee) | सवा की प्राप्ति के लिये किया गया भुगतान। |
| Quid Proquo | जैसे को तैसा, प्राप्त लाभ के अनुपात में भुगतान। |
| लोचशीलता (Flexibility) | आवश्यकतानुसार कमी एवं वृद्धि करना सम्भव हों। |
| कर वंचन (Tax Evasion) | करों की चोरी, सामान्यतया करों की ऊँची दरें कर वंचन को प्रोत्साहित करती है। |
| क्षैतिज समता (Horizental Equality) | समान स्थिति वालों से समान व्यवहार। |
| लम्बवत समता (Vertical Equality) | असमान स्थिति वालों से असमान व्यवहार। |

## 13.8 सन्दर्भ ग्रन्थ (References)

प्रेम प्रकाश शर्मा, “सार्वजनिक वित्त सिद्धान्त”

राजा जे.चैलेया, "Fiscal Policies in Under developed Countries”, Publishing House.

डा.एच.सी.शर्मा, "मुद्रा बैंकिंग तथा राजस्व”

D.M.Mithani, “Money, Banking, International Trade and Finance”, Himalaya Publishing House, Mumbai.

H.L. Bhatia, “Public Finance”, S. Chand and Company.

एम.एल.झिंगन, “मुद्रा बैंकिंग, अन्तरराष्ट्रीय व्यापार एवं लोक वित्त”

## 13.9 अभ्यासार्थ प्रश्न (Unit-end Questions)

1. सार्वजनिक आगम के विभिन्न स्रोतों की विवेचना कीजिये?
2. कर को परिभाषित कीजिये तथा प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों के गुण-दोषों की विवेचना कीजिये।
3. करारोपण के भुगतान सामर्थ्य सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।
4. करारोपण में न्याय या समता से क्या आशय है? करारोपण में न्यायशीलता को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है?

# इकाई -14

# कराघात एवं करापात के सिद्धान्त-पूर्ण प्रतियोगिता एवं एकाधिकार में कर विवर्तन

# (Impact and Incidence of Taxation - Tax Shifting under Perfect Competition and Monopoly)

**इकाई की रूपरेखा**

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 कराघात का अर्थ
14.3 करापात का अर्थ
    14.3.1 कराघात व करापात में अन्तर
    14.3.2 करापात व कर के प्रभाव में अन्तर
    14.3.3 करापात व कर विवर्तन में अन्तर
    14.3.4 करामात का वर्गीकरण
14.4 कर विवर्तन
    14.4.1 कर विवर्तन के प्रकार
    14.4.2 करापात के सिद्धान्त
    14.4.3 मांग व पूर्ति की लोच का कर विवर्तन पर प्रभाव
    14.4.4 कर भार व उत्पत्ति के नियम
14.5 उत्पादन की दशायें व कर विवर्तन
    14.5.1 पूर्ण प्रतियोगिता में कर विवर्तन
    14.5.2 एकाधिकार में कर विवर्तन
14.6 सारांश
14.7 शब्दावली
14.8 संदर्भ ग्रन्थ
14.9 अभ्यासार्थ प्रशन

## 14.0 उद्देश्य (Objective)

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ सकेंगे कि :

- कराघात द करापात का क्या आशय है?
- करों का विवर्तन किस प्रकार होता है?
- करापात के कौन से सिद्धान्त है?

- करों के विवर्तन को निर्धारित करनें वाले कारक कौन से है?
- पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार की स्थिति में कर विवर्तन किस प्रकार होता है?

## 14.1 प्रस्तावना (Introduction)

करों का भार सदैव उस व्यक्ति पर नहीं पड़ता जिससे यह वसूल किया जाता है। अनेक बार यह अन्य व्यक्तियों द्वारा सहन किया जाता है। करों के लगाने से करदाता को त्याग करना पड़ता है। इसलिए सर्वोत्तम कर प्रणाली के निर्धारण के लिए यह जानना आवश्यक होता है कि किन लोगों पर करों का कितना भार पड़ रहा है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सरकार जिन लोगों पर कर लगाती है उनकी अपेक्षा कर का भार उन पर अधिक होता है जिन पर कर नहीं लगाया जाता है। अत: सामाजिक न्याय दिलाने व जन-असंतोष को दूर करने के लिए आवश्यक है कि कर भार की सही जानकारी प्रशासन को हो।

इस प्रकार कर लगाने की प्रक्रिया में तीन बातें विशेष रूप से सम्बद्ध होती है। प्रथम- कर किसी व्यक्ति पर लगाया जाता है, दूसरा- वह कर को किसी व्यक्ति की ओर स्थानान्तरित कर सकता है। तीसरा- उस कर का भार अंतिम रूप से वह दूसरा व्यक्ति ही वहन कर सकता है अथवा वह इस कर को कुछ अन्य ऐसे लोगों के पास स्थानान्तरित कर सकता है, जो उसे अंतिम रूप से स्वीकार कर ले।

वह व्यक्ति जो प्रारम्भिक रूप से कर की अदायगी करता है व उसके अंतिम भार को वहन नहीं करता, इस कर की देयता या कराघात (Impact) को वहन करता है। कर के स्थानान्तरण की प्रक्रिया को कर का विवर्तन (Shifting of Tax) का नाम दिया जाता है। अंतिम करदाता पर कर भार के निर्धारण को कर का भार या कर की बाध्यता (Cincidence of Tax) कहा जाता है।

प्रस्तुत इकाई में कराघात, करापात तथा कर विवर्तन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण तथ्यों का समावेश किया गया है। इस इकाई के खण्ड 14.2 में कराघात तथा खण्ड 14.3 में करापात का अर्थ देते हुए कराघात एवं करापात में अन्तर बताया गया है। अगले खण्ड 144 में आप करापात और कर प्रभाव में अन्तर तथा करापात एवं कर विवर्तन में अन्तर का अध्ययन करेंगे। खण्ड 14.4 में कर विवर्तन का अर्थ तथा प्रकार एवं इनके सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। इसमें आप मांग व पूर्ति की लोच, उत्पत्ति के नियमों तथा बाजार दशाओं का कर विवर्तन पर प्रभाव को समझ सकेंगे। खण्ड 14.5 में बाजार दशाओं में पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार के अन्तर्गत कर विवर्तन की चर्चा की गई है। इकाई के अन्त में सारांश, शब्दावली, सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची तथा अभ्यासार्थ प्रशन दिये गये हैं।

## 14.2 कराघात का अर्थ (Meaning of Impact Of Taxation)

कराघात उस व्यक्ति पर पड़ता है जो कर का भुगतान सरकार को करता है। इस प्रकार कराघात किसी कर को उस व्यक्ति पर लगाने का तत्कालिक परिणाम है। यह कर के तत्कालिक भार को प्रकट करता है। कराघात उन व्यक्तियों पर पड़ता है जो इसे सरकार को भुगतान करने या संवैद्यानिक उत्तरदायित्व वहन करते हैं। इसे ही प्राय: कर की मूल बाध्यता कहा जाता है। वास्तव में कराघात कर के तत्कालिक भार को प्रकट करता है, कर के अंतिम भार को नहीं।

## 14.3 करापात या कर भार का अर्थ (Meaning of Incidence of Taxation)

जो व्यक्ति अंतिम रूप से कर का भार उठाता है उस पर कर के मौद्रिक भार को करापात या कर भार या कर की बाध्यता कहते हैं। जब कर का मौद्रिक भार अंतिम रूप से टिक जाता है तो उसे ही कर की बाध्यता के नाम से पुकारा जाता है। कर की बाध्यता उस व्यक्ति पर रहती है जो कर के द्रव्य भार को किसी अन्य व्यक्ति पर नहीं डाल सकता अर्थात् जो अन्ततः उसे वहन करता है। यह कर का प्रत्यक्ष मौद्रिक भार होता है।

### 14.3.1 कराघात व करापात में अन्तर (Distinction between Incidence of Taxation)

कर का भुगतान करना एक बात है और कर का भार सहन करना दूसरी बात है। कराघात व करामात में निम्नलिखित अन्तर है-

1. कराघात कर के प्रारम्भिक भार को प्रकट करता है और करापात कर के अंतिम भार को दर्शाता है।
2. करदाता को कराघात का अनुभव कर लगने के स्थल पर ही हो जाता है जबकि करापात का अनुभव कर के अंतिम विश्राम स्थल पर होता है।
3. कराघात का अनुभव वह व्यक्ति करता है जिससे कर का संग्रह किया जाता है और कर भार का अनुभव वह व्यक्ति करता है जो कर के भार को वास्तव में वहन करता है।
4. कराघात का विवर्तन किया जा सकता है किन्तु करापात का नहीं।

### 14.3.2 करापात और कर के प्रभाव में अन्तर (Distinction between Incidence and Effects of Tax)

कर भार या करापात मौद्रिक भार होता है जबकि कर के प्रभाव का अभिप्राय व्यक्तियों के उपभोग, बचत, विनियोग, उत्पादन, रोजगार आदि पर पड़ने वाले प्रभाव से है। कभी-कभी कर भार का प्रभाव केवल एक ही व्यक्ति पर होता है, ऐसी स्थिति तब उत्पन्न होती है जब करदाता करों के भार को दूसरों पर नहीं टाल सकता है। अतः कर भार व करों का प्रभाव एक ही व्यक्ति पर होगा।

कर भार से हम यह ज्ञात कर सकते हैं कि कर लगने से व्यक्ति पर कितना मौद्रिक भार पड़ रहा है। किन्तु कर के प्रभावों का क्षेत्र व्यापक है। यह सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर देता है। जैसे उत्पादन कर लगने से वस्तु के मूल्य में वृद्धि होती है, जिससे वस्तु का उपभोग कम होगा, मांग घटेगी, उपभोग व मांग कम होने से वस्तु का उत्पादन घटेगा।

### 14.3.3 करापात व कर विवर्तन में अन्तर (Distinction between Incidence and Shifting of Tax)

कर भार या करामात प्रत्यक्ष मौद्रिक दबाव है जबकि कर विवर्तन का अभिप्राय करों के भार को दूसरे व्यक्तियों पर टालने से है। यदि कर लगाने पर उपभोक्ताओं से वसूल कर लिया जाये तो उसे आगे की ओर कर विवर्तन कहेंगे। कर विवर्तन पीछे की ओर भी हो सकता है। यह व्यवस्था वस्तु के गुणों में कमी लाकर की जाती है। यदि कर विवर्तन नहीं होता तो ऐसी स्थिति में कराघात व करापात

एक ही व्यक्ति पर पड़ेंगे। कर विवर्तन कराघात व करापात के बीच की कड़ी है। प्रत्यक्ष करों का विवर्तन नहीं किया जा सकता, जबकि अप्रत्यक्ष करों का विवर्तन आसानी से हो सकता है।

### 14.3.4 करापात का वर्गीकरण (Classification of Incidence)

करापात या करभार का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

1. **प्रत्यक्ष मौद्रिक भार व अप्रत्यक्ष मौद्रिक भार** प्रत्यक्ष मौद्रिक भार तब होता है जब करदाता पर करों का भार प्रत्यक्ष रूप से पड़ता है अर्थात उसकी जेब से करों की राशि सरकारी कोष में जमा होती है। जब कर लगने से वस्तु का मूल्य कर की राशि से अधिक बल दिया जाता है और उसे वस्तु के मूल्य के साथ वसूल किया जाता है तो इसे अप्रत्यक्ष मौद्रिक भार कहा जाता है।
2. **प्रत्यक्ष वास्तविक भार तथा परोक्ष वास्तविक भार** प्रत्यक्ष वास्तविक भार से आशय आर्थिक कल्याण के इस त्याग से है, जो किसी उपभोक्ता को कर का भुगतान करने के कारण सहन करना पड़ता है। कर के लगने पर वस्तु का मूल्य बढ़ जाने पर उपभोक्ता पहले की अपेक्षा कम वस्तु का उपभोग करने लगता है, फलत: उपभोक्ता की संतुष्टि में जो कमी आती है उसे "परोक्ष वास्तविक" भार कहा जाता है।

## 14.4 कर विवर्तन (Shifting of Taxes)

कर विवर्तन से तात्पर्य इस प्रक्रिया से है जिसमें एक कर का मौद्रिक भार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तांतरित कर दिया जाता है।

करों का विवर्तन कीमत वृद्धि के माध्यम से होता है। जैसे यदि सिगरेट के उत्पादक पर कर लगाया जाता है तो वे उसकी मूल वृद्धि के द्वारा डिलरों से कर संग्रह कर सकते हैं तथा आगे वे सिगरेट के खुदरा मूल्य में वृद्धि करके उपभोक्ताओं से कर वसूल सकते हैं।

### 14.4.1 कर विवर्तन के प्रकार (Froms of Tax Shifting)

करों का विवर्तन निम्न ढंगों से किया जा सकता है.

1. अग्रगामी विवर्तन (Forward Shifting)
2. प्रतिगामी विवर्तन (Backward Shifting)
3. अग्रोन्मुख विवर्तन (Onward Shifting)

1. **अग्रगामी विवर्तन (Forward Shifting)** जब उत्पादक पर कर लगाने से वह इस कर को वस्तु का मूल्य बढ़ा कर उपभोक्ता पर टालने में सफल हो जाये तो इसे अग्रगामी विवर्तन कहते हैं। अग्रगामी से आशय कर को आगे बढ़ाने से है। अर्थात् उत्पादकों पर कर लगाकर थोक व्यापारियों से तथा थोक व्यापारियों द्वारा फुटकर व्यापारियों से तथा फुटकर व्यापारियों द्वारा ग्राहकों से वसूल किये जाने पर इसे अग्रगामी विवर्तन कहा जाता है।
2. **प्रतिगामी विवर्तन (Backward Shifting)** यदि विक्रेता को यह भय हो जाये कि वस्तु के मूल्य बढ़ाने पर उसकी मांग कम हो जायेगी तो वह करों को आगे बढ़ाने की जगह पीछे धकेलता है अर्थात् वह वस्तु के उत्पादन में कर के अनुपात में कम मूल्य देने का प्रयास करता है जिसे प्रतिगामी विवर्तन कहते हैं।

3. **अग्रोन्मुख विवर्तन (Onward Shifting)** उत्पादक व उपभोक्ताओं के मध्य अनेक विक्रेता होते हैं। यदि एक विक्रेता कर दूसरे विक्रेता पर टाल दें जो पुन: उसे दूसरे व्यक्ति पर टाल दें और यह क्रम तब तक चलता रहे जब तक कि कर का मार अंतिम रूप से उपभोक्ता पर न पड़े तो इस प्रक्रिया को अग्रोन्मुख विवर्तन कहा जाता है। इसे निम्नलिखित चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है.

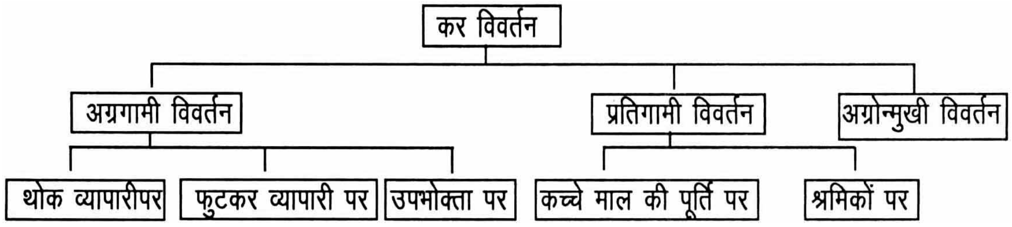
कर विवर्तन
अग्रगामी विवर्तन
प्रतिगामी विवर्तन
अग्रोन्मुखी विवर्तन
थोक व्यापारीपर
फुटकर व्यापारी पर
उपभोक्ता पर
कच्चे माल की पूर्ति पर
श्रमिकों पर

### 14.4.2 करापात के सिद्धान्त (Principle of Tax Incidence)

कर भार के प्राचीन एवं आधुनिक दोनों विचारकों कि दृष्टि से प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित है |

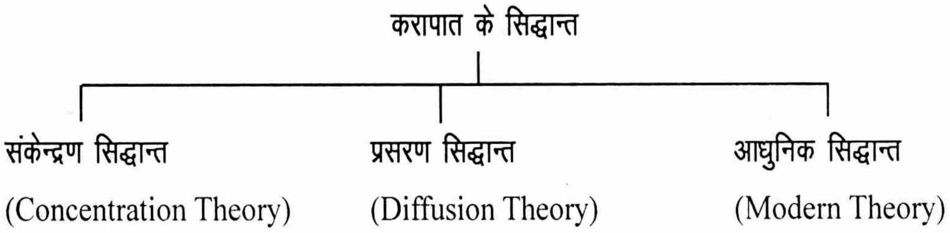
करापात के सिद्धान्त
संकेन्द्रण सिद्धान्त
(Concentration Theory)
प्रसरण सिद्धान्त
(Diffusion Theory)
आधुनिक सिद्धान्त
(Modern Theory)

- **संकेन्द्रण सिद्धान्त (Concentration Theory)** इस सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों या फिजियोक्रेट्स ने किया। इनका विश्वास था कि कोई भी कर चाहे वह किसी भी व्यक्ति पर लगाया जाये अन्त में इसका भार भूमिपति पर ही केन्द्रित हो जाता है। भूमि के अतिरिक्त अन्य व्यवसायियों के कर, कर विवर्तित होते-होते एक ऐसे बिन्दु पर आ जाते हैं जहाँ से उनका विवर्तन होना सम्भव नहीं होता है, ऐसी दशा कृषकों एवं भू-स्वामियों की है। इसका कारण इन्होंने यह माना था कि व्यापार, वाणिज्य तथा अन्य उद्योगों में लगे व्यक्ति केवल इतना कमा पाते हैं जितना वे इसके लिए त्याग करते है। केवल भूमि ही आय का एकमात्र स्रोत है क्योंकि भूमि पर लगान को एकमात्र कर लगने योग्य ऐसी माना जा सकता है। भू-स्वामी सभी कर अन्त में अदा करता है क्योंकि सभी कर भूमि की शुद्ध उपज की ओर खींच कर चले आते हैं। अत: फिजियोक्रेट्स ने यह तर्क दिया कि वर्तमान में प्रचलित विविध प्रकार के करों को समाप्त कर दिया जाना चाहिये और भूमि की शुद्ध आय पर केवल एक कर लगाया जाना चाहिये। इससे कराधान सरल बनेगा। संग्रह की अत्यधिक लागतों में कमी आयेगी और भू-स्वामियों पर कर भार भी कम होगा। अत: केवल एक कर अर्थात् भूमि पर ही कर लगाये जाने चाहिये। इस कर की व्यवस्था को एक स्तरीय कर (impot Uniq) के नाम से जाना जाता था।
- **आलोचना** सिद्धान्त के अनुसार केवल भूमि पर अथवा कृषकों पर कर लगाया जाये तो अन्य व्यवसायों के लोग करों से वंचित रहेंगे जो उचित नहीं है। आधुनिक कल्याणकारी समाज में

भूमि पर केवल एक कर लगाना उपयुक्त नहीं है। कराधान का भार समाज के किसी विशिष्ट वर्ग पर नहीं बल्कि सम्पूर्ण समाज पर न्यायपूर्ण रीति से वितरित किया जाना चाहिए।

- **प्रसरण सिद्धान्त (Diffusion Theory)** इस सिद्धान्त का प्रतिपादन फ्रांसीसी लेखकों मेंसफील्ड तथा केनार्ड ने किया। संकेन्द्रण सिद्धान्त की धारणा के विपरीत प्रसरण सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि सभी कर, चाहे किसी भी रूप में लगाये गये हों, समाज के सदस्यों में फैल जाते हैं।

  **मेंसफील्ड के शब्दों में'** "कर उस पत्थर के समान है जो झील में गिरकर पानी में एक ऐसा घेरा उत्पन्न कर देता है ओर फिर एक के बाद एक घेरा उत्पन्न होता रहता है। केन्द्र से आरम्भ होने वाले इस घेरे से झील के सम्पूर्ण पानी में एक हलचल उत्पन्न हो जाती है|"

  **केनार्ड** ने कर लगाने की तुलना किसी मनुष्य की किसी एक नाड़ी से कुछ रक्त निकालने से की है। यद्यपि रक्त केवल एक नाड़ी से निकाला जाता है किन्तु इससे होने वाली हानि सम्पूर्ण शरीर में फैल जाती है। इस प्रकार इस बात का महत्व नहीं है कि प्रारभ में किस व्यक्ति पर कर लगाया जाता है तथा यह कितना पर्याप्त था, अन्यायपूर्ण है। क्योंकि बार-बार किये जाने वाले सौदों के पश्चात् कर की अन्यायपूर्णता स्वयं समाज हो जाती है और कर का भार समान रूप से बंट जाता है और सम्पूर्ण समाज में समान रूप से फैल जाता है। इस स्थिति में किसी भी अस्तिव का कर भर अन्य किसी व्यक्ति के मुकाबले भारी या हल्का नहीं होता।

- **आलोचना**

1. व्यवहार में कुछ कर ऐसे होते हैं जिनका विवर्तन करना सम्भव नहीं होता जबकि सिद्धान्त में यह माना गया है कि प्रत्येक कर का भार प्रसारित होकर सभी व्यक्तियों पर समान रूप से वितरित हो जायेगा। यह गलत है।
2. प्रसार का सिद्धान्त अस्वाभाविक है क्योंकि करों का प्रसार एक सीमा तक ही होता है।
3. इस सिद्धान्त का आधार पूर्ण प्रतियोगिता है जबकि व्यवहार में पूर्ण प्रतियोगिता नहीं पाई जाती।
4. इसमें कोई संदेह नहीं कि कर अक्सर व्यापक रूप से फैल जाते हैं परन्तु यह सिद्धान्त इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि यह प्रसरण या फैलाव स्वयं चालित तरीके से संपन्न नहीं होता तथा करों के भार को न्यायपूर्ण ढंग से वितरित करने के लिए सरकार को कदम उठाने पड़ते है।

- **आधुनिक सिद्धान्त (Modern Theory)** केन्द्रीयकरण व प्रसरण सिद्धान्तों में अनेक कमियाँ आ जाने से वर्तमान में इन सिद्धान्तों का केवल सैद्धान्तिक महल रह गया है।

एल्फ्रेड मार्शल के सीमान्त विश्लेषण को ई.आर.ए सेलिगमैन तथा एगवर्थ आदि अर्थशास्त्रियों ने कर विवर्तन सिद्धान्त पर लागू करने का काम किया है। आधुनिक सिद्धान्त इस बात को स्वीकार करता है कि सभी कर प्रत्यक्ष रूप से कर योग्य आर्थिक बेशियों पर ही लगाये जाने चाहिये। यदि करदाता (उपभोक्ता या उत्पादक) को आर्थिक बेशी उपलब्ध है तो वह कर के भार को वहन करेगा अन्यथा वह इसके विवर्तन का प्रयत्न करेगा।

इसके अतिरिक्त आधुनिक सिद्धान्त यह मानता है कि कर उत्पादन लागत का ही एक भाग है। अत: कर का विवर्तन कीमत परिवर्तन द्वारा सम्भव होता है।

करों के अंतिम रूप से अंतरिम होने की एक शर्त यह भी होती है कि विवर्तन को सुविधाजनक बनाने वाली तथा उसको रोकने वाली जो अनेक प्रवृत्तियां क्रियाशील होती है, उनकी सापेक्षिक शक्ति क्या है?

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार कर भार निम्नलिखित बातों पर निर्भर करता हैं :

1. करों की प्रकृति
2. मांग व पूर्ति की लोच
3. उत्पादन की दशायें
4. करों की राशि
5. श्रम व पूँजी की गतिशीलता

अप्रत्यक्ष करों का विवर्तन सम्भव है जबकि प्रत्यक्ष करों को विवर्तित नहीं किया जा सकता। मांग बेलोच होने पर कर भार पूर्ण रूप से क्रेताओं पर हस्तांतरित होगा तथा पूर्णतया लोचदार मांग होने पर सम्पूर्ण कर भार विक्रेता ही सहन करेगा। क्रेता तथा विक्रेता किस सीमा तक कर भार सहन करेंगे, यह बात वस्तु की मांग व भूमि की सापेक्षिक शक्तियों पर निर्भर करेगा।

एकाधिकार व पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में उत्पति के नियमों को प्रभाव के अनुसार करों का विवर्तन होगा। यदि करों की राशि कम है तो ऐसे करों का विवर्तन नहीं किया जाता, क्योंकि जिस पर वे लगाये जाते हैं वही उनका भुगतान कर लेता है।

श्रम व पूँजी की गतिशीलता हो तो करों का विवर्तन सम्भव होता है, यदि इनमें बिल्कुल गतिशीलता नहीं हुई तो करों का विवर्तन होना सम्भव नहीं है।

### 14.4.3 मांग एवं पूर्ति की लोच का कर विवर्तन पर प्रभाव

कुछ विशिष्ट पदार्थो और सेवाओं पर कर लगाने के समन्वय में डाल्टन ने दो सामान्य तर्क प्रस्तुत किये हैं.

(अ) यदि अन्य बातें समान रहें तो कर लगी वस्तु की मांग जितनी अधिक लोचदार होगी कर भार उतना ही अधिक विक्रेता पर पड़ेगा तथा सापेक्ष रूप से बेलोच होने की स्थिति में कर भार का बड़ा भाग क्रेताओं पर आ जायेगा।

(ब) वस्तु की पूर्ति की लोच (Elasticity of Supply) अन्य बाते सामान्य रहें तो वस्तु की पूर्ति जितनी अधिक लोचदार होगी कर की बाह्ययता उतनी ही अधिक क्रेता पर होगी। इसके विपरीत वस्तु की पूर्ति जितनी कम लोचदार होगी कर भार उतनी ही अधिक विक्रेता पर होगी।

- **सामान्य प्रस्ताव** डाल्टन ने सभी निष्कर्षों को मिलाकर कर भार के सिद्धान्त को सामान्य प्रस्ताव के रूप में प्रस्तुत किया। किसी भी वस्तु पर लगाये गये कर का प्रत्यक्ष द्रव्य भार क्रेताओं और विक्रेताओं के बीच विभाजित हो जाता है और यह विभाजन कर लगी वस्तु की मांग की लोच ($e_d$) तथा उसकी पूर्ति की लोच ($e_s$) के अनुपात के अनुसार होना चाहिये।

  कर भार के उपर्युक्त सामान्य सिद्धान्त की व्याख्या रेखाचित्र 14.1 में ज्यामितीय विधि से की गई है।

माना कि किसी वस्तु का मांग वक्र DD है तथा पूर्ति वक्र SS है। कर लगने से पूर्व प्रति इकाई कीमत PM है और ? PN या OM कर लगने से पूर्व की प्रति इकाई बिक्री की मात्रा है। अब वस्तु पर $P^1$ R के बराबर कर लगाया जाता है और विक्रेताओं से वसूल किया जाता है। माना कर लगने के बाद नया पूर्ति वक्र $S^1 S^1$ है। $P^1$ R प्रति इकाई कर लगा देने से वस्तु की नई कीमत $P^1 M^1$ या $ON^1$ है तथा नई बिक्री मात्रा $OM^1$ है।

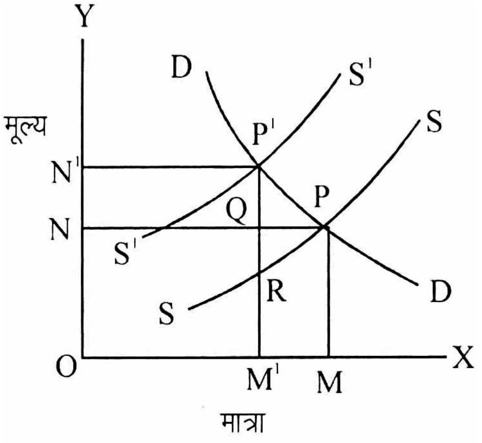

रेखाचित्र 14.1

इस प्रकार कर लगने के पश्चात् कीमत में $P^1 Q$ की वृद्धि हो जाती है तथा बिक्री PQ या $MM^1$ के बराबर कम हो जाती है। कर भार $P^1 R$ क्रेताओं और विक्रेताओं के बीच बंट जाती है। क्रेता $P^1 Q$ कर भार बहन करते हैं और विक्रेता QR के बराबर भार बहन करते है।

इस प्रकार $P^1 R = P^1 Q + QR$

ये सिद्ध किया जा सकता है कि कर भार क्रेताओं और विक्रेताओं के बीच मांग की लोच तथा भूमि की लोच के

अनुपात में बंट जाती है।

$$\text{मांग की लोच } e = \frac{\text{मांग में अनुपाती परिवर्तन}}{\text{कीमत में अनुपाती परिवर्तन}}$$

इसको गणितीय सूत्र में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

$$\frac{\Delta Q}{Q} / \frac{\Delta P}{P} = \frac{\Delta Q}{Q} \times \frac{P}{\Delta P}$$

यहाँ Q मांगी गई अथवा पूर्ति की गई मात्रा को प्रदर्शित करता है और P कीमत का सूचक है।

रेखाचित्र 14.1 के अनुसार

$$\text{मांग की लोच } ed= \frac{MM^1}{OM} \Big/ \frac{QR}{PM}$$

$$= \frac{MM^1}{OM} \times \frac{PM}{QR}$$

इसी प्रकार पूर्ति की लोच es = $\frac{MM^1}{OM} \times \frac{QR}{PM}$

$$= \frac{MM^1}{OM} \times \frac{PM}{QR}$$

$$\frac{es}{ed} = \left(\frac{MM^1}{OM} \times \frac{PM}{QR}\right) \bigg/ \left(\frac{PM}{P^1Q}\right)$$

$$= \left(\frac{MM^1}{OM} \times \frac{PM}{QR}\right) \times \left(\frac{OM}{MM^1} \times \frac{P^1Q}{PM}\right)$$

$$= \frac{P^1Q}{QR}$$

अर्थात् $\frac{\text{पूर्ति की लोच}}{\text{मांग कि लोच}} = \frac{\text{क्रेता पर कर भार}}{\text{विक्रेता पर कर भार}}$

कर की बाध्यता के उपर्युक्त सामान्य सिद्धान्त से निम्न निकर्ष निकाले जा सकते हैं।

1. यदि पूर्ति की लोच मांग की लोच के बराबर होती है अर्थात् $e_d = e_s$ तो कर का भार क्रेताओं और विक्रेताओं की बीच बराबर बंट जाता है और वस्तु की कीमत में कर की आधी राशि के बराबर वृद्धि होती है। जैसा कि रेखाचित्र 14.1 में दिखाया गया है।

   $P^1R = P^1Q + QR$

   किन्तु $P^1Q + QR$

   क्योंकि पूर्ति वक्र और मांग वक्र की रेखाएं समान रूप से ढालू है। यही कारण है कि कर का भार क्रेताओं और विक्रेताओं के बीच समान रूप से विभाजित है और कीमत में प्रति इकाई कर की आधी राशि अर्थात् $P^1R$ के बराबर वृद्धि होती है।

2. जब पूर्ति की लोच की मात्रा मांग की लोच की मात्रा से अधिक होती है अर्थात $e^s > e^d$ तो कर का भार विक्रेताओं के मुकाबले क्रेताओं पर अधिक अनुपात में पड़ेगा और वस्तु की कीमत में जो वृद्धि होगी वह प्रति इकाई पर कर की राशि के 50 प्रतिशत से अधिक होगी। इसे रेखाचित्र 14.2 में स्पष्ट किया गया है।

   रेखाचित्र 14.2 में पूर्ति वक्र रेखाएं $S_1S_1$ तथा $S_2S_2$ तथा मांग वक्र DD प्रकट करती है कि वस्तु की पूर्ति अपेक्षाकृत लोचदार है और वस्तु की मांग बेलोचदार है। PM कर लगने से पूर्व की कीमत है और $P^1M^1$ कर लगने के बाद की कीमत है। $P^1R$ कर की राशि है।

   (कर का भार जब $e^s > e^d$)

   $P^1R = P^1Q + QR$ किन्तु $PQ > QR$

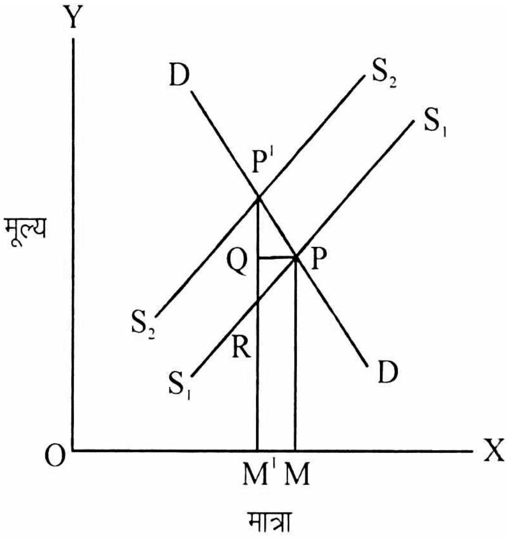
Y
D
$S_2$
$S_1$
$P^1$
मूल्य
Q
P
$S_2$
R
D
$S_1$
O
X
$M^1$ M
मात्रा

रेखाचित्र 14.2

अत: कर का भार विक्रेताओं के मुकाबले क्रेताओं पर अधिक है और इस स्थिति में कीमत में वृद्धि $P^1Q$ के बराबर होगी।

3. जब पूर्ति की लोच की मात्रा मांग की लोच से कम होती है अर्थात् $e_s$ $e_d$ तो कर का भार क्रेताओं के मुकाबले विक्रेताओं पर अधिक अनुपात में पड़ता है क्योंकि कीमतों में जो वृद्धि होती है वह प्रति इकाई कर मात्रा के 50 प्रतिशत से कम होती है।

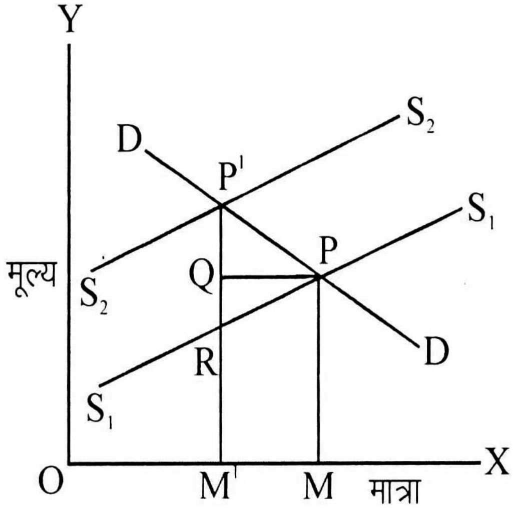
Y
$S_2$
D
$P^1$
$S_1$
P
मूल्य
Q
$S_2$
D
R
$S_1$
O
$M^1$
M
मात्रा
X

**रेखाचित्र 14.3**

रेखाचित्र 14.3 की सहायता से इसे समझाया जा सकता है। चित्र में पूर्ति वक्र की रेखाएं $S_1 S_1$ तथा $S_2 S_2$ और मांग की वक्र रेखा DD बताती है कि पूर्ति अपेक्षाकृत बेलोचदार है और मांग लोचदार है, कर लगने से पूर्व की कीमत PM है और कर लगने के बाद की कीमत $P^1M^1$ है। $P^1R$ कर की राशि है।

$$P^1R = P^1Q + QR$$

किन्तु $P^1Q < QR$ अत: कर का भार क्रेताओं के मुकाबले बिक्रेताओ पर अधिक पड़ेगा और कीमत में जो वृद्धि होगी वह कर की राशि $P^1Q$ के बराबर होगी।

4. यदि वस्तु की मांग पूर्णतया बेलोचदार है और उसकी पूर्ति लोचदार तो कर का सम्पूर्ण भार क्रेता पर ही पड़ेगा।

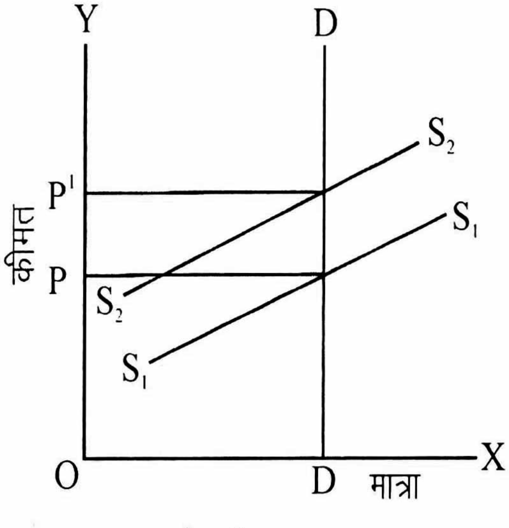

रेखाचित्र 14.4

DD पूर्णतया लोचदार मांग वक्र है। कर लगने से पूर्व संतुलन कीमत OP के बराबर है और $S_1S_1$ कर लगने से पूर्व का पूर्ति वक्र है। माना $PP_1$ के बराबर कर लगाया जाता है। इसका परिणाम होगा कि कर की राशि के बराबर उत्पादन लागत बढ़ जायेगी और इसके बराबर ही कीमत में वृद्धि हो जायेगी। वस्तु की कीमत बढ़ने से मांग प्रभावित नहीं होगी क्योंकि मांग पूर्णतया बेलोच है और पूर्ति के परिवर्तन के साथ इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। इसका परिणाम यह होगा PT कर का सम्पूर्ण भार क्रेता पर स्थानान्तरित हो जायेगा और क्रेता $OP_1$ मूल्य अदा करने को बाध्य हो जायेगा।

5. यदि वस्तु की पूर्ति पूर्णतया लोचदार है तथा मांग बेलोच है, तो कर का सम्पूर्ण भार क्रेता पर पड़ेगा।

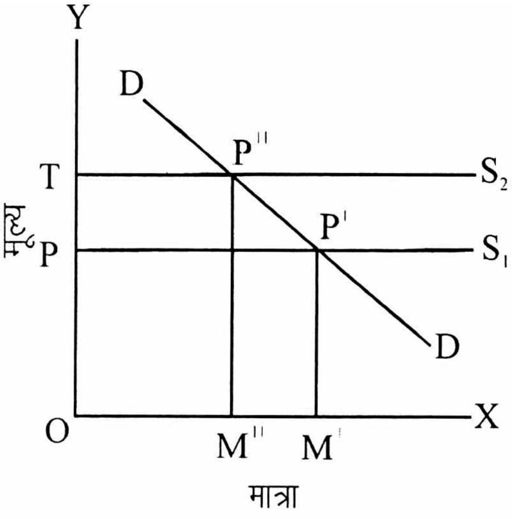

रेखाचित्र 14.5

$S_1P$ पूर्णतया लोचदार पूर्ति वक्र है। DD मांग वक्र अपेक्षाकृत बेलोचदार है। कर लगने का संतुलित मूल्य $P_1M_1$ है| यदि PT के बराबर कर लगाया जाता है तो कर का सम्पूर्ण भार क्रेता पर पड़ेगा क्योंकि मांग बेलोच तथा पूर्ति पूर्णतया लोचदार है।

6. यदि वस्तु की पूर्ति पूर्णतया बेलोच है तथा मांग लोचदार है तो कर का सम्पूर्ण भार विक्रेता पर पड़ेगा। रेखाचित्र 14.6 में SS पूर्णतया बेलोच पूर्ति रेखा है। DD अपेक्षाकृत लोचदार मांग वक्र है। OP कर लगने के पूर्ण की कीमत है। यदि PT के बराबर कर लगाया जाता है तो कर के कारण कीमत में जो वृद्धि होगी वह मांग को प्रभावित करेगी। चूँकि पूर्ति पूर्णतया बेलोच है, अत: विक्रेता यह नहीं चाहेगा कि वह कीमत में वृद्धि करके मांग में कमी करे। इस स्थिति में कर का सम्पूर्ण भार विक्रेता पर ही रहेगा। यह रेखाचित्र 14.6 में स्पष्ट है |

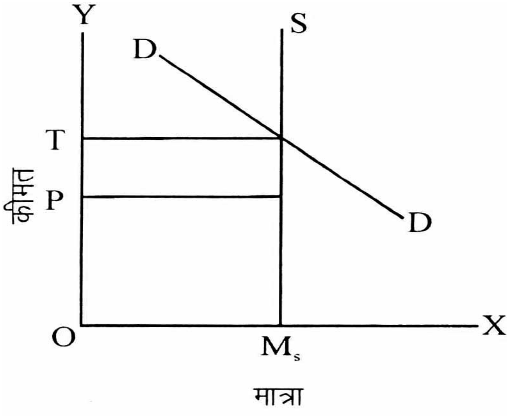

रेखाचित्र 14.6

कर भार के आधुनिक सिद्धान्त के उपर्युक्त विश्लेषण को सारांश रूप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

(1) यदि $e_d = \infty$ तथा $e_s = 0$ तो कर का सम्पूर्ण भार विक्रेताओं पर होगा।

(2) यदि $e_s = \infty$ तथा $e_d = 0$ तो कर का सम्पूर्ण भार क्रेताओं पर होगा।

(3) यदि $e_s = e_d$ तो कर का भार क्रेताओं और विक्रेताओं के बीच समान रूप से विभाजित हो जायेगा।

(4) यदि $e_s > e_d$ तो कर का भार विक्रेताओं के मुकाबले क्रेताओं पर अधिक अनुपात में पड़ेगा।

(5) यदि $e_s < e_d$ तो कर का भार क्रेताओं के मुकाबले बिक्रेताओ पर अधिक अनुपात में पड़ेगा।

### 14.4.4 कर भार एवं उत्पत्ति के नियम

कर भार एवं कर विवर्तन पर उत्पत्ति के नियमों का भी प्रभाव पड़ता है। उत्पादन के मुख्यत: तीन नियम है।

**1. उत्पत्ति वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns)**

उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत एक सीमा तक उत्पादन बढ़ने के साथ-साथ प्रति इकाई उत्पादन लागत घटती है। यदि उत्पादन को कम किया जाये तो प्रति इकाई उत्पादन लागत बढ़ जाती है। ऐसी दशा में यदि वस्तु पर कर लगाया जाये तो वस्तु का मूल्य बढ़ेगा, मांग घटेगी और उत्पादन कम होगा। उत्पादन कम होने से वस्तु का मूल्य पहले से बढ़ जायेगा। ऐसी स्थिति में वस्तु का मूल्य? उत्पादन की तुलना में बढ़ जाता है और करो का अधिकांश भार क्रेताओं पर पड़ेगा

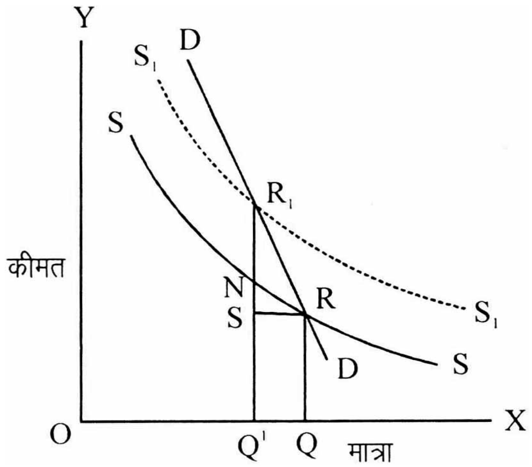

**रेखाचित्र 14.7**

रेखाचित्र 14.7 में SS$_1$ पूर्ति रेखा और DD मांग रेखा है। कर लगने से पूर्व की पूर्ति रेखा SS है। मांग और पूर्ति का संतुलन बिन्दु R पर है। इस संतुलन पर वस्तु का मूल्य QR है। कर लगने के बाद पूर्ति रेखा बदलकर S$^1$S$^1$ हो जाती है। मांग तथा भूमि का संतुलन R$^1$ पर है और वस्तु का मूल्य बढ़कर Q$^1$R$^1$ हो जाता है। इस प्रकार मूल्य में वृद्धि SR$^1$ हुयी जबकि कर की मात्रा NR$^1$ है। SS$^1$> NR$^1$, अतः उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत क्रेताओं को कर की राशि से अतिरिक्त भार वहन करना पड़ता है।

### 2. उत्पत्ति समता नियम (Law of Constant Returns)

क्रमागत उत्पत्ति समता नियम की स्थिति में करारोपण किया गया तो मूल्य में वृद्धि ठीक करारोपण के बराबर ही होती है। यहाँ करारोपण का सम्पूर्ण भार उपभोक्ताओं को वहन करना पड़ता है।

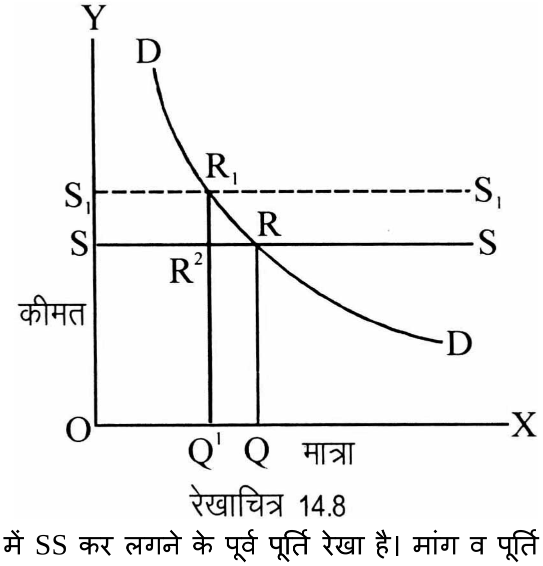

रेखाचित्र 14.8

रेखाचित्र 14.8 में SS कर लगने के पूर्व पूर्ति रेखा है। मांग व पूर्ति का संतुलन R बिन्दु पर है तथा वस्तु का मूल्य QR के बराबर निर्धारित होता है। अब वस्तु पर R$^1$R$^1$ के बराबर कर लगाया जाता है। वस्तु का मूल QR से बढ़कर Q$^1$R$^1$ हो जाता है तथा मांग व पूर्ति का नया संतुलन R$^1$ बिन्दु पर होता है। इस प्रकार R$^1$R$^2$ कर की सम्पूर्ण राशि का भुगतान उपभोक्ताओं को करना होता है।

### 3. उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns)

उत्पति ह्रास नियम के अन्तर्गत ज्यों-ज्यों उत्पादन बढ़ाया जाता है त्यों-त्यों प्रति इकाई उत्पादन लागत में वृद्धि होती है। यदि उत्पादन को घटाया जाय तो प्रति इकाई उत्पादन लागत कम हो जायेगी। यदि वस्तु पर कर लगाया जाता है तो वस्तु का मूल्य बढ़ जायेगा। मूल्य बढ़ने से वस्तु की मांग घटेगी। मांग घटने से उत्पादकों द्वारा वस्तु का उत्पादन कम किया जायेगा। उत्पादन कम होने से मूल्य में भी कमी आयेगी, क्योंकि कम उत्पादन पर वस्तु की लागत घट जाती है। उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत यदि किसी वस्तु पर कर लगाया गया तो करारोपण से उत्पादक वस्तु के मूल में जो वृद्धि करता है वह कर राशि की अपेक्षा कम होती है। इसलिए कर का कुछ भाग क्रेता वहन करता है और कुछ भाग विक्रेता। इसे रेखाचित्र 14.9 द्वारा समझाया गया है।

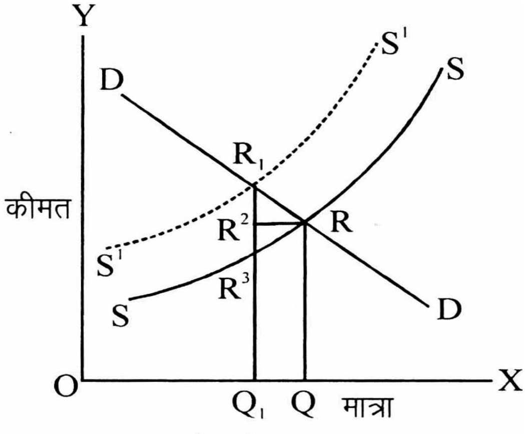

रेखाचित्र 14.9

रेखाचित्र 14. 9 में SS कर लगने के पूर्व पूर्ति रेखा है। R संतुलन बिन्दु है जिस पर कीमत QR निर्धारित होती है। अब वस्तु पर $R^1R^3$ के बराबर कर लगाया जाता है। इससे पूर्ति रेखा बदलकर $S^1S^1$ हो जाती है तथा मूल बढ़कर $Q_1R_1$ हो जाता है। अतिरिक्त मूल्य में वृद्धि $R_1R_2$ के बराबर हो रही है। इस अतिरिक्त कर भार का भुगतान क्रेता करते हैं, जबकि $R_2R_3$ के बराबर करों का भार उत्पादक स्वयं वहन करता है।

## 14.5 उत्पादन की दशाएं व कर विवर्तन (Conditions of productions and Tax Shifting)

कर विवर्तन पर उत्पादन की दशाओं का भी प्रभाव पड़ता है कि कर विवर्तन पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत है, एकाधिकार के अन्तर्गत है अथवा एकाधिकारी प्रतियोगिता के अन्तर्गत। पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार के अन्तर्गत कर विवर्तन निम्नलिखित प्रकार से होता है।

### 14.5.1 पूर्ण प्रतियोगिता एवं कर विवर्तन (Perfect Competition and Tax Shifting)

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत वस्तु के क्रेताओं और विक्रेताओं की संख्या काफी अधिक होती है। सभी क्रेताओं और विक्रेताओं को बाजार का पूर्ण ज्ञान होता है। सभी फर्म समरूप वस्तुओं का उत्पादन करती है और प्रत्येक फर्म उस वस्तु के कुल उत्पादन का थोड़ा अंश ही पैदा करती है। इसलिये बाजार कीमत को एक अकेली फर्म प्रभावित नहीं कर सकती। प्रत्येक फर्म को जिस मांग वक्र का सामना करना

होता है वह पूर्णतया लोचदार होता है। इनमें से कोई भी फर्म अपनी वस्तु की कीमत में जरा भी वृद्धि करती है तो उसके ग्राहक उसके हाथ से निकल जाने का भय रहता है। अत: फर्म कीमत में वृद्धि करके कर को आगे की ओर अन्तरित नहीं कर सकती।

उत्पादन के किसी साधन के लिये फर्म की मांग उस साधन के उद्‌योग की कुल मांग का इतना छोटा भाग होती है कि वह उस साधन की मांग में कमी या वृद्धि करके उत्पादन की कीमत को प्रभावित नहीं कर सकती। अत: किसी भी फर्म के लिये उस साधन का पूर्ति वक्र पूर्णतया लोचदार होता है। यदि विक्रेता उस साधन की कीमत गिराता है तो इससे उस साधन की पूर्ति घट जायेगी। इस स्थिति में विक्रेता उत्पादन लागत घटाकर या साधनों को कम भुगतान करके पीछे की ओर अन्तरित नहीं कर सकता।

पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में अल्पावधि में वस्तु का स्टॉक निश्चित रहता है। यदि वस्तु नाशवान है तो उसका सम्पूर्ण स्टॉक बिक्री के लिये उपलब्ध रहेगा अथवा उस वस्तु की उद्‌योग द्‌वारा की जाने वाली पूर्ति पूर्णतया बेलोच होती है। ऐसी स्थिति में यदि उस वस्तु पर कोई कर लगाया जाता है तो उस कर का सम्पूर्ण भार बिक्रेता या फर्म पर ही पड़ेगा।

किन्तु यदि वस्तु जल्दी नष्ट होनेवाली नहीं है तो कर लगने के बाद उत्पादक अपने स्टॉक के बड़े भाग को इस आशा में रोक सकता है कि शायद आगे चलकर वस्तु के मूल में वृद्धि करना सम्मव हो जाये और वह कर के भार को क्रेताओं पर डाल सके।

अल्पावधि में फर्म की सयंत्र क्षमता में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। सयंत्र की लागतें स्थिर मानी जाती है और ये बराबर जारी रहती है, भले ही फर्म किसी चीज का उत्पादन करे या नहीं। अत: वे उत्पादन करना तब तक जारी रखती है जब तक परिवर्तनशील लागतें न पूरी हो जायें।

किन्तु दीर्घविधि में पूर्ति में कटौति करना सम्भव होता है। जिसके फलस्वरूप कीमतों में वृद्धि होने लगती है। कर लगने के बाद सीमान्त उत्पादकों को अपने आपको उद्‌योग में बनाये रखना कठिन हो जाता है। अत: वे प्राय: उद्‌योग को छोड देते हैं।

पूर्ति में कटौति उत्पादकों को समाप्त किये बिना भी की जा सकती है और वह इस प्रकार कि कुछ उत्पादक अपनी पहली पैदावार के सीमान्त भाग को उत्पादन करना बन्द कर देते हैं। किन्तु एक सामान्य नियम के रूप में हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जब कोई कर सभी कमी पर लगाया जाता है तो उससे प्रत्येक फर्म की पूर्ति कम हो जाती है। जिसके फलस्वरूप कीमतें बढ़ जाती है। कीमतें किस सीमा तक बढ़ेगी यह बात मांग पर निर्भर करती है।

### 14.5.2 एकाधिकार में कर विवर्तन (Tax Shifting under Monopoly)

एकाधिकार का आशय इस स्थिति से होता है, जिसके अन्तर्गत केवल एक ही फर्म, जो किसी उद्‌योग का एकमात्र प्रतीक होती है। ऐसी वस्तु का उत्पादन करती है जिसका कोई प्रतिस्थापन नहीं होता। एकाधिकारी फर्म सम्पूर्ण उद्‌योग एवं फर्म का मांग वक्र एक ही होता है।

एकाधिकारी अपने लाभों को अधिकतम करने के लिये अपने उत्पादन को ऐसे बिन्दु पर स्थिर करता है जहाँ सीमान्त आगम (MR) सीमान्त लागत (MC) के बराबर होता है। इस बिन्दु पर उसका शुद्ध लाभ अधिकतम होता है। एकाधिकारी व्यक्ति वस्तु की पूर्ति पर नियन्त्रण रखता है। इस परिस्थिति में कर भार कर की प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। एकाधिकारियों पर कर दो प्रकार से लगाया

जाता है। (क) विशिष्ट कर या उत्पत्ति की मात्रा के अनुसार कर (Tax in Proportion of Output) एकमुश्त कर (Lump-Sum Tax or Tax on Monopoly Profit)।

### (क) विशिष्ट कर या उत्पत्ति की मात्रा के अनुसार कर (Tax in Proportion of Output)

जब एकाधिकारी को अपनी उत्पत्ति के अनुपात में कर अदा करना होता है तो इसकी वस्तु की सीमान्त लागत में वृद्धि हो जाती है। इस कारण एकाधिकारी को पुराने मूल्य पर वस्तु को बेचने पर लाभ नहीं मिल पाता है, अत: वह उत्पादन में कमी करके वस्तु को बढ़े हुये मूल्यों पर बेचने लगता है और अपने लाभ को कम नहीं होने देता। इस प्रकार कर का भार वह उपभोक्ताओं पर डालने में सफल हो जाता है।

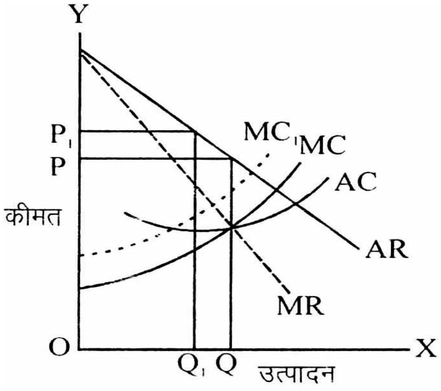

रेखाचित्र 14.10

रेखाचित्र 14.10 में AR एकाधिकारी मांग वक्र तथा MR सीमान्त आगम वक्र है। MC वक्र कर लगने के पूर्व का सीमान्त लागत वक्र है। संतुलन की स्थिति में OQ उत्पादन तथा OP कीमत निश्चित होती है क्योंकि इस बिन्दु पर MC = MR होता है। यदि सरकार प्रति इकाई उत्पादन पर कर लगा देती है तो AC तो पूर्ववत् रहता है किन्तु सीमान्त लागत वक्र बढ़कर $MC_1$ हो जाता है।

इस स्थिति में संतुलन की दशा में $OP_1$ कीमत तथा $OQ_1$ उत्पादन निर्धारित होता है। इस प्रकार कर लगाने से एकाधिकारी उत्पादन की मात्रा कम करके OP कीमत बढ़ा कर $OP_1$ कर देता है और कर भार उपभोक्ता पर टालने में सफल हो जाता है।

### (ख) एकमुश्त कर (Ad-velorm Tax)

जब एकाधिकारी पर कोई कर एक निश्चित रकम के रूप में या एकमुश्त रूप में लगाया जाता है और उस कर का उत्पादन की मात्रा से कोई सम्बंध नहीं होता, जैसे लाइसेंस फीस तो यह उसकी स्थिर लागत का ही एक भाग बन जाता है। अन्य शब्दों में, 'वह कर किसी भी रूप में उसकी सीमान्त उत्पादन लागत को प्रभावित नहीं करता।" अत: MC वक्र में कोई परिवर्तन नहीं होता किन्तु उसकी औसत लागत (AC) बढ़ जाती है। किन्तु कर लगाने के पश्चात वह अपनी पूर्ति में कमी और कीमत में वृद्धि करता है तो उसके कुल लाभ कम हो जायेंगे। इसलिए उत्पादक कर का विवर्तन उपभोक्ता पर नहीं पड़ता तथा स्वयं के भार को सहन करेगा तथा अपने लाभ में कमी आने से रोकेगा। इस स्थिति को रेखाचित्र 14.11 द्वारा दिखाया गया है।

रेखाचित्र 14.11 में MC रेखा MR रेखा को $Q^1$ बिन्दु पर काटती है। यहाँ एक एकाधिकारी संतुलन की स्थिति में है। उसके द्वारा OQ मात्रा में उत्पादन किया जाता है तथा इसकी प्रति इकाई उत्पादन लागत $QQ_1$ या OP है। इस दशा में एकाधिकारी का औसत लागत वक्र $AC_1$ है।

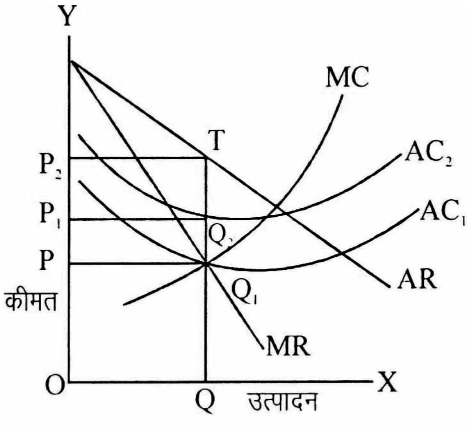

रेखाचित्र 14.11

इस प्रकार एकाधिकारी की कुल उत्पादन लागत OQ गुणा OP= $OQQ_1P$ है। इस उत्पादन लागत पर एकाधिकारी अपनी वस्तु को बाजार में QT या $OP_2$ मूल्य पर बेचता है और उसको प्राप्त होने वाली कुल आय OQ गुणा $OP^2$ = OQ $TP^2$ के बराबर है। इस प्रकार शुद्ध एकाधिकारी लाभ OQ $TP_2$- OQ $Q_1P$ = PQ, $TP_2$के बराबर है। माना अब एकाधिकारी पर एकमुश्त कर $PP_1$ या $Q_1Q_2$ के बराबर कर लगा दिया जाता है। कर के लगने से वस्तु के उत्पादन तथा मूल में कोई परिवर्तन नहीं आता। उत्पादन की मात्रा OQ तथा वस्तु का मूल्य QT पूर्ववत ही रहता है। किन्तु कर लगने से औसत वक्र रेखा $AC_1$ से $AC_2$ जाती है। अब वस्तु की प्रति इकाई लागत $QQ^1$ से बढ़कर $QQ^2$ हो जाती है और कुल उत्पादन लागत OQ $Q^2P_1$ के बराबर हो जाती है, तथा कुल एकाधिकारी लाभ $PQ^1$ , $TP^2$ से घटकर टेप' $P^1Q^2TP^2$ के बराबर रह जाता है। अत: एकाधिकारी के लाभ में $PQ^1$, $Q^2P^1$ कर राशि के बराबर कमी आ जाती है क्योंकि कर राशि का भुगतान वह स्वयं कर देता है |

## 14.6 सारांश (Summary)

इस इकाई में कराघात, करापात व कर विवर्तन का अर्थ समझाते हुये इनमें अन्तर बताया गया है। इस इकाई में कर विवर्तन के संकेन्द्रण प्रसरण व आधुनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। जब किसी वक्ति पर कर लगाया जाता है तो वह कर किसी वक्ति की ओर स्थानान्तरित कर सकता है, तथा दूसरा व्यक्ति ही उस कर को वहन कर सकता है। प्रथम व्यक्ति पर कराघात पड़ता है जिसका वह विवर्तन करता है तथा कर अन्य वक्ति पर पडता है जो वास्तव में कर के अंतिम भार को बहन करता है। कर विवर्तन अग्रगामी, पश्चगामी या अग्रोन्मुख हो सकता है। कर विवर्तन या करापात के सिद्धान्त संकेन्द्रण सिद्धान्त, प्रसरण सिद्धान्त तथा आधुनिक सिद्धान्त हैं। भाग तथा पूर्ति की लोच से कर विवर्तन प्रभावित होता है, तथा करों का भार क्रेताओं और विक्रेताओं के मध्य पूर्ति की लोच तथा मांग की लोच के अनुपात में बंट जाता है। कर विवर्तन पर इस बात का भी प्रभाव पड़ता है कि वह उत्पत्ति के किस नियम के अन्तर्गत हो रहा है। अर्थात् उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू हो रहा है। उत्पत्ति समता नियम या उत्पत्ति हास नियम। उत्पादन की दशायें अर्थात् पूर्ण प्रतियोगिता एवं एकाधिकार के अन्तर्गत कर विवर्तन अनेक बातों पर निर्भर करता है।

## 14.7 शब्दावली (Glossary)

| | |
|---|---|
| कराघात | Impact of Tax |
| करापात | Incidence of Tax |
| कर विवर्तन | Tax Shifting |
| मांग की लोच | Elasticity of Demand |
| पूर्ति की लोच | Elasticity of Supply |
| उत्पत्ति वृद्धि नियम | Law of Increasing Returns |
| उत्पत्ति समता नियम | Law of Constant Returns |
| उत्पत्ति ह्रास नियम | Law of Diminishing Returns |
| पूर्ण प्रतियोगिता | Perfect Competition |
| एकाधिकार | Monopoly |

## 14.8 संदर्भ ग्रन्थ (References)

Bhatia H.L., “Public Finance”; Vikas Publishing House.

Gupta Alka, “Public Finance and Tax Planning”; Anmol Publication PVT.Ltd., New Delhi.

Bowman John. H., “Tax Evaluation Framework”; Presentation on 4/29/02 to the Virginia print,

Sub-committee Studying the Tex Code, Virginia Common Wealth University

त्यागी वी.पी. “लोकवित्त”; जय प्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ।

वार्ष्णेय डी. जे.सी. 1989; साहित्य भवन, आगरा

पन्त जे.सी. 'राजस्व' लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।

## 14.9 अभ्यासार्थ प्रशन (Unit-end Questions)

1. कराघात का करापात का अर्थ बताते हुये उनमें अन्तर बताइये| करापात का वर्गीकरण आप किस प्रकार कर सकते हैं|
2. कर विवर्तन से क्या अभिप्राय है? कर विवर्तन के सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
3. मांग व पूर्ति की लोच का कर विवर्तन पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है?
4. उत्पत्ति के नियमों का कर विवर्तन पर प्रभाव किस प्रकार पड़ता है?
5. पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार में कर विवर्तन किस प्रकार होता है?

# इकाई -15

# सार्वजनिक व्यय - नियम, उत्पादन तथा वितरण पर प्रभाव (Public Expenditure - Canons, Effect on Production and Distribution)

**इकाई की रूपरेखा**

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 सार्वजनिक व्यय का महत्व
    15.3.1 सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण
    15.3.1 कोहन तथा प्लेहन का वर्गीकरण
    15.3.2 एडम स्मिथ का वर्गीकरण
    15.3.3 डाल्टन का वर्गीकरण
    15.3.4 श्रीमती उर्सला हिक्स का वर्गीकरण
    15.3.5 पीगू का वर्गीकरण
15.4 सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के कारण
    15.4.1 आवश्यकताओं की सामूहिक संतुष्टि हेतु
    15.4.2 कल्याणकारी राज्य की स्थापना हेतु
    15.4.3 युद्ध व सुरक्षा
    15.4.4 जनसंख्या में वृद्धि
    15.4.5 मूल्य स्तर में वृद्धि
    15.4.6 मन्दीकाल
15.5 सार्वजनिक व्यय के नियम
    15.5.1 लाभ का नियम
    15.5.2 मितव्ययिता का नियम
    15.5.3 स्वीकृति का नियम
    15.5.4 आधिक्य का नियम
    15.5.5 लोच का नियम
    15.5.6 उत्पादकता का नियम
    15.5.7 समान वितरण का नियम
    15.5.8 समन्वय का नियम
15.6 सार्वजनिक व्यय के प्रभाव
    15.6.1 उत्पादन पर प्रभाव

15.8.2 वितरण पर प्रभाव
15.6.3 अन्य प्रभाव
15.7 सारांश
15.8 शब्दावली
15.9 संदर्भ ग्रन्थ
15.10 अभ्यासार्थ प्रशन

## 15.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समझ सकेंगे कि:

- सार्वजनिक से हमारा क्या अभिप्राय है?
- सार्वजनिक व्यय का क्या महत्व है?
- सार्वजनिक व्यय कितने प्रकार का होता है?
- वर्तमान समय में सार्वजनिक व्यय में हो रही वृद्धि के क्या कारण हैं ?
- सार्वजनिक व्यय के नियम कौनसे हैं ?
- सार्वजनिक व्यय के अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ते हैं विशेषकर उत्पादन, वितरण एवं आर्थिक स्थिरता पर।

## 15.1 प्रस्तावना (Introduction)

सार्वजनिक व्यय सार्वजनिक वित्त का महत्वपूर्ण अंश होता है। सरकार द्वारा किये जाने वाले व्यय को सार्वजनिक व्यय कहते हैं। व्यक्तिगत व्यय की भांति सार्वजनिक व्यय राज्य की क्रियाओं का आदि और अन्त दोनों होते हैं। व्यक्तिगत व्यय व सार्वजनिक व्यय में कुछ मौलिक भेद होता है। व्यक्ति अपनी आय के अनुरूप व्यय करता है जबकि सरकार पहले अपना व्यय निर्धारित करती है फिर आय के स्रोतों को जुटाती है। इसलिए सार्वजनिक वित्त के अन्तर्गत सार्वजनिक आय का अध्ययन सार्वजनिक व्यय के बाद किया जाता है। इसका कारण यह है कि एक बार व्यय का निर्धारण करने के बाद सरकार आय प्राप्त करने के लिए कर, सार्वजनिक उपक्रमों से प्राप्त आय जैसे परम्परागत साधनों के साथ-साथ घाटे के बजट भी बना सकती है।

सरकार सार्वजनिक व्यय के द्वारा नागरिकों की सामूहिक व अन्य आवश्यकताओं को पूरा करके उनके आर्थिक व सामाजिक कल्याण में वृद्धि करती है। आधुनिक समय में राज्य के कार्य बढ़ने के फलस्वरूप सार्वजनिक व्यय में अत्यधिक वृद्धि हो गयी है। इस बढ़ते हुए सार्वजनिक व्यय ने देश में उत्पादन, वितरण, विनिमय, उपभोग व सामान्य आर्थिक क्रियाओं को अत्यधिक प्रभावित किया है। साथ ही सार्वजनिक व्यय के द्वारा राज्य सामान्य व कल्याणकारी कार्यो को सम्पन्न करके कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को प्राप्त करता है। वर्तमान युग में बाजार अर्थव्यवस्था के महत्त्वपूर्ण होने के उपरान्त भी सार्वजनिक व्यय का महत्व बढ़ता जा रहा है, विशेषकर 2006 से प्रारम्म हुई वैश्विक मंदी ने सार्वजनिक व्यय को पुन: शीर्ष पर स्थापित कर दिया है।

## 15.2 सार्वजनिक व्यय का महत्व (Importance of Public Expenditure)

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक सार्वजनिक व्यय को कोई महत्व नहीं दिया जाता था व अर्थशास्त्री लगभग सभी प्रकार के सार्वजनिक व्यय को बुरा समझते थे। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही सार्वजनिक व्यय की महत्वता को समझने का प्रयास किया जाने लगा। आधुनिक अर्थशास्त्री सभी प्रकार के सार्वजनिक व्यय को उत्तम मानते हैं। यदि विवेकपूर्ण तरीके से किया जाय तो उसका लाभ सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था तक पहुँचता है। विशेषकर आर्थिक संकटकाल (मंदी) में सार्वजनिक व्यय बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि इस काल में निजी क्षेत्र के क्रिया-कलापों की शक्ति मंद (धीमी) हो जाती है व सरकार द्वारा विभिन्न आर्थिक व सार्वजनिक क्रियाओं द्वारा अर्थव्यवस्था को गति प्रदान की जाती है। इस प्रकार सार्वजनिक व्यय सार्वजनिक वित्त की एक महत्वपूर्ण शाखा है व इसका महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है।

## 15.3 सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण (Classification of Public Expenditure)

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण अनेक आधारों पर किया है जिनमें से मुख्य निम्न हैं :

### 15.3.1 कोहन तथा प्लेहन का वर्गीकरण

कोहन तथा प्लेहन ने राजकीय व्यय को चार भागों में विभाजित किया है :

(i) वह व्यय जिसका लाभ सम्पूर्ण समाज में विभाजित किया है, जैसे सुरक्षा व्यय, शिक्षा, स्वास्थ्य, व सड़कों पर व्यय आदि।

(ii) वह व्यय जो कुछ विशेष व्यक्तियों अथवा वर्गों के लाभ हेतु किया जाता है जैसे- बेकारी बीमा, वृद्धावस्था पेन्शन आदि।

(iii) वह व्यय जो कुछ विशेष व्यक्तियों को विशेष लाभ के साथ सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को लाभ पहुँचाता है जैसे-पुलिस, न्यायालयों पर व्यय।

(iv) वह व्यय जिससे विशेष व्यक्तियों को लाभ प्राप्त होता है जैसे- सार्वजनीय उद्योगों पर व्यय।

### 15.3.2 एडम स्मिथ का वर्गीकरण

एडम स्मिथ ने सार्वजनिक व्यय को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है :

(i) सुरक्षात्मक व्यय

(ii) व्यापारिक क्रियाओं पर व्यय (जैसे - रेल, सड़क, बीमा, बैंक आदि।)

(iii) विकास व्यय (जैसे - शिक्षा, स्वास्थ्य, पेयजल, सफाई इत्यादि)

### 15.3.3 डाल्टन का वर्गीकरण

डाल्टन ने सार्वजनिक व्यय को निम्न श्रेणियों में विभाजित किया है.

(i) सशस्त्र सेना व पुलिस पर व्यय

(ii) न्यायपालिका पर व्यय

(iii) नागरिक प्रशासन (जैसे - मंत्री, विधायकों) पर व्यय
(iv) राजतंत्र व दूतावासों पर व्यय
(v) सार्वजनिक ऋण पर व्यय
(vi) उद्योगों व व्यवसायों के विकास पर व्यय (डाक, परिवहन, करेन्सी आदि)
(vii) स्वास्थ्य, शिक्षा, पेन्शन पर व्यय

### 15.3.4 श्रीमती उर्सला हिक्स का वर्गीकरण

श्रीमती हिक्स ने एडम स्मिथ द्वारा बताये गये राज्य के तीन कार्यो के आधार पर सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण किया है। उनके अनुसार राजकीय व्यय की प्रथम मद सुरक्षा सम्बन्धी व्यय है; दूसरी नागरिक प्रशासन सम्बन्धी व्यय तथा तीसरी आर्थिक व्यय जैसे - अनुदान, सहायता, सार्वजनिक उपक्रमों पर व्यय व चौथी मद सामाजिक व्यय है।

### 15.3.5 पीगू का वर्गीकरण

पीगू ने सार्वजनिक व्यय को दो भागों में बांटा है। प्रथम हस्तान्तरणीय व्यय तथा द्वितीय गैर हस्तान्तरणीय व्यय। जो व्यय प्रत्यक्ष रूप से जनता को हस्तान्तरित हो जाते हैं उन्हें हस्तान्तरणीय व्यय कहते हैं जैसे - ऋणों पर ब्याज, पेन्शन, वेतन आदि। अहस्तान्तरणीय व्यय प्रत्यक्ष रूप से जनता को हस्तान्तरित नहीं होते जैसे - प्रशासनिक व्यय, सुरक्षा व्यय आदि।

बोध प्रशन -01
1.सार्वजनिक व्यय किसे कहते हैं?
2.कोहन तथा प्लेहन ने सार्वजनिक व्यय को कितने भागों में बाटा हैं?
3.एडम स्मिथ के वर्गीकरण में व्यापारिक क्रियाओं पर व्यय को समझाइये |
4.पीगू ने हस्तान्तरणीय व्यय किसे कहा है व क्यों?

## 15.4 सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के कारण (Reasons of Increase in Public Expenditure)

लगभग पिछले 80 वर्षों में सरकार द्वारा किये जाने वाले कार्यो में अत्यधिक वृद्धि हुयी है। सन् 1930 की महान मंदी ने सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता को बहुत स्पष्ट कर दिया था। वैगनर ने अपने प्रसिद्ध 'राज्य के बढ़ते हुये कार्यो के नियम में स्पष्ट किया है कि लगभग सभी देशों में केन्द्रीय व राज्य सरकारों के कार्यों में वृद्धि होती जा रही है। वर्तमान समय में यह स्पष्ट हो गया है कि आर्थिक विकास की प्रक्रिया अपने साथ आर्थिक व सामाजिक सम्बंधों में बढ़ती हुयी जटिलता की प्रवृत्ति लाती है और बढ़ते हुये सार्वजनिक व्यय को बाजार व्यवस्था में आवश्यक बना देती है। सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के कारण निम्न हैं-

### 15.4.1 आवश्यकताओं को सामूहिक संतुष्टि

वर्तमान समय में नगरों में पानी, बिजली, यातायात, सड़कों पर विधुत व्यवस्था सार्वजनिक पार्कों का निर्माण आदि कार्य सरकारों द्वारा किये जाते हैं क्योंकि इन कार्यों को व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न

किये जाने पर एक तो सेवाओं की दुबारगी के कारण बहुत अपव्यय होगा व बड़े पैमाने की उत्पत्ति के लाभ भी प्राप्त नहीं होंगे। साथ ही अत्यधिक उपयोगी सेवाओं में एकाधिकार स्थापित होने के कारण समाज का शोषण होने का भय भी रहेगा। इसलिये इन कार्यो का सम्पादन सरकार द्वारा किया जाता है जो सार्वजनिक व्यय में वृद्धि का प्रमुख कारण है।

### 15.4.2 कल्याणकारी राज्य की स्थापना हेतु

वर्तमान समय में राज्यों को कल्याणकारी कार्य भी करने पड़ते हैं। अब राज्य कल्याणकारी राज्य बन गये हैं व राज्य के आधारभूत कार्यो में व्यापार चक्रों को दूर करना पूर्ण रोजगार प्राप्त करना, आर्थिक कार्यक्रमों को बढ़ाना, आर्थिक असमानता को दूर करना आदि को भी सम्मिलित किया जाता है। फलस्वरूप सार्वजनिक व्यय तीव्र गति से बढ़ रहा है।

### 15.4.3 युद्ध व सुरक्षा

राष्ट्रीय सुरक्षा पर व्यय कुल व्यय का महत्वपूर्ण अंश होता है। देश में शांति व सुरक्षा का वातावरण आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान समय में सैन्य व्यय में काफी वृद्धि हो गयी है व हथियार अत्यन्त उच्च तकनीक आधारित होने से विकसित व विकासशील दोनों प्रकार के देशों में सुरक्षा व्यय काफी ऊँचा पाया जाता है।

### 15.4.4 जनसंख्या में वृद्धि

जनसंख्या वृद्धि व तेजी से बढ़ता हुआ शहरीकरण सार्वजनिक व्यय में वृद्धि का महत्वपूर्ण कारक है। शहरीकरण के कारण शिक्षा, स्वास्थ्य, पेयजल, सफाई, विधुत व्यवस्था, मनोरंजन एवं खेल-कूद आदि पर किये जाने वाले व्यय में अत्यधिक वृद्धि हो गयी है।

### 15.4.5 मूल्य स्तर में वृद्धि

मूल्य स्तर में वृद्धि का प्रजातांत्रिक सरकारों पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। फलत: मूल्य वृद्धि को रोकने के लिए सरकारें अनुदान देती है। मूल्य वृद्धि से मंहगाई भत्तों में वृद्धि हो जाती है व सरकार की विकास योजनाओं का व्यय भी बढ़ जाता है फलस्वरूप सार्वजनिक व्यय में वृद्धि हो जाती हे।

### 15.4.6 मंदीकाल

तीसा की महामंदी ने स्वचालित अर्थव्यवस्था की अवधारणा को ध्वस्त कर दिया था व सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता को बढ़ाया था। देश में समग्र मांग व पूर्ति को बराबर रखने के लिए सरकारी नियमन व नियंत्रण आवश्यक हो जाते हैं। मंदीकाल में सरकार सार्वजनिक विकास कार्यो द्वारा व करों में छूट देकर अर्थव्यवस्था को गतिमान रखने का प्रयास करती है फलस्वरूप सार्वजनिक व्यय में वृद्धि हो रही है।

बोध प्रशन - O2

1.सामूहिक आवश्यकताएं कौन सी होती है?

2.कल्याणकारी राज्य से क्या तात्पर्य है?

3.मूल्य वृद्धि का सार्वजनिक व्यय की वृद्धि पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है?

4.मंदीकाल में सार्वजनिक व्यय में वृद्धि क्यों हो जाती है |

## 15.5 सार्वजनिक व्यय के नियम (Canons of Public Expenditure)

प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों ने सार्वजनिक व्यय के नियमों का निर्माण इस उद्देश्य से किया है कि इन नियमों के आधार पर सार्वजनिक व्यय करने से समाज के कल्याण को अधिकतम किया जा सकता है व व्यय राशि को सर्वोत्तम उपयोग सुनिश्चित किया जा सकता है। फिण्डेल शिराज ने सार्वजनिक व्यय के चार नियम बताये हैं जो निम्नलिखित हैं :

### 15.5.1 लाभ का नियम

अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त सार्वजनिक व्यय का सर्वोच्च नियम है। इस नियम के अनुसार सार्वजनिक व्यय इस प्रकार किया जाना चाहिए ताकि सार्वजनिक व्यय से किसी एक व्यक्ति या समूह को ही लाभ नहीं हो वरन् सम्पूर्ण समाज समान लाभ प्राप्त करे। लाभ को अधिकतम करने के लिए सम सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार समस्त व्यय को विभिन्न उपयोगों में इस प्रकार विभाजित किया जाता है कि प्रत्येक व्यय से प्राप्त सीमान्त लाभ समान हो। सार्वजनिक व्यय के लाभ को अधिकतम करने के लिए कुछ कसौटियों का होना आवश्यक है जैसे - सार्वजनिक व्यय के द्वारा समाज के आर्थिक कल्याण में वृद्धि हो रही है या नहीं, राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो रही है या नहीं। समाज में आय व धन का वितरण न्यायपूर्ण हो रहा है अथवा सार्वजनिक व्यय वितरण की असमानताएं बढ़ा रहा है। सार्वजनिक व्यय से मूल्य अस्थिरता उत्पन्न नहीं हो तथा पूर्ण रोजगार को प्राप्त किया जा सके। साथ ही वर्तमान में किये गये सार्वजनिक व्यय के लाभों को भावी पीढ़ी को भी हस्तान्तरित किया जा सके। उपर्युक्त आधारों पर किया गया सार्वजनिक व्यय देश को निश्चित रूप से लाभ पहुँचाता है|

### 15.5.2 मितव्ययिता का नियम

मितव्ययिता से तात्पर्य है सरकारी धन का सोच समझकर विवेकपूर्ण तरीके से व्यय करना। सरकार को केवल उन्हीं मदों पर व्यय करना चाहिए जहाँ आवश्यक हो तथा सार्वजनिक व्यय से उत्पादन शक्ति बढ़ रही हो। सरकार को अनावश्यक व अनुत्पादक व्यय पर नियन्त्रण लगाना चाहिए। व्यय में मितव्ययिता से करदाता के हितों की रक्षा होती है व देश की भावी राजस्व क्षमता में भी वृद्धि होती है। किन्तु आजकल प्रजातान्त्रिक देशों में पर्याप्त नियोजन, दूरदर्शिता सार्वजनिक अधिकारियों में उत्तरदायित्व और पर्याप्त वित्तीय नियन्त्रण के अभाव में अनावश्यक सार्वजनिक व्यय बढ़ता जा रहा है जिससे देशों के आर्थिक विकास पर दुष्प्रभाव पड़ रहा है।

### 15.5.3 स्वीकृति का नियम

इस नियम के अनुसार प्रत्येक अधिकारी को व्यय करते समय अपने उच्च अधिकारी से स्वीकृति प्राप्त करना चाहिए। इससे अनावश्यक व्यय पर रोक लगेगी। साथ ही व्यय की गई राशियों के हिसाब किताब का अंकेक्षण भी होना चाहिए जिससे अनुचित व्यय पर रोक लगाई जा सके। संघीय सरकार को प्रत्येक प्रकार के व्यय के लिए संसद से स्वीकृति लेनी पड़ती है अत: सार्वजनिक व्यय पर संसद का नियन्त्रण भी बना रहता है।

### 15.5.4 आधिक्य का सिद्धान्त

फिण्डले शिराज की मान्यता है कि सार्वजनिक व्यय सामान्यतया सार्वजनिक आय से अधिक नहीं होना चाहिए। इस नियम का अभिप्राय राजकीय व्यय में घाटों को दूर करना है। राज्य को अपना व्यय आय के समान ही रखना चाहिए, इससे अपव्यय में कमी होगी व अर्थव्यवस्था पर कम भार पड़ेगा। इस सिद्धान्त से आशय यह नहीं है कि सरकार को प्रतिवर्ष बचत का बजट बनाना है वरन् आशय यह है कि सरकार को घाटे के बजट की प्रवृति को रोकना चाहिए।

वर्तमान समय में बचत के बजट का कोई औचित्य नहीं रह गया है क्योंकि अधिकांश सरकारों को उनकी आय की अपेक्षा अधिक मात्रा में व्यय रखना पड़ता है। आजकल अर्थव्यवस्था को व्यवस्थित रखना व पूर्ण रोजगार के स्तर को बनाये रखना अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है, फलस्वरूप घाटे के बजट का उपयोग आर्थिक विकास के लिए आवश्यक हो गया है |

### 15.5.5 लोच का नियम

शिराज द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त चारों नियमों के अतिरिक्त अर्थशास्त्रियों ने कुछ अन्य नियमों का भी प्रतिपादन किया है जो निम्न है। लोच के नियम के अनुसार सार्वजनिक व्यय का ढाँचा लचीला होना चाहिए, अर्थात् राजकीय व्यय में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सके। यदि सरकार के पास पर्याप्त साधन हो तो सार्वजनिक व्यय में सरलता से वृद्धि की जा सकती है किन्तु साधनों के अभाव में इसमें कमी करना अत्यन्त कठिन होता है। अत: सरकार को अपने व्यय का ढाँचा ऐसा बनाना चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर इसमें कमी की जा सके व एक मद से दूसरे मद में व्यय का पुनर्वितरण किया जा सके।

### 15.5.6 उत्पादकता का नियम

सार्वजनिक व्यय से देश की उत्पादन शक्ति में वृद्धि होनी चाहिए। इसका उत्पादकता पर विपरीत प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। जिस सार्वजनिक व्यय से उत्पादन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से थोड़ी भी वृद्धि होती है उसे उत्तम व्यय की संज्ञा दी जाती है। उन्नीसवीं शताब्दी तक सुरक्षा व्यय को अनुत्पादक तथा अनुचित माना जाता था तथा सामाजिक सेवाओं पर होने वाले व्यय को भी ठीक नहीं समझा जाता था। किन्तु वर्तमान शताब्दी में यह निश्चित रूप से समझा जाता है कि सुरक्षा व्यय राजनीतिक शान्ति बनाये रखने के लिए आवश्यक है व बिना राजनीति शान्ति के कोई भी उत्पादन कार्य सम्भव नहीं है। इसलिए वर्तमान में सुरक्षा व्यय को अप्रत्यक्ष रूप से उत्पादक माना जाता है। इसी पर सामाजिक सेवाओं तथा सामाजिक सुरक्षा पर किया जाने वाला व्यय व्यक्तियों की कार्यक्षमता में वृद्धि करता है इसलिए वह भी उत्पादक होता है। संक्षेप में जिस सार्वजनिक व्यय से पूँजी निर्माण की गती बढ़े, बेकारी दूर हो, उत्पादक व उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि हो, व्यक्ति की कार्यक्षमता में वृद्धि हो उसे उत्पादक व्यय कहा जायेगा।

### 15.5.7 समान वितरण का नियम

सार्वजनिक व्यय के माध्यम से समाज में आर्थिक समानता स्थापित करने के प्रयास किये जा सकते हैं। इस रूप में सार्वजनिक व्यय का औचित्य इस बात पर निर्भर करता है कि वह कहीं तक धन के वितरण में समानता उत्पन्न करने में सहायक हुआ है। इसके लिए सरकार को समाज के कमजोर

वर्गों के लाभ के लिए विशेष प्रकार के कार्यक्रम चलाकर उनके कल्याण में वृद्धि करनी होती है। निर्धन व पिछड़े वर्ग के लिए रोजगार, निर्धनता उन्मूलन, शिखा चिकित्सा, आवास व पेयजल कार्यक्रमों के द्वारा इनके जीवन स्तर व कार्यक्षमता को बढ़ाने का प्रयास किया जाता है। यदि सार्वजनिक व्यय से धनी व्यक्तियों व पूंजीपतियों को लाभ पहुँचता है तो ऐसा व्यय अनुचित होता है क्योंकि इससे धन के वितरण की असमानताएँ और बढ़ेगी।

### 15.5.8 समन्वय का सिद्धान्त

विभिन्न विभागों में समन्वय के अभाव में सार्वजनिक व्यय में वृद्धि हो जाती है व विभिन्न कार्यक्रमों का लाभ भी समाज को प्राप्त नहीं हो पाता। उदाहरणार्थ ग्रामीण विकास व निर्धनता उन्मूलन के लिए केन्द्र व राज्य सरकारों द्वारा

अलग-अलग कार्यक्रम चलाए जाते हैं जिनमें समन्वय की आवश्यकता है। व्यय को कम करने के लिए विभिन्न कार्यक्रमों में दोहराव को समाप्त करना आवश्यक है। केवल राजनीतिक कारणों से बेरोजगारी अथवा निर्धनता उन्मूलन के लिए अनेक कार्यक्रम लागू करने का कोई लाभ नहीं है। इसके स्थान पर ठोस कार्यक्रम चलाकर सार्वजनिक व्यय से प्राप्त लाभ को अधिकतम किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न विभागों में आपसी समन्वय के द्वारा कार्य को शीघ्र व कम लागत पर पूर्ण करके सार्वजनिक व्यय में कमी की जा सकती है।

स्पष्ट है कि सार्वजनिक व्यय से प्राप्त लाभ को अधिकतम करने के लिए आवश्यक है कि सार्वजनिक व्यय को कुछ नियमों के अनुसार किया जाय। तभी सार्वजनिक आय का अनुकूलतम प्रयोग हो सकेगा व वांछित नतीजों की प्राप्ति होगी।

बोध प्रशन - 03

1.सार्वजनिक व्यय के लाभ के नियम को समझाइए |

2.स्वीकृति के नियम से क्या आशय है?

3.वर्तमान समय में घाटे का बजट आवश्यक क्यों हो गया है?

4.क्या सुरक्षा व्यय उत्पादक है? समझाइए |

5.सार्वजनिक व्यय द्वारा किस प्रकार आर्थिक समानता स्थापित कि जा सकती है?

## 15.6 सार्वजनिक व्यय के प्रभाव (Effects of Public Expenditure)

बीसवीं शताब्दी से पूर्व लगभग सभी अर्थशास्त्रियों ने प्रतिष्ठित विचारधारा के समान सार्वजनिक व्यय को एक प्रकार का अपव्यय माना। उन्होंने इसे सुरक्षा, आन्तरिक प्रशासन, चाय, आधारभूत ढाँचे के विकास तक ही सीमित रखा। उनकी मान्यता थी कि सरकार की अपेक्षा व्यक्ति धन का उपयोग अधिक कुशलता से कर सकते हैं तथा सरकार को उसी क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिए जहाँ निजी क्षेत्र आगे आने को तैयार न हो। किन्तु 1919 की भयानक मन्दी ने अर्थशास्त्रियों की इस विचारधारा को बदल दिया। कीन्स के आर्थिक विचारों ने सार्वजनिक व्यय के महत्व को काफी बढ़ा दिया। वर्तमान समय में सार्वजनिक व्यय का रोजगार सृजन, उत्पादन एवं आय वृद्धि, उपभोग वृद्धि, साधनों के अनुकूलतम आवंटन, मूल्य स्थिरता, धन तथा आय के वितरण की समानता के सन्दर्भ में अति महत्वपूर्ण स्थान है। डाल्टन ने सार्वजनिक व्यय के प्रभावों को निम्न श्रेणियों में बांटा है

- उत्पादन पर प्रभाव

- वितरण पर प्रभाव
- अन्य पर प्रभाव

### 15.6.1 उत्पादन पर प्रभाव

डाल्टन के अनुसार सार्वजनिक व्यय का उत्पादन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। उन्होंने उत्पादन पर सार्वजनिक व्यय के प्रभावों को तीन भागों में विभाजित किया है :

(अ) व्यक्तियों के कार्य, बचत व निवेश करने की क्षमता पर प्रभाव

(ब) व्यक्तियों के कार्य, बचत व निवेश करने की इच्छा पर प्रभाव

(स) विभिन्न स्थानों एवं उपयोगों में साधनों के स्थानान्तरण पर प्रभाव

(अ) व्यक्तियों के कार्य. बचत व निवेश करने की क्षमता पर प्रभाव

सार्वजनिक व्यय द्वारा व्यक्तियों की कार्य, बचत व निवेश करने की क्षमता को प्रभावित किया जा सकता है। यदि सार्वजनिक व्यय से व्यक्तियों की कार्य-कुशलता में वृद्धि हो सकती है तो इससे देश के उत्पादन व राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि होती है व आय में वृद्धि होने से बचत व निवेश की क्षमता में भी वृद्धि होती है। निर्धनों की शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास पेयजल आदि पर किये गये सार्वजनिक व्यय से लोगों की कार्य-कुशलता में वृद्धि होती है जिससे उनकी आय व बचत तथा निवेश की क्षमता भी बढ़ जाती है। सार्वजनिक व्यय के द्वारा आधारभूत संरचना जैसे- रेल, सड़क, संवादवहन, शक्ति व सिंचाई आदि को बढ़ा कर लोगों को रोजगार उपलब्ध करवाया जा सकता है। अधिक पूँजी की आवश्यकता वाले या अधिक जोखिम वाले उद्योगों को सरकार द्वारा स्थापित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति सरकार द्वारा की जा सकती है। इस प्रकार के सार्वजनिक व्यय से देश में उत्पादन व रोजगार के अवसरों में वृद्धि होती है। फलस्वरूप लोगों की कार्य, बचत व निवेश क्षमता में भी वृद्धि होती है व देश का विकास होता है।

**(ब) व्यक्तियों के कार्य. बचत व निवेश करने की इच्छा पर प्रभाव**

व्यक्तियों के कार्य, बचत व निदेश करने की इच्छा पर सार्वजनिक व्यय के प्रभाव अस्पष्ट माने गये हैं क्योंकि इच्छा भावात्मक होती है व प्रत्येक व्यक्ति की कार्य, बचत व निवेश की क्षमता पर सार्वजनिक व्यय का प्रभाव भिन्न-भिन्न पड़ता है। सरर्वजनिक व्यय के श्रम की पूर्ति पर पड़ने वाले प्रभाव सरकारी सेवाओं की प्रकृति व इनसे लाभ प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की आय पर निर्भर करते हैं। उदाहरणार्थ हस्तान्तरण भुगतान जैसे - पेन्शन, छात्र वृत्तियाँ, बेरोजगारी भत्ते, प्रोविडेन्ट फण्ड आदि व्यक्ति की आय को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं व इससे व्यक्ति के कार्य के घण्टों में कमी हो सकती है क्योंकि वह आराम पसन्द करने लगता है। यदि सामाजिक वस्तुएं आराम की पूरक होती है तो भी कार्य के घण्टों में कमी आ जाती है व सामाजिक वस्तुओं के निजी वस्तुओं का पूरक होने पर काम की इच्छा और बढ़ जाती है। शिक्षा व स्वास्थ्य सुविधाएं इसी श्रेणी में आती है। जॉन एफ.ड्यू व फ्राइड लैण्डर ने इसे प्रतिस्थापन प्रभाव व आय प्रभाव कहा है। प्रतिस्थापन प्रभाव में व्यक्ति सार्वजनिक व्यय से आय बढ़ने पर आराम का प्रतिस्थापन काम के साथ करता है, इससे उसके कार्य घण्टों में वृद्धि हो जाती है एवं वह अधिक कार्य करता है। आय प्रभाव के अन्तर्गत व्यक्ति की काम करने की इच्छा कम हो जाती है क्योंकि व्यक्ति को इसकी इच्छित आय कम कार्य करके ही प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार आय प्रभाव का साधन पूर्ति पर विपरीत प्रभाव पड़ता है व इससे उत्पादन भी कम हो जाती है।

बचत की इच्छा पर सार्वजनिक व्यय के प्रतिकूल व अनुकूल दोनों प्रभाव पड़ते हैं। सार्वजनिक व्यय से यदि काम के घण्टों में वृद्धि होती है तो आय में वृद्धि से बचत भी बढ़ेगी। किन्तु यदि व्यक्ति काम के घण्टे कम कर देता है तो सरकारी संरक्षण से निश्चिन्त होकर बचतों को भी कम कर सकता है। सार्वजनिक व्यय का निदेश की इच्छा पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। सरकार व्यवसायिक गतिविधियों की अनिश्चितता को कम करके जोखिम को कम करती है व निवेश के लिए अनुकूल वातावरण तैयार करती है, फलस्वरूप निदेश में वृद्धि होती है।

**(स) विभिन्न स्थानों एवं उपयोगों में साधनों के स्थानान्तरण पर प्रभाव।**

सार्वजनिक व्यय का साधनों के वैकल्पिक प्रयोगों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। यह दो प्रकार का हो सकता है- प्रत्यक्ष एवं परोक्ष। प्रत्यक्ष रूप से राजकीय व्यय स्वयं साधनों का हस्तान्तरण है अर्थात् राज्य व्यक्तियों के धन को स्वयं राज्य की प्राथमिकताओं के अनुसार व्यय करता है। यदि राज्य ऐसा न करे तो व्यक्ति इसी धन को अलग-अलग तरीके से व्यय करेंगे। इस प्रकार सरकार धन के प्रत्यक्ष हस्तान्तरण के द्वारा व्यक्तियों की उत्पादन क्षमता व आय में वृद्धि करता है। परोक्ष रूप से राजकीय व्यय व्यक्तियों को अपने धन को व्यय करने के तरीके बदलने के लिए प्रेरित कर सकता है व उन्हें विभिन्न प्रकार की छूट प्रदान करके निवेश करने के लिए प्रेरित कर सकता है।

साधनों के वर्तमान व भविष्य के बीच उत्तम आवंटन का कार्य भी सार्वजनिक व्यय द्वारा किया जाता है। व्यक्ति भविष्य की अपेक्षा वर्तमान को प्राथमिकता देता है जबकि राज्य भावी पीढ़ी के हितों के संरक्षण का कार्य भी करता है। यातायात, सिंचाई, वृहद् परियोजनाओं, शोध एवं अनुसंधान व अन्य ऐसे क्षेत्रों जिससे तुरन्त लाभ प्राप्त नहीं होता पर व्यय करके राज्य भविष्य के लिए साधनों का आवंटन करता है व विकास को सुस्थिर बनाता है।

सार्वजनिक व्यय द्वारा पिछडे क्षेत्रों का विकास करके राज्य इन साधनों पर साधनों का अनुकूल आवंटन करता है व विकास को संतुलित करती है। इस प्रकार सार्वजनिक व्यय की साधनों के अनुकूल आवंटन में महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

### 15.6.2 वितरण पर प्रभाव

सार्वजनिक व्यय अर्थव्यवस्था में वास्तविक आय के वितरण को प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों ही प्रकार से प्रभावित करता है। वितरण पर सार्वजनिक व्यय के प्रत्यक्ष प्रभाव वे होते हैं जिनके कारण निजी क्षेत्र में व्यय योग्य राशि में कमी या वृद्धि होती है। अप्रत्यक्ष प्रभावों में साधनों के सापेक्ष मूल्यों व रोजगार स्तर पर पड़ने वाले प्रभावों को लिया जाता है। कल्याणकारी प्रकृति के सार्वजनिक व्यय से आय में प्रत्यक्ष वृद्धि होती है जैसे - राहत कार्य, वृद्धावस्था पेन्शन बेरोजगारी भत्ता आदि। कुछ सार्वजनिक सेवाओं से प्राप्तकर्ता की वास्तविक आय में वृद्धि होती है जैसे - अनुदानित या मुफ्त शिक्षा व चिकित्सा, सार्वजनिक वितरण आदि। इस प्रकार की सेवाओं से निम्न आय वर्ग को विशेष रूप से लाभ होता है।

सामाजिक सेवाओं से पूरे समाज की वास्तविक आय में वृद्धि होती है क्योंकि इन सेवाओं से मिलने वाला लाभ व्यक्तिगत न होकर सामूहिक होता है। सार्वजनिक कार्यों के लिए साधनों के निजी क्षेत्र से सार्वजनिक क्षेत्र में हस्तान्तरण होने से समाज के धनी वर्ग की आय कम हो जाती है व आय का पुनर्वितरण होने से निर्धनों की आय में वृद्धि हो जाती है तथा आय के असमान वितरण में कमी आती है। राज्य द्वारा सामाजिक वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने से उत्पादन के साधनों की सापेक्ष माँग व मूल्यों में भी परिवर्तन आ जाता है व साधनों की आय बढ़ जाती है। सार्वजनिक व्यय द्वारा रोजगार

सृजन करके आय व धन के वितरण की असमानता को दूर किया जाता है। डाल्टन ने धन के वितरण पर सार्वजनिक व्यय के प्रभावों को तीन भागों में विभाजित किया है।

1. **प्रतिभागी व्यय** यदि सार्वजनिक व्यय से धनी को अधिक व निर्धन को कम अनुपात में लाभ प्राप्त होता है तो वह व्यय प्रतिभागी कहलाता है जैसे- मँहगाई भत्ते की दर आय बढ़ने पर बढ़े।
2. **आनुपातिक व्यय** यदि सार्वजनिक व्यय से सभी व्यक्तियों को समान अनुपात में लाभ प्राप्त हो तो वह आनुपातिक व्यय कहलाता है।
3. **प्रगतिशील व्यय** यदि सार्वजनिक व्यय से धनी को कम व निर्धन को अधिक अनुपात में लाभ प्राप्त हो तो वह प्रगतिशील व्यय कहलाता है।

प्रतिभागी सार्वजनिक व्यय से आय व धन के वितरण की असमानताएं बढ़ती है व प्रगतिशील व्यय से कम होती हैं। प्रगतिशील व्यय के कई रूप हो सकते हैं जैसे - निर्धनों को नकदी के रूप में आर्थिक सहायता, निःशुल्क या सस्ती सेवाएं व वस्तुएं, सस्ते मकान आदि। अतः सार्वजनिक व्यय का ही अर्थशास्त्रियों द्वारा समर्थन किया जाता है।

### 15.6.3 अन्य प्रभाव

सार्वजनिक व्यय के अन्य प्रभावों में इसका आर्थिक स्थिरता पर प्रभाव विशेष महत्वपूर्ण है। इस उद्देश्य के लिए सार्वजनिक व्यय को क्षतिपूरक संयंत्र के रूप में काम में लिया जाता है। मंदीकाल में निजी उपभोग व निवेश कम हो जाते हैं व आर्थिक गतिविधियाँ एक सी हो जाती है। ऐसी स्थिति में सरकार सार्वजनिक व्यय को बढ़ाकर उपभोग व निवेश बढ़ाने का प्रयास करती है। कीन्स ने ऐसी अवस्था में अनुत्पादक कार्यों पर व्यय का भी समर्थन किया है। मंदीकाल में सरकार सार्वजनिक व्यय को बढ़ाकर लोगों को रोजगार प्रदान करके व आय बढ़ाकर उपभोग व निवेश बढ़ाने का प्रयास करती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाने बाला सार्वजनिक व्यय मुद्रा की पूर्ति बढ़ाने वाला कहलाता है। इसी प्रकार तेजीकाल में सरकार सार्वजनिक व्यय में कमी करके आधिक्य या बचत की स्थिति प्राप्त करने का प्रयास करती है। इस प्रकार आर्थिक स्थिरता को प्राप्त करने व बनाये रखने में सार्वजनिक व्यय महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

बोध प्रशन - 04

1.डाल्टन ने सार्वजनिक व्यय के प्रभावों को कितने प्रकार का बताया है?

2.सार्वजनिक व्यय कार्यक्षमता में वृद्धि किस प्रकार करता है?

3.सामूहिक आवश्यकताएं कौन-सी होती है?

4.सार्वजनिक व्यय से उत्पन्न प्रतिस्थापन व आय प्रभाव समझाइए |

5.हस्तान्तरण व्यय किसे कहते है?

6.प्रगतिशील सार्वजनिक व्यय से क्या तात्पर्य है?

7.प्रतिगामी सार्वजनिक व्यय क्यों वांछनीय नहीं होता?

## 15.7 सारांश (Summary)

सार्वजनिक व्यय सार्वजनिक वित्त की महत्वपूर्ण शाखा है। वर्तमान में सार्वजनिक वित्त का महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। क्योंकि सरकारें अपने कार्यो को सुरक्षा, प्रशासन, न्याय व सामूहिक आवश्यकताओं तक ही सीमित न रखकर अनेक कल्याणकारी कार्य भी करती है जिनका उद्देश्य लोगों को लाभ पहुँचा कर देश के विकास की गति को तीव्र करना होता है। सार्वजनिक व्यय द्वारा सरकार अर्थव्यवस्था को मनचाही दिशा प्रदान करती है। शिक्षा व स्वास्थ्य सुविधाओं पेयजल, आवास आदि पर व्यय करके लोगों का विकास करती है। इससे कार्यक्षमता व मानव पूँजी का विकास होता है। बहुत बड़े उद्योग, यातायात, विधुत, सिंचाई आदि का विकास करके आधार को मजबूत करती है।

किन्तु सार्वजनिक व्यय से प्राप्त लाभों को अधिकतम करने के लिए आवश्यक है कि सार्वजनिक व्यय से प्राप्त लाभों का बंटवारा न्यायपूर्ण हो। उसकी पूर्व अनुमति प्राप्त की जाय व व्यय के पश्चात् उसका अंकेक्षण हो। साथ ही सार्वजनिक व्यय उत्पादक कार्यो में ही प्रयुक्त किया जाय। सार्वजनिक व्यय के उत्पादन, वितरण व आर्थिक स्थिरता पर गहन प्रभाव पड़ते हैं। प्रत्येक सार्वजनिक व्यय के प्रभावों को ध्यान में रखना आवश्यक है। वही सार्वजनिक व्यय उचित कहा जायेगा जिसका

उत्पादन क्षमता, बचत व निवेश की क्षमता व इच्छा पर अनुकूल प्रभाव पड़े अर्थात् काम करने की इच्छा व क्षमता कम न हो। इसी प्रकार सार्वजनिक व्यय द्वारा आय व धन के वितरण की असमानताएं कम होनी चाहिए। यदि सार्वजनिक व्यय के लाभ धनी ब सम्पत्तिशाली वर्ग को अधिक प्राप्त हो रहे हों तो ऐसा व्यय न्यायोचित नहीं माना जायेगा।

आर्थिक स्थिरता प्राप्त करने में इसे बनाये रखने में सार्वजनिक व्यय की भूमिका सर्वाधिक होती है। मंदीकाल में जब निजी क्षेत्र सुप्तावस्था को प्राप्त हो जाता है सरकार सार्वजनिक व्यय द्वारा अर्थव्यवस्था में स्पन्दन बनाये रखती है। वर्तमान
समय में व्याप्त मंदी कर निवारण भी सार्वजनिक व्यय की भूमिका महत्त्वपूर्ण होगी।

## 15.8 शब्दावली (Glossary)

| | |
|---|---|
| सार्वजनिक वित्त | Public Finance |
| सार्वजनिक उपक्रम | Public Enterprises |
| घाटे के बजट | Deficit Budets |
| मन्दी | Recession |
| अनुदान | Grants |
| आर्थिक सहायता | Subsidy |
| हस्तान्तरणीय | Transferable |
| सामूहिक संतुष्टि | Collective Satisfection |
| दुबारगी | Duplication |
| कल्याणकारी राज्य | Welfare State |
| स्वचालित अर्थव्यवस्था | Automatic Economy |
| सम-सीमान्त उपयोगिता नियम | Law of Equi Marginal Social |
| अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त | Principle of Maximum Social |

| | |
|---|---|
| अंकेक्षण | Auditing |
| आधिक्य | Surplus |
| लोच | Elasticity |
| समन्वय | Coordination |
| हस्तान्तरण भुगतान | Transfer Payments |
| आराम | Leissure |
| पूरक | Complementary |
| आय प्रभाव | Income Effect |
| प्रतिस्थापन प्रभाव | Substitution Effect |
| वैकल्पिक प्रयोग | Alternative Use |
| प्राथमिकता | Priority |
| अनुकूल आवंटन | Optimum Allocation |
| व्यय योग्य आय | Disposable Income |
| प्रगतिशील | Progressive |
| आनुपातिक | Proportional |
| प्रतिगामी | Regressive |
| क्षतिपूरक संयन्त्र | Compensatory Mechanism |
| मुद्रा की पूर्ति बढ़ाना | Pump Priming |

## 15.9 सन्दर्भ ग्रन्थ (References)

Bhatiya, H.L.: Public Finance.

Dalton Hugh: Principles of Public Finance.

Groves Harold: Financing Governments.

Herber Bernard: Financing Government.

Musgrave, Richard A.: The Theory of Public Finance.

Taylor, Philips, E.: The Economics of Public Finance.

हजेला तिलक नारायण : राजस्व के सिद्धान्त

नाथूरामका लक्ष्मीनारायण : मुद्रा बैंकिंग तथा सार्वजनिक वित्त

## 15.10 अभ्यासार्थ प्रशन (Unit-end Questions)

1. सार्वजनिक व्यय के नियमों की विस्तार से व्याख्या कीजिए।
2. सार्वजनिक व्यय का क्या महत्व है? पिछली एक शताब्दी से सार्वजनिक व्यय में विश्वव्यापी वृद्धि हुयी है। कारण स्पष्ट कीजिए।
3. विभिन्न लेखकों ने सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। आप इनमें से किसको सबसे उपयुक्त व न्यायसंगत मानते हैं और क्यों? समझाइए।
4. उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय के वितरण पर सार्वजनिक व्यय के प्रभावों की विवेचना कीजिए।

5. अन्तरण अदायगियों (Transfer Payments) तथा अन्य सरकारी परिव्ययों में अन्तर स्पष्ट कीजिए। सरकार की आर्थिक स्थिरीकरण की नीति में इनकी क्या भूमिका होती है?

# इकाई -16

# सार्वजनिक ऋण-भारत में आन्तरिक एवं बाह्य सार्वजनिक ऋण बढ़ने के कारण

# (Public Debt Causes of Growth in Internal and External Public Debt in India)

**इकाई की रूपरेखा**

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 सार्वजनिक ऋण का अर्थ
16.3 सार्वजनिक ऋण के उद्देश्य
16.4 निजी एवं सार्वजनिक ऋण की तुलना
    16.4.1 समानताएँ
    16.4.2 असमानताएँ
16.5 सार्वजनिक ऋण का वर्गीकरण
    16.5.1 आंतरिक एवं बाह्य ऋण
    16.5.2 ऐच्छिक व अनिवार्य ऋण
    16.5.3 उत्पादक एवं अनुत्पादक ऋण
    16.5.4 निधिक एवं अनिधिक ऋण
    16.5.5 शोध एवं अशोध्य ऋण
16.6 सार्वजनिक ऋण में वृद्धि के कारण
16.7 भारत में सार्वजनिक ऋण
    16.7.1 स्वतंत्रता के पूर्व
    16.7.2 स्वतंत्रता के पश्चात
16.8 भारत में सार्वजनिक वृद्धि के कारण
16.9 सारांश
16.10 शब्दावली
16.11 संदर्भ ग्रन्थ
16.12 अभ्यासार्थ प्रशन

## 16.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- सार्वजनिक ऋण के अर्थ को समझ सकेगें एवं सार्वजनिक तथा निजी ऋण में समानताओं एवं भिन्नताओं से परिचित हो सकेंगे;
- भारत में सार्वजनिक ऋणों में वृद्धि के लिए उत्तरदायी कारणों से परिचित हो सकेंगे।

## 16.1 प्रस्तावना (Introduction)

सन् 1930 को विश्व व्यापी मंदी ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के स्वतंत्र बाजारी व्यवस्था व सरकारी अहस्तक्षेप नीति के आधार पर आर्थिक क्रियाओं के संचालन सम्बन्धी विचारों को असफल कर दिया तब कीन्स ने सन् 1936 में प्रकाशित अपनी 'जनरल थ्योरी ऑफ एम्प्लवायमेन्ट इन्टरेस्ट एण्ड मनी '(The General Theory of Employment intrest and money) में मंदी की समस्या के समाधान हेतु सरकारी हस्तक्षेप की नीति को स्वीकार किया। कीन्स के अनुसार समग्र माँग में वृद्धि के लिए राजकोषीय क्रियाओं की भूमिका महत्तपूर्ण हो सकती है। फलत: राज्य की क्रियाओं के विस्तार के साथ-साथ कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का विकास हुआ।

## 16.2 सार्वजनिक ऋण का अर्थ (Meaning of Public Debt)

सार्वजनिक व्यय हेतु संसाधन प्राप्ति का प्रमुख साधन सार्वजनिक ऋण है। सरकार संसाधन एकत्रीकरण के साधन के रूप में करारोपण को एक सीमा तक ही प्रयुक्त कर सकती है क्योंकि कर की ऊँची दर सामाजिक असंतोष उत्पन्न करेगा। वहीं घाटे की वित्त व्यवस्था का परिणाम मुद्रा स्फीति के रूप में आता है। अत: सरकार सार्वजनिक आय सरकार सार्वजनिक व्यय के अंतर के रूप को समाप्त करने के उपाय के रूप में सार्वजनिक ऋण को अपनाती है।

सार्वजनिक ऋण उस ऋण को कहते है जिसे राज्य अपने नागरिकों अथवा अन्य देशों के नागरिको से प्राप्त करती है। इस प्रकार सार्वजनिक ऋण के रूप में सरकार लोगो की बचत को प्राप्त करती है और इस धन को ब्याज सहित एक निश्चित समय के पश्चात वापस करती है।

सार्वजनिक ऋण के सम्बन्ध में अलग-अलग मत रहे है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री सार्वजनिक ऋण को अच्छा नहीं मानते थे। प्रो. बेस्टविल के अनुसार जिस प्रकार एक व्यक्ति सदा ऋण की सहायता से अपना कार्य नहीं चला सकता, उसी प्रकार सरकार भी सदा ऐसे साधनों से काम नहीं चला सकती। परन्तु प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री उत्पादक परियोजनाओं के लिए प्राप्त किए गए सार्वजनिक ऋण के पक्षधर थे जिनसे ऋण के मूलधन के साथ-साथ ब्याज का भुगतान सरलता से किया जा सके।

प्रो. केन्स प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रों से असहमत थे। उनके अनुसार सरकार सार्वजनिक ऋण के द्वारा अप्रयुक्त संसाधनों कर अर्थव्यवस्था में रोजगार, उत्पादन एवं आय को बढ़ा सकती है।

केन्सोपरान्त अर्थशास्त्रियों ने सार्वजनिक ऋण की सार्वजनिक आय प्राप्ति के महत्वपूर्ण साधन के रूप में स्वीकार किया तथा इसे आर्थिक नीति के महत्वपूर्ण अस्त्र के रूप में भी स्वीकृति प्रदान की। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मतानुसार आंतरिक सार्वजनिक ऋण की तुलना में विदेशी ऋण न्यूनतम होना चाहिए।

सन् 1980 के उपरान्त राजकोषीय क्रियाओं के लिए अत्यधिक सार्वजनिक ऋण को उपयुक्त नहीं माना गया। प्रो. आर चेल्याह, एम. पोजनर, बी. एम. डाण्डेकर रिचर्ड मूड आदि अर्थशास्त्रियों का यह मत रहा कि सरकार को अनुत्पादक परियोजनाओं एवं उपभोग व्यय के लिए ऋण लेने से बचना

चाहिए, क्योंकि जब ब्याज को भुगतान ऋण क्षमता को पार कर जाता है तो देश ऋण जाल में फंस जाता है।

## 16.3 सार्वजनिक ऋण के उद्देश्य (Objectives of Public Debt)

सार्वजनिक ऋण सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोणों के अध्ययन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी राज्य को अग्रलिखित उद्देश्यों से ऋण लेना चाहिए :

- सार्वजनिक आय एवं राजस्व प्राप्ति के लिए।
- आर्थिक एवं व्यापारिक दशाओं में स्थायित्व के लिए।
- विकासात्मक कार्यो के सुचारू संचालन हेतु वित्तीय आवश्यकता को पूर्ण करने।
- सार्वजनिक उपक्रमों के संचालन एवं प्रबन्ध के लिए।
- शिक्षा,स्वास्थ सेवा एवं आवास सुविधाओं आदि कल्याणकारी योजनाओं के लिए।
- प्रतिरक्षा कार्यो के लिए।
- सार्वजनिक आय प्राप्ति के पूर्व प्रशासनिक व्ययों को पूर्ण करने के लिए।
- जनमत को अनुकूल बनाने तथा समाजवादी समाज की स्थापना के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए।

## 16.4 निजी ऋण एवं सार्वजनिक ऋण की तुलना (Comparsion between Private and Public Debt)

निजी ऋण एवं सार्वजनिक ऋण की तुलना करने पर अधोलिखित समानताऐं एवं असमानताऐं दृष्टिगत होती है :

### 16.4.1 समानताऐं

- आय की तुलना में व्यय अधिक होने पर ही सरकार एवं व्यक्ति दोनों ही ऋण लेते है।
- सरकार एवं व्यक्ति दोनों की ब्याज भुगतान क्षमता के आधार पर ही ऋण-सीमा निर्धारित होती है।
- सार्वजनिक एवं निजी ऋण दोनों में ही धन एक उपयोग से दूसरे उपयोग की ओर स्थानान्तरित होता है।
- सरकार को भी निजी ऋणियों के समान ऋणदाताओं को निश्चित ब्याज का भुगतान करना पड़ता है।

### 16.4.2 असमानताऐं

आपातकाल में सरकार नागरिकों को ऋण देने के लिए बाध्य कर सकती है जबकि निजी ऋण के सम्बन्ध में यह सब नहीं है।

- सार्वजनिक ऋण उत्पादक व सामाजिक कल्याण के उद्देश्य के लिए जाते है जबकि निजी ऋण सामाजिक उत्सवों त्योहारों आदि अनुत्पादक उद्देश्यों तथा निजी लाभ के लिए भी लिए जाते हैं।
- व्यक्तिगत ऋणों की तुलना में सार्वजनिक ऋण निम्न ब्याजदर पर प्राप्त किये जाते हैं।

- राज्य स्थायी संस्थान होने के कारण दीर्घावधि ऋण सरलता से प्राप्त कर लेती है जबकि निजी ऋण के सम्बन्ध में यह सत्य नहीं है।
- सरकार ऋण का भुगतान मुख्यत: कर से प्राप्त आय द्वारा करती है जबकि व्यक्ति ऋण का भुगतान
व्यक्तिगत बचत अथवा निजी सम्पत्ति आदि द्वारा करता है।

## 16.5 सार्वजनिक ऋण का वर्गीकरण (Classification of Public Debt)

सार्वजनिक ऋण के प्रयोग, उद्देश्य, भुगतान अवधि एवं शर्तें आदि में पाई जाने वाली भिन्नता के आधार पर इसे अनेक वर्गो में विभाजित किया जाता है।

### 16.5.1 आंतरिक एवं बाह्म ऋण

जब सरकार देश के नागरिकों से ऋण प्राप्त करती है तो यह आंतरिक ऋण कहलाता है और जब सार्वजनिक ऋण विदेशी संस्थाओं नागरिको अथवा सरकार से प्राप्त किया जाता है तो यह बाह्य ऋण कहलाता है। आंतरिक ऋण उत्तम माने जाते है क्योंकि इससे देश की सम्पत्ति देश के अंदर रहती है जबकि बाह्य ऋण में पूँजी देश के बाहर चली जाती है। ऐसी अर्थव्यवस्था जहाँ आंतरिक बचत कम होती है वहाँ बाह्य ऋण आवश्यक हों जाते हैं।

### 16.5.2 ऐच्छिक व अनिवार्य ऋण

ऐच्छिक ऋण ऐसे ऋण होते है जिसे ऋणदाता स्वेच्छा से एक निश्चित ब्याज अवधि के लिए सरकार को देता है जबकि अनिवार्य ऋण ऐसे ऋण होते हैं जिनके लिए सरकार ऋणदाता को बाध्य करती है। इस प्रकार के ऋण विशिष्ट परिस्थितियों में लिए जाते हैं।

### 16.5.3 उत्पादक ऋण एवं अनुत्पादक ऋण

ऐसे ऋण जिनके निवेश के पश्चात् सरकार को आय की प्राप्ति होती है उत्पादक ऋण माने जाते हैं। ऐसे ऋण जिनके प्रयोग के पश्चात् सरकार को आय की प्राप्ति नहीं होती अनुत्पादक ऋण कहलाते हैं।

### 16.5.4 निधिक ऋण एवं आवधिक ऋण

निश्चित एवं दीर्घकालिक ऋण निधिक ऋण कहलाते है। इनके भुगतान के लिए एक निधि बनाई जाती है जिससे सरकार द्वारा प्रतिवर्ष धन जमा किया जाता है। निर्धारित अवधि पूर्ण होने पर जमा राशि से ऋण का भुगतान किया जाता है। दूसरी ओर अनिधिक ऋण अल्प-अवधि के ऋण होते है, जिनका भुगतान वर्तमान प्राणियों से किया जाता है।

### 16.5.5 शोध एवं अशोध्य ऋण

ऐसे सार्वजनिक ऋण जिनके भुगतान का वायदा सरकार एक निश्चित अवधि के अंदर करती है, शोध्य ऋण कहलाते है। इन ऋणों पर सरकार द्वारा नियमित रूप से ब्याज का भुगतान किया जाता है, और मूलधन भी वापिस करना पडता है। जबकि अशोध्य ऋण में मूलधन को वापिस करने की चिन्ता नहीं रहती परन्तु इसके ब्याज का नियमित भुगतान सरकार को करना पड़ता है।

## 16.6 विकासशील देशों में सार्वजनिक ऋण में वृद्धि के कारण (Causes of Growth in Public Debt in Developing Countries)

(1) विकासशील देशों में सतत् एवं सुदृढ़ आर्थिक विकास हेतु पर्याप्त साधन नहीं होते। अतः सार्वजनिक क्षेत्रों में विनियोग आवश्यकता की पूर्ति हेतु इन देशों द्वारा बड़ी मात्रा में सार्वजनिक ऋण लिए जाते हैं |

(2) उत्पादन क्षमता में अभिवृद्धि तथा वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति हेतु इन राष्ट्रों में अधिक ऋण लिया जाता है।

(3) सार्वजनिक ऋण को बचत सक्रिय करने तथा आर्थिक स्थिरता के महत्त्वपूर्ण अस्त्र के रूप में देखा जाता है। इन देशों ने इस परिप्रेक्ष्य में भी अधिक ऋण लिए।

(4) सभी देश घाटे की वित्त व्यवस्था एवं करारोपण का प्रयोग एक सीमा के अंदर ही कर सकते हैं जबकि सार्वजनिक ऋण आय का ऐसा स्रोत माना जाता है जिससे सामाजिक असंतुष्टि में अभिवृद्धि नहीं होती।

## 16.7 भारत में सार्वजनिक ऋण (Public Debt in India)

### 16.7.1 स्वतंत्रता के पूर्व

भारत में अपनी व्यापारिक गतिविधियों को मजबूती प्रदान करने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी को यहाँ यातायात साधनों एवं व्यावसायिक सम्बन्धों को बढ़ाने के लिए पूँजी की आवश्यकता थी, जिसे उसने सार्वजनिक ऋण के रूप में ब्रिटिश सरकार से माँगा। सन् 1792 में कम्पनी का ऋण भार 70 लाख पौण्ड था जिसमें आगे के वर्षो में व्ययों में निरन्तर वृद्धि हुई फलतः ईस्ट इण्डिया कम्पनी एवं ब्रिटिश सरकार के मध्य समझौता हुआ जिसमें कम्पनी के ऋणों व दायित्वों का भुगतान भारत

सरकार द्वारा किए जाने की बात कही गई। साथ ही कम्पनी को 1० $\frac{1}{2}$ प्रतिशत लाभांश भी देने का अनुबन्ध किया गया। परन्तु तमाम प्रयासों के बाद भी ईस्ट इण्डिया के व्यय भार में होने वाली वृद्धि को नियंत्रित नहीं किया जा सका। इसके अतिरिक्त उस समय कई युद्ध हुए जिनके कारण ऋण भार बढ़कर सन् 1870 में एक करोड़ पौण्ड पहुँच गया।

पर सन् 1870 के पश्चात् भारतीय अर्थव्यवस्था में सुदृढ़ प्रशासन एवं व्यापारिक गतिविधियों को तेज करने के उद्देश्य से, रेलवे, यातायात सुविधाओं, सड़क मार्ग आदि, आधारभूत ढांचे के विकास पर ध्यान दिया गया। इस प्रकार प्रत्यक्ष उत्पादक ऋण के साथ-साथ प्रशासनिक कार्यो हेतु परोक्ष रूप से उत्पादक ऋण के रूप में सरकार द्वारा साधारण ऋण लिए गए। सन् 1930 में भारत की ऋण राशि 231 करोड रूपये हो गई जो सन् 1934 में 1224 करोड रूपये पहुँच गई।

सन् 1937 से प्रांतीय स्वशासन के साथ-साथ केन्द्र एवं राज्य के आय के साधनों का विभाजन किया गया। सन् 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने के समय तक भारत का ऋण बढ़कर 1205.76 करोड़ों रूपये हो गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् सार्वजनिक ऋण की स्थिति निम्नवत रही :-

**सारणी -16.1**

| वर्ष | रुपया ऋण | स्टर्लिंग ऋण |
|---|---|---|
| 1914 | 179.77 | 265.81 |
| 1947 | 2142.00 | 36.61 |
| 1948 | 2134.97 | 30.21 |

स्रोत -लोकवित्त - बी0पी0 त्यागी pp 355

इस प्रकार युद्ध के दौरान रूपये में ऋण भार बढ़ा वहीं स्टर्लिंग ऋण में कमी आई। रूपये का जो ऋण भार बढ़ा उसके कई कारण रहे जैसे सेना-व्यय में वृद्धि,डाक-तार एवं रेलवे सेवा के रख-रखाव पर होने वाले व्यय में वृद्धि आदि। स्वतंत्रता के समय कुल 300 करोड़ रूपये का ऋण पाकिस्तान सरकार पर देय था। वित्तीय करार के तहत भारतीय सरकार ने भुगतान का दायित्व अपने ऊपर इस शर्त के साथ ले लिया कि पाकिस्तान सरकार 3% की ब्याज दर पर 50 किश्तों में इसका भुगतान करेगी। पर आज तक इस समझौते का पालन नहीं हुआ।

### 16.7.1 स्वतंत्रता के पश्चात्

आर्थिक स्वतंत्रता के साथ-साथ संतुलित एवं तीव्र आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था में योजनाबद्ध आर्थिक विकास की रणनीति अपनाई गई।

भारत में राजकोषीय क्रियाओं के अंतर्गत सार्वजनिक ऋण को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:

(1) **आंतरिक ऋण** सामान्यत: खुले बाजार से लिया जाता है। इसके अंतर्गत स्थायी ऋण चालू ऋण ट्रैजरी बिल्स, ट्रैजरी प्राप्तियों विशेष अस्थायी ऋण आदि सम्मिलित किए जाते हैं।

(2) **बाह्य ऋण** किसी भी अर्थव्यवस्था को अपने तीव्र एवं संतुलित आर्थिक विकास हेतु संसाधनों की आवश्यकता पड़ती है। इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु वह विदेशों एवं अंतरराष्ट्रीय संस्थानों से वित्तीय सहायता प्राप्त करता है। जिसे हम बाहरी ऋण के रूप में जानते हैं।

(3) **अन्य देयताऐं** भारत में सरकार के कुछ अन्य दायित्व भी होते हैं जैसे अल्प बचत योजनायें, सरकारी प्रोविडेन्ट फण्ड, राज्य प्रोविडेन्ट फण्ड एवं गैर सरकारी प्रोविडेन्ट फण्ड रिर्जव कोष आदि।

आंतरिक एवं विदेशी ऋण का भुगतान भारतीय कोष के अंतर्गत सुरक्षित रहता है। यह भारतीय अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक ऋण के अंतर्गत आते है जबकि अन्य देयतायें सार्वजनिक खाते के अंतर्गत व्यक्त की जाती है। स्वतंत्रता के पश्चात् भारत के सार्वजनिक ऋण का अवलोकन निम्नलिखित सारिणी द्वारा किया जा सकता है :-

**सारणी -16.2**

**भारत में सार्वजनिक ऋण की स्थिति**

(करोड़ रूपये में)

| वर्ष | आंतरिक ऋण | विदेशी ऋण | अन्य दायित्व | कुल ऋण |
|---|---|---|---|---|
| 1950-51 | 2,,022.30 | 32.03 | 811.06 | 2,865.40 |
| 1960-61 | 3,978.00 | 760.93 | 1805.06 | 6,544.24 |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 1980-91 | 29,008.49 | 11,316.35 | 1805.28 | 58,723.22 |
| 1990-91 | 1,54,003.00 | 31,524.97 | 18,393.38 | 3,14,557.86 |
| 2000-01 | 8,03,697.63 | 65,945.23 | 1,29,029.12 | 11,68,541.02 |
| 2001-02 | 9,13061.13 | 75,545.79 | 2,98,898.16 | 13,66,408.42 |
| 2002-03 | 10,20,688.79 | 59,612.06 | 3,81,801.51 | 15,59,201.36 |
| 2003-04 | 11,41,705.58 | 46,124.49 | 4,78,900.51 | 17,36,678.40 |
| 2004-05 | 12,70,272.41 | 54,359.13 | 6,56,882.91 | 19,81,514.45 |
| 2005-06 | 14,06,524.94 | 63,214.97 | 7,62,146.45 | 22,31,886.36 |

स्रोत -लोकवित्त -डा वी0पी0त्यागी pp 362

सारणी-16.2 से स्पष्ट है कि भारत में आंतरिक सार्वजनिक ऋण सन् 1950-51 में 2,022.36 करोड़ रूपये था जो 1990-91 में 76 गुना अधिक हो गया और इतना ही नहीं यह वृद्धि निरन्तर दिखाई पड़ रही है और सन् 2001-02 में 9,13,661 करोड रूपये तथा 2005-06 में 14,06,524 करोड़ रूपये हो गया।

इसी प्रकार बाह्य ऋण भार में भी लगातार वृद्धि दृष्टिगत हुई है सन् 1950-51 में भारत पर कुल बाह्य ऋण 32.03 करोड रूपये था। सन् 1990-91 में लगभग 31,524 करोड़ रूपये तथा 2003-04 में लगभग 60,931 करोड़ रूपये आंकलित किया गया।

इसी प्रकार सत्तर के दशक में कुल सार्वजनिक ऋण में 11 प्रतिशत वृद्धि दिखाई पड़ी। सन् 1990-91 में यह सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में क्रमश: 61.4 प्रतिशत तथा सन् 200-01 में 62.4 प्रतिशत प्राप्त हुई।

## 16.8 भारत में सार्वजनिक ऋण में वृद्धि के कारण (Reasons for Growth in Public Debt in India)

(1) स्वतंत्रता के पश्चात् तीव्र और संतुलित आर्थिक विकास के सत्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से योजनाबद्ध विकास की रणनीति को अपनाया गया जिसके लिए पूँजी की आवश्यकता पड़ी। अपर्याप्त घरेलू संसाधनों की वजह से आंतरिक व बाह्य ऋण लिए गए। परन्तु सहायता का सही प्रयोग न होने के कारण ऋणों का भुगतान न हो सका।

(2) भारतीय अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक व्यय की अधिकता एवं तुलनात्मक रूप से सार्वजनिक आय की कमी से उत्पन्न घाटे की वित्तीय अवस्था के लिए भी बड़ी मात्रा में आंतरिक ऋणों का आश्रय लिया गया।

(3) सन् 1968 के पूर्व आतंरिक सार्वजनिक ऋण में अल्पकालीन प्रतिभूतियों का अंश अधिक था। फलत: तरलता पढ़ने के कारण स्फीतिजनक प्रवृत्ति उत्पन्न होने का संकट था परन्तु इसके साथ यह भी सत्य था कि इस प्रवृत्ति के कारण आज भुगतान का भार कम था। परन्तु सन् 1968 के पश्चात् दीर्घकालीन प्रतिभूतियों के अंश में वृद्धि हुई परिणामत: ब्याज अदायगी का बोझ भी तेजी से बढ़ा।

(4) मिश्रित अर्थव्यवस्था अपनाने के कारण सार्वजनिक उपक्रमों की स्थापना की गई। सार्वजनिक उपक्रमों में निवेश के लिए सार्वजनिक ऋण लिए गए।

(5) सन् 1951 से सन् 2003-04 तक आंतरिक सार्वजनिक ऋण का राष्ट्रीय आय में प्रतिशत अंश 22.06 प्रतिशत से बढ़कर 45.00 प्रतिशत हो गया। इस प्रकार सार्वजनिक ऋण की दर राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर की तुलना में अधिक हुई जो भारत में सार्वजनिक ऋण के तीव्र वृद्धि दर को व्यक्त करते हैं।

(6) इतना ही नहीं राष्ट्रीय आय में आंतरिक सार्वजनिक ऋण पर राष्ट्रीय ब्याज का भुगतान निरन्तर बढ़ा है। यह सन् 1950-51 में 0.35% से सन् 1990-91 7.36% हो गया बाद में इसमें गिरावट आई और 2003-04 में यह 4.9 प्रतिशत हो गया।

(7) राष्ट्रीय आय में ब्याज की दर ही नहीं अपितु सार्वजनिक ऋणों पर ब्याज भुगतान का बोझ भी बहुत तेजी से बढ़ा है। कुल कर-राजस्व के प्रतिशत अंश के रूप में यह 1960-61 में 40 प्रतिशत था जो सन् 1990-91 में 49.90 प्रतिशत तथा 2002-03 में लगभग 47.3 प्रतिशत हो गया। यह प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ते हुए सार्वजनिक ऋण भार की ओर संकेत करती है।

(8) सार्वजनिक ऋणों में वृद्धि का प्रमुख कारण सुरक्षा व्ययों में होने वाली वृद्धि भी है।

(9) आधारभूत सुविधाओं जैसे विद्युत परिवहन आदि के लिए भी भारत सरकार ने समय-समय पर अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं से भारी मात्रा में ऋण लिए जाते हैं।

(10) राजस्व खाते में ब्याज भुगतान का अनुपात निरन्तर बढ़ रहा है। सन् 1950-51 में यह 9 प्रतिशत था जो सन् 1980-81 में 18 प्रतिशत सन् 1999-2000 में 41 प्रतिशत हो गया। सन् 2004-05 तक इसमें मामूली सी गिरावट आई और इस वर्ष यह 35.5 प्रतिशत हो गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि सार्वजनिक व्यय के बढ़े अंश का प्रयोग विकास कार्यो में न होकर सार्वजनिक ऋण के ब्याज भुगतान हेतु प्रयुक्त किया जाता है।

## 16.9 सारांश (Summary)

कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के साथ ही राज्य का आर्थिक क्रियाओं में हस्तक्षेप बढ़ा। सन् 1930 की महान मंदी ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के द्वारा विकसित मुक्त अर्थव्यवस्था, स्वत: समायोजन, सरकारी अहस्तक्षेप की नीति, पूर्ण रोजगार इत्यादि मान्यताओं की प्रासंगिकता पर प्रशन चिन्ह लगाया। फलत: राजकोषीय क्रियाओं की महत्ता बढ़ी। राजकोषीय क्रियाओं की बढ़ती महत्ता के साथ-साथ सार्वजनिक आय,सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक ऋण आदि आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण अस्त्र के रूप में प्रयुक्त किये जाने लगे। सरकार अथवा राज्य द्वारा वित्त पोषण हेतु नागरिको, विदेशी नागरिकों एवं अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा लिया गया ऋण ही सार्वजनिक ऋण है। परन्तु अनेक कारणों से सार्वजनिक ऋण में निरन्तर वृद्धि हुई है। भारतीय अर्थव्यवस्था भी इससे अछूती नहीं रही। फलत: भारतीय अर्थव्यवस्था पर भी सार्वजनिक ऋण के रूप में बोझ बढ़ रहा है। भारत को ऋण जाल में फंसने से बचाने के लिए यह आवश्यक है कि उपलब्ध संसाधनों का पूर्ण दोहन किया जाए। उपयुक्त तकनीकी का प्रयोग किया जाए। अनुत्पादक व्ययों की तुलना में उत्पादक व्ययों को बढ़ाया जाए। आयात प्रतिस्थापन एवं निर्यात संवर्द्धन को प्रोत्साहित किया जाए। तभी उच्च पूँजी निर्माण एवं आर्थिक विकास के उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है। भारत सरकार द्वारा समय-समय पर सार्वजनिक ऋण सम्बन्धी

श्वेत-पत्र जारी किए गए जिससे वैधानिक तरलता अनुपात, ट्रैजरी बिल्स, प्रतिभूतियों की धारिता, ब्राण्डस् आदि सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन किया गया ताकि सार्वजनिक ऋण भार को कम किया जा सकें।

## 16.10 शब्दावली (Glossary)

| | |
|---|---|
| निधिक ऋण | Funded Debt |
| अनिधिक ऋण | Un funded Debt |
| शोध ऋण | Redeemable Debt |
| अशोध्य ऋण | Irredeemable Debt |
| घाटे की वित्त व्यवस्था | Dificit Finacing |
| प्रतिभूतियाँ | Securities |
| ट्रैजरी बिल्स | Treasury Bills |

## 16.11 सन्दर्भ ग्रंथ (References)

डा. जे.सी.. पन्त एवं चन्द्रशेखर, जोशी; “राजस्व” लक्ष्मीनाराण अग्रवाल, आगरा।

प्रो. एस. एन. लाल “मुद्रा बैंकिंग एवं लोकवित्त", शिव पब्लिशिंग हाऊस, इलाहाबाद |

H.L. Bhatia; Public Finance”, Vikas Publishing House

डा. वी.सी. सिन्हा, “सार्वजनिक अर्थशास्त्र”, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद

डा. सुदामा सिंह एवं डा. राजीव कृष्ण सिंह, “सार्वजनिक वित्त”, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली

डा. एस.के.सिहं “लोकवित्त”, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा

डा. बी.पी.त्यागी, “लोकवित्त” जयप्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ

## 16.12 अभ्यासार्थ प्रशन (Unit-end Questions)

1. सार्वजनिक ऋण से क्या तात्पर्य है?
2. निजी ऋण एवं सार्वजनिक ऋण में अंतर कीजिए।
3. सार्वजनिक ऋण के वर्गीकरण का उल्लेख कीजिए किसी भी अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक ऋण की वृद्धि का कारण बताइये।
4. भारतीय अर्थव्यवस्था में बढ़ते हुए सार्वजनिक ऋण को स्पष्ट कीजिए तथा सार्वजनिक ऋण में वृद्धि के क्या-क्या कारण है।

# इकाई - 17

# संघात्मक वित्त - अर्थ, समस्याएं, संघात्मक वित्त के सिद्धान्त, वित्त आयोगों द्वारा संसाधन हस्तान्तरण

## (Federal Finance – Meaning, Problem, Principles of Federal Finance, Resources Transfer by Finance Commissions)

**इकाई की रूपरेखा**

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 संघीय वित्त व्यवस्था
17.3 संघीय शासन तथा संघीय शासन प्रणाली की विशेषताएँ
17.4 एकक शासन तथा संघीय शासन प्रणाली में अन्तर
17.5 संघीय वित्त व्यवस्था के रूप
17.6 संघीय वित्त व्यवस्था की समस्याएं
17.7 संघीय वित्त व्यवस्था के सिद्धान्त
17.8 संघीय वित्त व्यवस्था में आधुनिक प्रवृत्ति
17.9 वित्त आयोगों द्वारा संसाधन हस्तान्तरण
17.10 सारांश
17.11 शब्दावली
17.12 संदर्भ ग्रन्थ
17.13 अभ्यासार्थ प्रशन

## 17.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- संघात्मक शासन व्यवस्था के स्वरूप एवं विशेषताओं से परिचित हो जाएंगे;
- जान सकेंगे कि संघीय वित्त व्यवस्था के विभिन्न रूप कौन-से हैं एवं एकक व्यवस्था किस प्रकार संघ व्यवस्था से भिन्न होती हे;
- समझ सकेंगे कि संघीय वित्त व्यवस्था के सिद्धान्त कौन-से हैं;
- भारत में संसाधनों के बंटवारे की वर्तमान व्यवस्था में संसाधनों का हस्तान्तरण किस प्रकार किया जा रहा है।

## 17.1 प्रस्तावना (Introduction)

संघीय राज्य की आधुनिक धारणा का विकास 1776 व 1779 के मध्य अमेरीका में हुआ। अमेरीकी संविधान के संस्थापकों ने संघ की धारणा को प्राचीन ग्रीस, संयुक्त नीदरलैण्ड तथा ब्रिटिश

साम्राज्य से लिया। 1945 में ह्वीलर ने संघीय सिद्धान्त की परिभाषा दी। उनके अनुसार, " संघीय सिद्धान्त से आशय अधिकारों के विभाजन से है जिससे सामान्यतया क्षेत्रीय सरकारों में से प्रत्येक क्षेत्र में समकक्ष तथा स्वतन्त्र रहती है।"

अन्य लेखकों का मत है कि संघीय सिद्धान्त का सार अधिकारों का वह विभाजन है, जिसके अनुसार केन्द्रीय सरकार को विशेष कार्य सौंपे जाते हैं तथा राज्यों को अवशेष अधिकार प्राप्त होते हैं।

किसी भी देश में दो प्रकार की शासन व्यवस्था हो सकती है। जब देश में केवल एक ही सरकार हो तो उसे एकाकी शासन प्रणाली कहते हैं और जब एक से अधिक सरकार हो तो इसे संघीय शासन कहते हैं। "एकात्मक शासन व्यवस्था में सर्च देश की शासन व्यवस्था एक ही सरकार के हाथ में होती है। इसके विपरीत संघीय शासन प्रणाली में केन्द्रीय सरकार के अलावा प्रान्तीय स्तर पर राज्य सरकारें होती हैं जो अपनी सीमा में अपनी इच्छानुसार शासन व्यवस्था का संचालन करने में स्वतन्त्र होती है।"

प्रस्तुत इकाई में संघात्मक वित्त के बारे में महत्तपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। इस इकाई में हम उन समस्त बिन्दुओं का संक्षिप्त विवरण देकर इनके (संघीय वित्त व्यवस्था संघीय वित्त की समस्याएं व वित्त आयोगों द्वारा संसाधन हस्तान्तरण) बारे में वर्णन करेंगे। इस इकाई के खण्ड 17.2 में संघीय वित्त व्यवस्था के अर्थ को स्पष्ट किया है। खण्ड 17.4 में संघीय शासन तथा संघीय शासन प्रणाली की विशेषताएं बतलाई गई है। खण्ड 17.4 में एकक शासन तथा संघीय शासन प्रणाली में अन्तर को स्पष्ट किया गया है। खण्ड 17.5 में संघीय वित्त व्यवस्था के रूप व खण्ड 17.6 में संघीय वित्त व्यवस्था की समस्याएं और खण्ड 17.7 में संघीय वित्त व्यवस्था के सिद्धान्तों का विवरण दिया गया है। 17.8 में संघीय वित्त व्यवस्था में आधुनिक प्रवृत्ति को बतलाया गया है। खण्ड 17.9 में वित्त आयोगों द्वारा संसाधन हस्तान्तरण को स्पष्ट किया गया है। इकाई के अन्त में सारांश, शब्दावली, सन्दर्भ ग्रन्थ सूची तथा अभ्यासार्थ प्रशन दिये गये हैं।

## 17.2 संघीय वित्त व्यवस्था (Federal Finance System)

संघीय शासन प्रणाली में विभिन्न प्रकार की सरकारें होती हैं जो एक दूसरे के समान्तर होती है। केन्द्रीय सरकार के अधिकार प्रान्तीय सरकारों से किसी प्रकार भी उच्च नहीं होते। शासन प्रणाली दो प्रकार की होती है- 1. एकक शासन प्रणाली 2. संघीय शासन प्रणाली।

जब एक देश में केवल एक ही सरकार होती है तो उसे एकक शासन प्रणाली कहते हैं परन्तु जब एक से अधिक सरकारें हो तो उसे संघीय शासन कहते हैं।

जब किसी देश में केन्द्रीय सरकार के अतिरिक्त अन्य राज्य सरकारें भी होती है, जिन्हें अपने राज्य की सीमा में इच्छानुसार शासन करने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है, किन्तु कुछ मामलों में केन्द्र से सम्बन्धित होती है, तो यह शासन व्यवस्था संघीय मानी जाती है। राज्यों के समन्वय से सम्बन्धित सभी कार्य केन्द्र को सौंप दिये जाते हैं। 'एक संघ सरकार का ऐसा रूप-होता है जिसमें सर्वोत्तम सत्ता व राजनीतिक शक्तियों को केन्द्र एवं राज्य सरकारों में इस प्रकार विभाजित कर दिया जाता है कि वे अपने क्षेत्र में एक-दूसरे से स्वतंत्र रहें।" अत: संघीय वित्त व्यवस्था का सीधा और सरल अर्थ संघ तथा राज्यों के वित्त तथा दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध से है। आर.एन. भार्गव के अनुसार, "संघीय वित्त से आशय केन्द्र तथा राज्य सरकारों के वित्तीय सम्बन्धों एवं उन दोनों के मध्य समन्वय से लगाया जाता है।"

## 17.3 संघीय शासन प्रणाली की विशेषताएं (Characteristic of Federal System of Government)

संघ राज्य की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं

(i) **विभाजन** संघ एवं राज्य सरकारों के मध्य अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का उचित ढंग से विभाजन कर दिया जाता है। इसमें लिखित संविधान के आधार पर केन्द्र तथा राज्यों के मध्य अधिकारों का विभाजन कर दिया जाता है।

(ii) **सर्वोच्च विधान** संघीय संविधान सर्वोच्च प्रलेख होता है और विभिन्न मतों में अन्तर होने पर इनकी सहायता प्राप्त हो जाती है।

(iii) **कर-मुक्त** संघीय संविधान व राज्यों के मध्य सम्पत्तियों को कर मुक्त रखा जाता है।

(iv) **स्वतन्त्र व्यापार (आवागमन)** संघ की विभिन्न इकाइयों के मध्य व्यापार आवागमन की पूर्ण स्वतन्त्रता बनी रहती है। अपने-अपने क्षेत्र में सरकारें पर्याप्त मात्रा में स्वतंत्र रहती है।

(v) **समान अधिकार** इस व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी भेदभाव के समान अधिकार दिये जाते हैं।

(vi) **पृथक होने के अधिकार** शासन की किसी भी इकाई को संघ से पृथक होने के अधिकार प्राप्त नहीं हो पाते।

(vii) **अन्तरराष्ट्रीय विषय** संघीय सरकार को वे विषय सौंपे जाते हैं जो कि अन्तरराष्ट्रीय प्रकृति के होते हैं। इसमें न्याय पालिका का प्रभुत्व बना रहता है।

(viii) **कार्यो का विभाजन** आन्तरिक शक्ति बनाए रखने के लिए एवं सामाजिक उन्नति के लिए का राज्यों को सॉंप दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त शेष विषयों में से कुछ को सरकार अपने हाथों में ले लेती है और कुछ राज्यों को दे देती है |

## 17.4 एकक शासन तथा संघीय शासन प्रणाली में अन्तर (Difference Between Unilateral and Federal System)

एकात्मक एवं संघीय शासन प्रणाली में प्रमुख अन्तर निम्न प्रकार हैं :

(i) **स्वतन्त्रता** एकात्मक व्यवस्था में विभिन्न इकाइयाँ स्थायी रूप से स्वतन्त्र नहीं होती है, जबकि संघीय व्यवस्था में विभिन्न इकाइयाँ स्वतन्त्र होती है।

(ii) **सामूहिक प्रयत्न** संघीय व्यवस्था में सामूहिक प्रयास किये जाते हैं जबकि एकात्मक व्यवस्था में प्रथक-प्रथक प्रयास किये जाते हैं।

(iii) **कुशलतापूर्वक कार्य** प्रत्येक कार्य को संघ कुशलतापूर्वक सम्पन्न नहीं कर सकता जबकि एकात्मक व्यवस्था में यह सम्भव है।

(iv) **राष्ट्रीय महत्व के कार्य** राष्ट्रीय महत्व के कार्यो को संघ द्वारा कुशलतापूर्वक चलाया जा सकता है परन्तु राज्य द्वारा यह सम्भव नहीं है।

(v) **समन्वय संघ** द्वारा विभिन्न राज्यों के कार्यो में समन्वय लाया जा सकता है, परन्तु एकात्मक व्यवस्था में यह सम्भव नहीं है।

संक्षेप में संघीय वित्त व्यवस्था का आशय संघ एवं राज्यों के वित्त का दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध से है।

## 17.5 संघीय वित्त व्यवस्था के रूप (Types of Federal Finance)

संघीय वित्त व्यवस्था में आय एवं व्यय की सम्पूर्ण मदों को केन्द्रीय, राज्य सरकारों एवं स्थानीय निकायों के मध्य विभाजित कर दिया जाता है। शासन व्यवस्था के अनुरूप वित्त व्यवस्था को निम्न दो भागों में विभाजित किया जा सकता है - (1)एकात्मक वित्त व्यवस्था तथा (2) संघीय वित्त व्यवस्था।

(1) **एकात्मक वित्त व्यवस्था** इस व्यवस्था के अन्तर्गत देश में होने वाले सम्पूर्ण कार्यो पर व्यय केन्द्रीय सरकार द्वारा ही किया जाता है और विभिन्न भागों से प्राप्त होने वाली आय को भी केन्द्रीय कोष में जमा कर दिया जाता है।

(2) **संघीय वित्त व्यवस्था** इसके अन्तर्गत आय-व्यय की समस्त मदों को केन्द्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय सरकारों के मध्य विभाजित कर दिया जाता है और विभिन्न सरकारें अपने-अपने क्षेत्रों में पूर्णरूप से स्वतन्त्र होती है। इस प्रकार की वित्त व्यवस्था को संघीय वित्त व्यवस्था कहते हैं।

## 17.6 संघीय वित्त की समस्याएं (Problems of Federal Finance)

आर्थिक विकास के साथ सार्वजनिक वित्त का अध्ययन महत्वपूर्ण हो गया है। विश्व में अधिकांश लोग संघों में रहते है व संघीय वित्त सार्वजनिक वित्त का महत्वपूर्ण पहलू बन गया है।

किसी भी संघीय सरकार में केन्द्र व राज्य सरकारों के कार्य, करारोपण के अधिकार व व्यय करने के अधिकार देश के संविधान के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से दिये हु ये होते हैं। संघीय संरचना यद्यपि आधुनिक समय में विश्व के अनेक भागों में प्रचलित है तथापि संघीय वित्त के संबन्ध में संघों की विभिन्न आर्थिक परिस्थितियाँ होने के कारण इस सम्बन्ध में सर्वत्र मान्य सिद्धान्त नहीं बनाए जा सकते हैं। एन्थोनी स्कॉट ने संघीय वित्त द्वारा निम्न समस्याओं के समाधान को महत्वपूर्ण माना है।

(i) **अनुरूपता की समस्या** विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में संघीय संविधान द्वारा राज्य सरकारों व केन्द्रीय सरकारों के कार्य स्पष्टत: विभाजित होते हैं। इन देशों में विकास की प्रवृत्ति प्रबल होती है व इस कारण इनके व्यय में वृद्धि स्वाभाविक है। राज्य सरकारों को कुछ ऐसे कार्य संविधान प्रदान करता है जिनसे राज्य का विकास तो अवश्य होता है किन्तु इन कार्यो से राज्य को निकट भविष्य में आय प्राप्त नहीं होती। शिक्षा व चिकित्सा एवं स्वास्थ्य आदि पर व्यय इसके उदाहरण हैं। हमारे देश में भी राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के अन्तर्गत राज्य सरकारों को कई कार्य सम्पन्न करने के लिए दिए गए हैं। कार्यो के साथ-साथ ही संविधान केन्द्र व राज्य सरकारों के करारोपण के अधिकारी को भी निश्चित करता है। सभी विकासशील देशों में इस प्रकार केन्द्र व राज्य सरकारों के मध्य एक वित्तीय सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। राज्य सरकारों के पास आय के स्रोत तो कम होते हैं व उसके उत्तरदायित्व संविधान बढ़ा देता है। इस प्रकार आय-स्रोतों व उत्तरदायित्वों में अनुरूपता की समस्या संघीय वित्त का प्राथमिक पहलु है। जब राज्य सरकारों के पास अपने कार्यो को सम्पन्न करने के लिए समुचित मात्रा में साधन नहीं होते हैं तब इनकी केन्द्र पर निर्भरता बढ़ जाती है। राज्य इस प्रकार की स्थिति

में व्यय भी साधन संग्रह के आन्तरिक प्रयासों को गहन करता है, साधन संग्रह के नये स्रोत खोजता है, वित्तीय सहायता प्राप्त करता है, ऋण प्राप्त करता है या संघ सरकार से अनुदान आदि प्राप्त करता है। वस्तुतः राज्य सरकारों का केन्द्र सरकारों पर निर्भर रहना संघीय वित्त में एक स्वस्थ्य परम्परा नहीं है। राज्य सरकारों को साधन संग्रह के क्षेत्र में स्वावलम्बी होना ही उत्तम है, किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। आर्थिक, विकास के लिए राज्य सरकारों द्वारा किये गये व्यय की निरन्तर संरचनाओं में राज्य सरकारें संघीय सरकार पर बहुत अधिक निर्भर है व यदि केन्द्र व राज्यों के मध्य वित्तीय विभाजन से यदि राज्यों को समुचित साधन न मिल पाएं तो राज्य सरकारों को अपने आवश्यक कार्य भी सम्पन्न करना कठिन हो जाएगा। साधनों व कार्यो के इस अनुरूपता को समाप्त करने के लिए संघ सरकार राज्य सरकारों को वित्तीय अन्तरण करती है। यह प्रवृत्ति विश्व की सभी संघीय व्यवस्थाओं में प्रचलित है।

(ii) **भौगोलिक असमानता** दूसरी महत्त्वपूर्ण समस्या जो संघीय वित्त के सन्दर्भ में पाई जाती है वह है-भौगोलिक असमानता। एक संघीय संरचना में राज्य सरकारों की राजनैतिक व भौगोलिक स्थिति भिन्न-भिन्न होना स्वाभाविक है। राज्य कर प्राप्त करते समय समान प्रकार के व्यक्तियों से समान प्रकार का व्यवहार करता है व इसी प्रकार केन्द्र सरकार भी सभी व्यक्तियों को चाहे वे किसी भी राज्य के हों समान प्रकार से करारोपित करती है। इस प्रकार दोनों ही संघीय व राज्यीय स्तरों पर समस्तरीय समानता है किन्तु व्यय का प्रशन आता है तो यह देखने को नहीं मिलता। वस्तुतः यदि केन्द्रीय सरकार करारोपण के क्षेत्र में व्यक्तियों को समान रूप से करारोपित करती है, तो व्यय के सन्दर्भ में भी उसे सभी व्यक्तियों को समान रूप से लाभान्वित करना चाहिए। जीवन स्तर, कीमत स्तर, जलवायु परिवहन के साधन आदि के सन्दर्भ में केन्द्र सरकार को विभिन्न राज्यों के नागरिकों को समान लाभ प्रदान करने की दृष्टि से भिन्न-भिन्न मात्रा में इन राज्यों को साधन प्रदान करने चाहिए। इस प्रकार की असमानताओं के सन्दर्भ में तो केन्द्रीय सरकार को राज्य सरकारों को सामान्यतया जितने साधन अनुरूपता के अन्तर्गत देने पडेंगे उससे अधिक साधन अनुदान के रूप में देना स्वाभाविक है। अतिरिक्त अनुदान की आवश्यकता इसलिए है कि इस अनुदान के कारण ही विभिन्न राज्यों की प्राकृतिक विषमताओं को निरन्तर प्रयत्न करके दूर किया जा सकता है। अधिकांश विकासशील अर्थव्यवस्थाएं जो सदियों से परतंत्रता में जकड़ी रही है, इनका सुनियोजित आर्थिक विकास नहीं किया गया है। जहाँ कहीं भी यदि विकास हुआ भी है तो यह केवल सत्ता के द्वारा शोषण में सहायक होने के कारण किया गया है। अतः अब जब क्षेत्रीय असमानताओं को समाप्त करना एक उद्देश्य स्वीकार किया गया है व सभी नागरिकों को न्यूनतम सेवाएं प्रदान करना आवश्यक माना गया है, केन्द्र सरकार का कार्य हो जाता है कि राज्यों के मध्य उपस्थित विषमता को समाप्त करें। इसके लिए राज्य सरकारों को या तो केन्द्र सरकार अनुदान दे या स्वयं व्यय करके इन राज्यों का विकास करें। अन्र्तक्षेत्रीय असमानता आधुनिक संघीय संरचनाओं की एक महत्त्वपूर्ण व ज्वलन्त समस्या है। वस्तुतः अन्र्तक्षेत्रीय असमानताओं के कारण कई बार केन्द्र व राज्यों के मध्य राजनीतिक मतभेद इतने बढ़ जाते हैं कि राज्य सरकारें संघ से अलग होने तक का गम्भीर विचार भी व्यक्त करने पर विवश हो जाती है। सभी राज्यों के पास विकास के लिए समान रूप से साधन व क्षमता नहीं होती, इसलिए संघीय संरचना

में केन्द्र सरकार को समानता की प्राप्ति के लिए यह उत्तरदायित्व निभाना पड़ता है। इसके अन्तर्गत सरकार को साधनों का राज्यों के मध्य न्यायोचित विभाजन करना आवश्यक है।

(iii) **सार्वजनिक सेवाओं के न्यूनतम स्तर का प्रावधान** संघीय वित्त का एक और महत्वपूर्ण पहलु यह है कि कल्याणकारी उद्देश्यों को प्राप्त करने के उद्देश्य से यह आवश्यक है कि देश में नागरिकों को सार्वजनिक सेवाओं का न्यूनतम स्तर प्रदान किया जाये, जैसाकि पहले बताया जा चुका है, राज्य सरकारों के पास साधनों की न्यूनता होती है व उन्हें काफी मात्रा में साधनों के लिए असाम्य की समाप्ति के लिए केन्द्र पर निर्भर रहना पडता है। शिक्षा स्वास्थ्य, परिवहन, जल आदि कुछ मूलभूत सुविधाओं पर भी राज्य सरकारों को काफी मात्रा में व्यय करना पडता है। यदि संघीय वित्त व्यवस्था का अनुसरण नहीं किया जाये तो देश के विकसित क्षेत्र और विकसित हो जायेंगे व अविकसित क्षेत्र विकसित नहीं हो सकेंगे। अन्तर्क्षेत्रीय असमानता का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि यह देश में अन्तवैयक्तिक असमानता रहेगी। एक समाजवादी समाज के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए इन विषमताओं को समाप्त किया जाना नितान्त आवश्यक है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए केन्द्र को राज्यों के विकास के लिए साधन आवंटन के सन्दर्भ में एक विभेदात्मक नीति का अनुसरण करना आवश्यक है। इसका विशद् विवेचन की आवश्यकता होती है। यहाँ पर संक्षेप में चर्चा करना उपयुक्त होगा।

अन्तर्क्षेत्रीय सार्वजनिक सुविधाओं में साम्य लाने के लिए व हर क्षेत्र में मूलभूत आवश्यकताओं का न्यूनतम स्तर बनाए रखने के लिए विकसित क्षेत्रों से अविकसित क्षेत्रों को साधनों का अन्तरण आवश्यक होता है। इस अन्तरण को राज्य स्वेच्छा से कर ले तो यह आदर्श स्थिति होगी, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। जो राज्य विकसित हैं वे भी अधिकाधिक मात्रा में साधन प्राप्त करने का प्रवल करते हैं। विकासशील देशों में जहाँ आर्थिक विकास के साथ-साथ राजनैतिक शैक्षणिक विकास भी हो रहा है व जहाँ आर्थिक दृष्टिकोण के स्थान पर राजनीतिक प्रभाव अधिक सफल हो जाता है। आदर्श स्थिति की अपेक्षा करना व्यर्थ होगा। ऐसी स्थिति में अन्तर्क्षेत्रीय मूलभूत सुविधाओं के स्तर को बनाये रखना संघीय सरकार का कर्त्तव्य है। इस दृष्टि से संघीय वित्त के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि संघीय वित्त के अन्तर्गत इस प्रकार यद्‌यपि प्रत्येक राज्य की वित्तीय सत्ता होती है व प्रत्येक राज्य के पास करारोपण की व व्यय करने की शक्ति होती है, किन्तु फिर भी उन्हें संघ सरकार की कुछ सीमाओं को स्वीकार करना होता है। संघीय संरचना में यद्‌यपि वित्तीय सत्ता का विकेन्द्रीकरण होता है. किन्तु साथ ही संघ सरकार का अपना महत्व है, क्योंकि उसी के माध्यम से विभिन्न राज्यों में वित्तीय समन्वय होता है। वृहत् राजनीतिक इकाई में अनेक छोटी राजनीतिक इकाइयॉ होती है ब वृहत वित्तीय व्यवस्था में कई छोटी वित्तीय सत्ताएं सक्रिय होती है। यदि विभिन्न इकाइयों में वित्तीय समन्वय नहीं होगा तो जिन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संघीय वित्त को अपनाया जाता है वे पूरे नहीं हो सकेंगे।

## 17.7 संघीय वित्त व्यवस्था के सिद्धान्त (Principles of Federal Finance)

डी. भार्गव के अनुसार, “संघीय वित्त व्यवस्था का अर्थ तथा राज्य सरकार के वित्त तथा दोनों के पारस्परिक समय से है |” संघ एवं राज्यों के मध्य कार्य का विभाजन होने के उपरान्त यह आवश्यक है कि उनके पास पर्याप्त वित्तीय साधन हों। इस सम्बन्ध में प्राय: दो समस्याएं उदय होती है- (1) सरकारों की आय एवं आवश्यकता के मध्य किस प्रकार संतुलन स्थापित किया जाये एवं (2) विभिन्न

सरकारों में आय के स्रोत किस ढंग से विभाजित किये जायें। इन दोनों बातों को प्राप्त करने हेतु यह आवश्यक है कि संघीय वित्त व्यवस्था कुछ सामान्य सिद्धान्तों पर आधारित हो। यह सिद्धान्त निम्न प्रकार से हैं

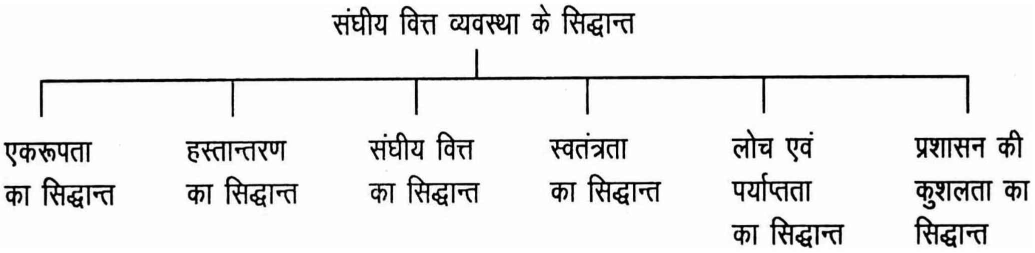
संघीय वित्त व्यवस्था के सिद्धान्त
एकरूपता का सिद्धान्त
हस्तान्तरण का सिद्धान्त
संघीय वित्त का सिद्धान्त
स्वतंत्रता का सिद्धान्त
लोच एवं पर्याप्तता का सिद्धान्त
प्रशासन की कुशलता का सिद्धान्त

(i) **एकरूपता का सिद्धान्त** इसके अन्तर्गत केन्द्र सरकार द्वारा जब राज्य सरकारों को अनुदान दिये जाते हैं, उस समय एकरूपता की नीति का पालन किया जाना चाहिए। इसी प्रकार संघ सरकार की प्रत्येक इकाई को चाहिए कि वह संघ सरकार को समानता के आधार पर अपना-अपना अंशदान दे। संघ सरकार को करों का भार सभी राज्यों पर एक समान डालना चाहिए और उनमें किसी भी प्रकार को भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए।

(ii) **हस्तान्तरण का सिद्धान्त** इस सिद्धान्त के अन्तर्गत धनी वर्ग से करारोपण के रूप में अधिक आय प्राप्त करके उसका हस्तान्तरण निर्धन वर्ग को कर दिया जाता है, जिससे देश में आय की असमानता को समाप्त किया जा सके। इस सम्बन्ध में केन्द्र एवं राज्यों में साधनों का आदर्श विभाजन विभिन्न राज्यों में रहने वाले व्यक्तियों में राष्ट्रीय न्यूनतम सिद्धान्त के आधार पर किया जाना चाहिए। देश में अत्यधिक असमानता राष्ट्रीय सम्पन्नता में बाधन बन जाती है। अत: असमानता को दूर किया जाना चाहिए। परन्तु व्यवहार में धनी वर्ग द्वारा इसका विरोध करने से इसके पालन करने में कठिनाइयाँ उपस्थित होती है। डी.बी.आर मिश्रा के अनुसार, “संघ एवं राज्य सरकारों में साधनों का आदर्श विभाजन विभिन्न राज्यों में रहने वाले व्यक्तियों के राष्ट्रीय न्यूनतम सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिए। संघीय राज्य में ऐसा विभाजन धनी क्षेत्रों में निर्धन क्षेत्रों को वित्त का हस्तान्तरण करके हो सकता है |”

यह सिद्धान्त भी अन्य सिद्धान्तों की भाँति अव्यावहारिक है और इसे व्यवहार में परिणित करने में अड़चनें आती है। सिद्धान्त की व्यवहारिकता पर स्वयं मिश्रा सन्देह करते हुए लिखते हैं कि “साधन का विभाजन एक अत्यन्त कठिन कार्य है और इस पर विभिन्न लोगों के विभिन्न विचार हैं।"

(iii) **संघीय प्रबन्ध सिद्धान्त** देश में एकता बनाये रखने के उद्देश्य से यह आवश्यक समझा गया है कि राज्य एवं स्थानीय सरकारों के मध्य राजस्व के नियमों का पालन किया जाये तथा इसके सम्बन्ध में सम्पूर्ण अवस्था केन्द्र सरकार द्वारा की जाए। सरकार की बजट नीति का देश के उत्पादन, वितरण, रोजगार आदि पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है। यदि राज्यों की बजट नीति संघीय सरकार की बजट नीति से सम्बन्धित नहीं है तो देश की आर्थिक नीति सफल नहीं होगी। अत: राज्य के बजट को केन्द्रीय बजट के साथ समायोजित किया जाना चाहिए। राज्यों की बजट नीति यदि संघीय सरकार की बजट नीति से सम्बन्धित नहीं है तो देश की आर्थिक नीति सफल नहीं होगी। इसलिए राज्यों को संघ की सलाह पर ही चलना चाहिए।

(iv) **स्वतन्त्रता का सिद्धान्त** स्वतन्त्रता से आशय यह है कि संघीय राज्य की प्रत्येक इकाई अपने आन्तरिक वित्तीय मामलों में पूर्णत: स्वतन्त्र होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में प्रत्येक राज्य के पास अपने कार्यो को पूरा करने हेतु अपने-अपने साधन होने चाहिए। स्वतन्त्रता के अभाव में प्रत्येक इकाई अपने विकास के कार्यक्रमों का निर्माण करने में असमर्थ होगी। राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से संघ सरकार द्वारा विभिन्न राज्य सरकारों के कार्यो में उचित समन्वय स्थापित करना चाहिए। समन्वय के अभाव में देश में आर्थिक विकास सही ढंग से सम्भव नहीं हो पाता है ओर देश पिछड जाता है।

परन्तु व्यवहार में इस सिद्धान्त का पालन होना सम्भव नहीं हो पाता और प्रत्येक इकाई एक-दूसरे पर निर्भर न होकर संघ पर निर्भर रहती है। संघ सरकार अपने पास आय के लोचदार साधन रखती है जबकि लोचदार कार्यो को राज्य सरकार को सौंप दिया जाता है। संघ सरकार के आय के निश्चित स्रोत होते हैं और उस आय का केवल एक निश्चित भाग ही राज्य सरकारों को दे दिया जाता है। संघ से जो आर्थिक सहायता प्राप्त होती है उससे राज्यों की स्वतन्त्रता भी समाप्त हो जाती है। राज्य सरकारों को संघ सरकार के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है क्योंकि (i) संघ के पास साधनों की बाहुल्यता रहती है। (ii) कुल आय के साधन अविभाज्य होते हैं जिनका विभाजन किया जाना सम्भव नहीं होता है। (iii) राज्यों के व्यय में वृद्धि हो गयी है।

(v) **लोच एवं पर्याप्ता का सिद्धान्त** पर्याप्ता के आधार पर राजस्व के स्रोतों का विभाजन एक अन्य प्रकार की समस्या से जुड़ा है। प्रत्येक स्तर की सरकार को कर के ऐसे स्रोतों को प्रदान करना चाहिए जिनसे प्राप्त आय उसे सौंपे गये कार्यो को सम्पन्न करने के लिए पर्याप्त हों। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत केन्द्र, राज्य एवं स्थानीय सरकारों को अपने कार्यो एवं आवश्यकता के अनुरूप वित्तीय स्रोत प्रदान किये जाने चाहिए। सरकारों के पास वित्तीय स्रोत इस प्रकार पर्याप्त एवं लोचदार होने चाहिए कि दवे अपने वर्तमान एवं भविष्य दोनों ही आवश्यकताओं को पूर्ण कर सके। प्राय: सरकारों को व्यय की मदें तो लोचपूर्ण सौंपी जाती हैं, परन्तु इनके आय के साधनों में लोच का अभाव पाया जाता है। अत: इस सिद्धान्त के अन्तर्गत यह आवश्यक है कि आवश्यकता के अनुरूप ही साधनों का पुनर्वितरण किया जाए जिससे इन साधनों में पर्याप्त लोच बनी रहे। इस सिद्धान्त का महत्व सैद्धान्तिक ही रह गया है। व्यवहार में राज्यों के आय प्राप्ति के स्रोतों की अपेक्षा व्यय बड़े पैमाने पर होते हैं, जिससे लोच का सिद्धान्त लागू नही हो पाता। डी. आर.एस. भार्गव के अनुसार, “साधनों के वितरण की योजना में लोचपूर्ण व्यवस्था होनी चाहिए क्योंकि कोई भी योजना चाहे कितनी ही अच्छी क्यों न हो, भावी समय के लिए अंतिम नहीं हो सकती। परिवर्तनशील दशाओं में कोई भी व्यवस्था समय के साथ अप्रचलित हो जायेगी |” पर्याप्ता के सम्बन्ध में डी. बी.आर मिश्रा का कथन है कि “पर्याप्ता के सिद्धान्त में तीन प्रमुख बातें हैं- (i) आय का विभाजन संघ एवं राज्यों में, (ii) विभिन्न राज्यों में आय का विभाजन एवं (iii) संग्रह का प्रशन अर्थात करों को संघ द्वारा एकत्रित किया जाना परन्तु उसे संघ एवं राज्य में विभाजित करना |”

(vi) **प्रशासन की कुशलता का सिद्धान्त** प्रशासकीय कुशलता से आशय यह है कि वित्तीय प्रशासन ऐसा होना चाहिए कि जिसमें कर दाताओं के हित सुरक्षित रहे, कर वंचना की सम्भावना न

हो, करों की दोबारगी न हो और व्यापार व उद्योग पर बुरे प्रभाव न पड़े, व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि राष्ट्रीय महत्व के कार्यो पर संघ सरकार द्वारा तथा स्थानीय महत्व के कार्यो पर राज्य सरकार द्वारा ही करारोपण किया जाना चाहिए। प्रशासन की कुशलता की दृष्टि से यह आवश्यक है कि जो कर एक राज्य में लगाये जाएं उनका दूसरे राज्य के व्यक्तियों पर कोई भी बुरा प्रभाव न पड़े। इस सम्बन्ध में सेलिगमैन का कथन है कि "कोई भी योजना चाहे कितनी ही ठीक प्रकार से क्यों न बनायी गयी हो या कितनी ही पूर्णतया व न्याय के सिद्धान्त के अनुरूप क्यों न हो यदि वह पद्धति प्रशासनिक दृष्टि से ठीक प्रकार से कार्य न करे तो वह अवश्य ही असफल होगी |"

संघ शासन प्रबन्ध में समवर्ती स्रोत होते हैं जिनमें प्राय: मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हें संविधान द्वारा तय किया जाता है। कभी-कभी संघ सरकार ढांचा तैयार करके राज्य सरकारों द्वारा नियम एवं कर का निर्धारण कर सकती है। व्यवहार में इस सिद्धान्त के आधार पर साधनों का विभाजन करना सम्भव नहीं है। समवर्ती स्रोतों के कारण सरकारों के मध्य मतभेद एवं लड़ाई-झगड़े उत्पन्न हो जाते हैं। इसे दूर करने हेतु संविधान में प्रावधान किया गया है, जिससे समस्या का समाधान किया जा सके।

अत: उपर्युक्त सिद्धान्तों को व्यावहारिक बनाने एवं राज्य व संघ के मध्य समन्वय स्थापित करने हेतु समय-समय पर संघीय सरकार व राज्य सरकारों के प्रतिनिधि विनिमय करते हैं। प्रत्येक 5 वर्ष के बाद राज्यों व संघ की स्थिति का अध्ययन करने हेतु वित्त आयोग की नियुक्ति की जाती है, जो हर प्रकार की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करता है। डी. मिश्रा का मत है कि भारत के सन्दर्भ में कुछ बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए :

1. राज्यों की वित्तीय स्थिति,
2. कृषि व्यवस्था' एवं जलवायु
3. राज्यों को आर्थिक विकास की स्थिति,
4. प्राकृतिक संसाधन,
5. जनसंख्या ब सामाजिक रीतियाँ।

## 17.8 संघीय वित्त व्यवस्था में आधुनिक प्रवृत्ति (Recent Trends in Federal Finance)

संविधान में केन्द्र से राज्यों को स्रोतों के अन्तरण के सम्बन्ध में वित्त आयोग को एक निर्णायक का स्थान दिया गया है। संघीय वित्त व्यवस्था की आधुनिक प्रवृत्तियाँ निम्न प्रकार हैं :

1. संघ सरकार विकास हेतु साधनों को प्राप्त करती है, स्थानीय सरकार विकास कार्यक्रमों को लागू करती है। अत: संघ सरकार एवं प्रबुद्ध प्रशुल्क एवं वित्तीय एजेन्सी की भाँति कार्य करती है, जबकि राज्य सरकारें राष्ट्रीय विकास कार्यक्रमों में संघ सरकार को सहायता प्रदान करती है।
2. वर्तमान वर्षो में वित्तीय साधन संघ सरकार से राज्य सरकारों की ओर हस्तान्तरित हुए हैं।

3. संघ सरकार राज्य सरकारों की व्यय नीतियों पर अधिक नियन्त्रण रखने लगी है क्योंकि इस व्यय की वित्त व्यवस्था अधिकांश रूप में संघ सरकार द्वारा ही की जाती है।
4. संघ सरकार राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक कारणों से गरीब राज्यों को गैर-आनुपातिक आर्थिक सहायता प्रदान करती है।

## 17.9 वित्त आयोगों द्वारा संसाधन हस्तान्तरण (Resource Transfer through Finance Commissions)

भारत सरकार अधिनियम 1935 पर आधारित वित्तीय साधनों को केन्द्र एवं राज्यों के मध्य विभाजन निम्न प्रकार रखा गया था-

एक से दस वित्त आयोगों का वर्णन साथ में मदानुसार किया गया है एवं 11वें एवं 12वें वित्त आयोगों का वर्णन प्रथक रूप से किया गया है।

**(i) आयकर**

प्रथम वित्त आयोग को विश्वास था कि आयकर को केन्द्र व राज्यों में स्रोतों के उचित समायोजन हेतु एक सन्तुलन तत्व के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं होगा। 1935 के अधिनियम के अनुसार राज्यों को आयकर की राशि भी बांटनी थी। राज्य सरकारों को आयकर लगाने के अधिकार नहीं थे। निगम कर पूर्णरूप से केन्द्रीय सरकार को प्रदान किया जाता है और राज्यों को विभाजित कोष का 50 प्रतिशत भाग देना निश्चित किया गया। विभिन्न राज्यों के निर्धारण करने में कमीशन द्वारा विभिन्न आधारों को ध्यान में रखा गया जो कि निम्न प्रकार हैं - (अ) विभिन्न राज्यों में एकत्रित की गयी आय कर की राशि (ब) आयकर वसूली की राशि, (स) आय की प्राप्ति में स्रोत को आयकर वसूली में समायोजित करना। (द) प्रत्येक राज्य की जनसंख्या। (य) औद्योगिक श्रमिकों की सापेक्ष मात्रा। (र) सापेक्षित प्रति व्यक्ति आय। (ल) विभिन्न आकार पर विभिन्न राज्यों की आवश्यकताएं।

द्वितीय वित्त आयोग ने राज्यों के हिस्सों को बढ़ाकर 60 प्रतिशत कर दिया तथा यह सुझाव दिया कि राशि का 10 प्रतिशत भाग संग्रहण आधार तथा 90 प्रतिशत भाग जनसंख्या आधार पर वितरित किया जाना चाहिए। आय कर की शुद्ध प्राप्ति का 1 प्रतिशत भाग केन्द्र शासित प्रदेशों के लिए निश्चित किया गया; जैसे हिमाचल प्रदेश, शिमला, अण्डमान व निकोबार आदि |

तृतीय वित्त आयोग ने राज्यों के हिस्सों को बढ़ाकर $66\frac{2}{3}$ प्रतिशत कर दिया तथा यह राशि 20 प्रतिशत संग्रहण आधार पर व 60 प्रतिशत जनसंख्या आधार पर विभाजित की जानी थी। केन्द्र शासित प्रदेशों का भाग बढ़ाकर 2.5 करने की सिफारिश की गयी।

चतुर्थ वित्त आयोग ने अनुभव किया कि गत 12 वर्षो की अवधि में निगम कर में 70 प्रतिशत की वृद्धि हुई है जबकि इस अवधि में आय कर में 50 प्रतिशत भी वृद्धि सम्मव न हो सकी। अत: आयोग ने राज्यों का भाग बढ़ाकर 75 प्रतिशत करने की सिफारिश की।

पाँचवें वित्त आयोग ने सिफारिश की कि आयकर की प्राप्ति में से राज्यों का हिस्सा 75 प्रतिशत होगा जो कि 90 प्रतिशत जनसंख्या आधार पर व 10 प्रतिशत तुलनात्मक संग्रह के आधार पर वितरित किया जाना चाहिए। संघ शासित क्षेत्र का भाग 2.6 प्रतिशत निर्धारित किया गया।

छठे वित्त आयोग ने राज्यों के अंशों के निर्धारण का आधार वही रखा जो पाँचवें आयोग ने निश्चित किया था, परन्तु राज्यों को प्राप्त होने वाला अंश बढ़ाकर 80 प्रतिशत कर दिया। केन्द्र शासित क्षेत्रों को आयकर की शुद्ध प्राप्ति का 1.79 प्रतिशत भाग प्राप्त होगा।

सातवें वित्त आयोग ने राज्यों को 85 प्रतिशत भाग वितरित करने की सिफारिश की तथा 2.19 प्रतिशत भाग संघ स्रोतों के लिए रखा गया।

आठवें वित्त आयोग ने कुल विशुद्ध प्राप्तियों का 1.79 प्रतिशत संघ क्षेत्रों को वितरित करने तथा कुल आयकर प्राप्तियों को 85 प्रतिशत राज्यों को वितरित करने का सुझाव दिया। प्रत्येक वित्तीय वर्ष में राज्यों के लिए निश्चित अंश का बंटवारा किया गया।

नवें वित्त आयोग ने कुल आयकर प्राप्तियों का 85 प्रतिशत राज्यों को वितरित करने का सुझाव दिया। उसमें से 90 प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर 10 प्रतिशत एकत्रित की गई आय के आधार पर बांटी जानी है।

दसवें वित्त आयोग ने कुल आय प्राप्तियों का 77.5 प्रतिशत वितरित करने का सुझाव दिया'। वितरण का आधार नवीं वित्त योजना के अनुरूप ही रहा।

### (ii) जूट निर्यात कर

विभाजन के बाद जूट के 70 प्रतिशत क्षेत्र पाकिस्तान के पास चले गये, परिणामस्वरूप सरकार को 1919 के जूट निर्यात कर के वितरण की व्याख्या में परिवर्तन करना पड़ा। बंगाल जूट का प्रमुख उत्पादक होने के बाद भी 1912 के सुधार के आधार पर उसका भाग निरन्तर गिरता गया। अत: भारत सरकार ने यह निर्णय किया कि जूट निर्यात का 50 प्रतिशत भाग जूट उत्पादक क्षेत्रों को प्रदान किया जाना चाहिए। अत: 15 अगस्त 1947 से जूट उत्पादित क्षेत्रों को अंश घटकर 20 प्रतिशत कर दिया गया, परन्तु इस निर्यात का जूट ऊत्पन्न करने वाले राज्य विशेषकर पश्चिम बंगाल में इस आधार पर कठोर विरोध किया गया कि प्राय: समस्त उत्पादन शक्ति उसी राज्य में केन्द्रित है। अत: क्षतिपूर्ति के रूप में जूट उत्पन्न करने वाले राज्यों को एक निश्चित राशि अगले 10 वर्षो तक दिया जाना निश्चित किया गया। यह निश्चित राशि पश्चिम बंगाल, बिहार, असम व उड़ीसा के लिए क्रमश: 100 लाख रूपये, 17 लाख रूपये व 3 लाख रूपये थीं। इस बात को वित्त आयोग के सम्मुख रखने एवं उसकी सिफारिश पर यह राशि बढ़ाकर क्रमश: 106 लाख रूपये, 40 लाख रूपये, 35 लाख रूपये व 5 लाख रूपये की दी गयी। कमीशन का सुझाव था कि अनुदान की राशि धारा 273 के अनुसार क्रमश 150 लाख रूपये, 75 लाख रूपये व 15 लाख रूपये होनी चाहिए। द्‌वितीय वित्त आयोग की सिफारिश पर जूट निर्यात कर के बदले में अनुदान के रूप में राशि क्रमश: 152.69 लाख रूपये, 72.31 लाख रूपये 76 लाख रूपये तथा 15 लाख रूपये वार्षिक निश्चित की गयी। इसके बाद इस मद को समाप्त कर दिया गया।

### (iii) केन्द्रीय उत्पाद शुल्क कर

शक्कर, वनस्पति, उत्पादन एवं तम्बाकू पर लगे करों की आय राज्यों को प्राप्त नहीं होती थी। निर्यात समिति का सुझाव था कि तम्बाकू पर आबकारी कर का 50 प्रतिशत भाग राज्यों को प्राप्त होना चाहिए। संविधान में इस सम्बन्ध में कोई प्रावधान नहीं था। कमीशन का सुझाव था कि इस आय का 40 प्रतिशत भाग राज्यों को प्राप्त होना चाहिए। प्रत्येक राज्य का भाग, कुल जनसंख्या में उस राज्य की जनसंख्या का प्रतिशत आधार पर निश्चित व विभाजित किया जाना चाहिए। इसके विपरीत

कुछ राज्यों ने इस आय के विवरण का आधार वस्तुओं के उपभोग की मात्रा को बताया जिसे कमीशन ने नहीं माना। द्वितीय वित्त आयोग ने विभाजन की करने वाली आय में 3 के स्थान पर 8 वस्तुओं की आय को सम्मिलित करने की सिफारिश की। इस सम्बन्ध में यह निश्चित किया गया कि इस आय का 90 प्रतिशत भाग जनसंख्या के आधार पर तथा 10 प्रतिशत भाग आवश्यक समायोजन के आधार पर विभाजित किया जाना चाहिए। तृतीय वित्त आयोग ने सुझाव दिया कि राज्यों का अंश कुल आबकारी करों की आय का 20 प्रतिशत भाग होना चाहिए तथा वस्तुओं की संख्या को बढ़ाकर 35 कर दिया गया। कमीशन इस बात से सहमत था कि आय का अधिकांश भाग जनसंख्या के आधार पर ही वितरित किया जाना चाहिए। चतुर्थ वित्त आयोग ने भी आय का 20 प्रतिशत भाग राज्यों में विभाजित करने की सिफारिश की तथा इस आय का 80 प्रतिशत भाग जनसंख्या के आधार पर ही वितरित किया जाना चाहिए। कमीशन ने इस आय के वितरण की एक अनुसूची बनायी। पाँचवें वित्त आयोग ने राज्यों का हिस्सा 20 प्रतिशत रखने की सिफारिश की। इसमें 1972 से 1974 तक के दो वर्षो के लिए विशेष उत्पादन शुल्क भी सम्मिलित है। छठ वित्त आयोग ने भी 20 प्रतिशत भाग को राज्यों में विभाजित करने की सिफारिश की। सातवें वित्त आयोग ने भी विद्युत के उत्पादन पर उत्पादन शुल्क की विशुद्ध प्राप्तियों को राज्यों में एकत्रित की गयी राशि के बराबर विभाजित करने की सिफारिश की तथा अन्य सभी वस्तुओं पर लगे शुल्क से वसूल की गयी। विशुद्ध प्राप्तियों के शेष के 40 प्रतिशत भाग को राज्यों को वितरित करने की सिफारिश की। आठवें वित्त आयोग ने सुझाव दिया कि सभी उत्पादन शुल्कों की प्राप्तियों के एक अंश का राज्यों को भुगतान होना चाहिए। विद्युत शुल्क की निबल प्राप्तियों का बंटवारा प्रत्येक राज्य को उससे प्राप्त राशि के बराबर होना चाहिए। नवें वित्त आयोग ने आबकारी करों की प्राप्ति में से एक निश्चित भाग राज्य सरकारों को दिये जाने की सिफारिश की। दसवें वित्त आयोग ने आबकारी करों में से 47.5 प्रतिशत हिस्सा वितरित करने की सिफारिश की।

### (iv) अतिरिक्त आबकारी कर

1975 से केन्द्रीय सरकार ने अतिरिक्त आबकारी कर लगाया तथा उसकी आय को राज्यों में विभाजित किया द्वितीय वित्त आयोग ने सुझाव दिया कि बिक्री की वसूली प्रत्येक राज्य को दी जाए तथा शेष को उपयोग आधार कर वितरित किया जाना चाहिए। कमीशन ने सुझाव दिया कि शुद्ध प्राप्ति का 1.55 प्रतिशत जम्मू व कश्मीर तथा 1 प्रतिशत केन्द्र शासित क्षेत्रों को प्राप्त हो। तृतीय वित्त आयोग ने जम्मू व कश्मीर के अंश को बढ़ाकर 1.60 प्रतिशत कर दिया। इस राशि को वितरित करने के पश्चात शेष राशि को अंशत: संग्रह आधार व अंशत: जनसंख्या आधार पर विभाजित करना चाहिए। चतुर्थ वित्त आयोग ने सुझाव दिया कि इस आधिक्य का वितरण प्रत्येक राज्य में कुल करों को एकत्रित करने की राशि को बिक्रीकर से अनुपात के आधार पर ही किया जाना चाहिए। पाँचवें आयोग का सुझाव था कि इस आय में से जम्मू कश्मीर और नागालैण्ड का कोई मुआवजा नहीं दिया जाये, परन्तु शुद्ध प्राप्ति की क्रमशः 0.83 प्रतिशत व 0.09 प्रतिशत राशि दी जानी चाहिए। अन्य राज्यों में भी वितरण की सिफारिश की गयी। छठे वित्त आयोग ने कुल प्राप्तियों से 1.4 प्रतिशत केन्द्रशासित क्षेत्रों को तथा 98.6 प्रतिशत भाग राज्यों में वितरित करने की सिफारिश की। सातवें वित्त आयोग ने शक्कर पर उत्पादन शुल्क की विशुद्ध प्राप्तियों का 3.271 प्रतिशत केन्द्रीय सरकार को संघ क्षेत्रों में तथा शेष 96.729 प्रतिशत भाग विभिन्न राज्यों में वितरित करने की सिफारिश की। आठवें वित्त आयोग ने निबल प्राप्तियों का 2.391 प्रतिशत के बराबर राशि को केन्द्र सरकार संघ क्षेत्रों के लिए अपने पास

रखने व शेष को राज्यों में वितरित करने की सिफारिश की। नवें वित्त आयोग ने 2.203 प्रतिशत भाग संघ शासित प्रदेशों को देने व शेष राशि राज्यों में विभाजित करने की सिफारिश की। दसवें वित्त आयोग ने 2.203 प्रतिशत भाग संघ शासित प्रदेशों को देने की सिफारिश की।

**(v) सम्पदा शुल्क**

यह कर सर्वप्रथम 1953 में लगाया गया। इस कर की वितरण व्यवस्था का आधार आयकर रखा गया था। द्वितीय वित्त आयोग ने इसमें संशोधन करके 1 प्रतिशत राशि केन्द्रीय सरकार द्वारा रखने तथा शेष को राज्यों में विभाजित करने की सिफारिश की। तृतीय वित्त आयोग ने भी इसी बात का समर्थन किया। चतुर्थ वित्त आयोग ने जनसंख्या एवं अचल सम्पत्ति को ध्यान में रखते हुए केन्द्र शासित प्रदेशों को यह अनुपात 2 प्रतिशत कर दिया। कृषि भूमि पर मृत्यु कर राज्यों द्वारा ही लगाया व वसूल किया जाता है। भारत सरकार राज्यों के लिए एक नियन्त्रण एजेन्सी के रूप में ही कार्य करती है। छठे वित्त आयोग का मत था कि इस कर का 2.5 प्रतिशत भाग केन्द्र शासित प्रदेशों को तथा शेष राशि में से राज्यों का अंश अचल सम्पत्ति के कुल मृत्यु के आधार पर प्रत्येक वित्तीय हर्ष में निर्धारित किया जाना चाहिए। सातवें वित्त आयोग ने जायदाद कर की विशुद्ध प्राप्तियों को विभिन्न राज्यों में चल तथा अचल सम्पत्ति के सकल मूल्य के अनुपात में बांटने की सिफारिश की। आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि समस्त केन्द्रशासित प्रदेशों को एक इकाई के रूप में माना जाना चाहिए। आठवें वित्त आयोग ने निबल प्राप्तियों में से संघ क्षेत्रों का अंश निर्धारित करने तथा शेष राशि को प्रत्येक राज्य में स्थित चल तथा अचल सम्पत्ति के सकल मूल के अनुपात में वितरित करने की सिफारिश की। नवें वित्त आयोग ने शुद्ध आय को वसूल की गयी राशि के अनुपात में विभाजित करने की सिफारिश की। यह कर समाप्त कर दिया गया है अत: इस प्रकार आयोग ने किसी नवीन व्यवस्था का सुझाव नहीं दिया।

**(vi) रेल्वे यात्री भाड़े पर कर**

यह कर 1957 में लगाया गया था। द्वितीय वित्त आयोग का सुझाव था कि शुद्ध प्राप्ति का 25 प्रतिशत भाग केन्द्र द्वारा रखा जाए तथा शेष को राज्यों में विभाजित कर देना चाहिए। तृतीय वित्त आयोग का सुझाव था कि राज्यों की प्रतिभूति 12.5 करोड़ रूपये वार्षिक कर अनुदान दिया जाना चाहिए। चतुर्थ वित्त आयोग इस बात से सहमत था कि इस अनुदान का वितरण क्षतिपूर्ति के आधार पर किया जाना चाहिए। रेल्वे कन्वेन्शन समिति 1965 के अनुसार रेल्वे 1 प्रतिशत कर लगाती है और इस राशि में से 16.25 करोड रूपये राज्य सरकारों को यात्री भाड़ा कर के बदले में दिये जाते हैं तथा शेष राशि का उपयोग उनको सहायता देने के लिए किया जाता है। छठे वित्त आयोग ने रेल्वे भाड़ा कर को समाप्त करने के बदले में राज्यों को दिया जाने वाला अनुपात विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न प्रतिशत रखा। सातवें वित्त आयोग ने विभिन्न राज्यों को दिये जाने वाले रेल किराया पर कर के बदले दिये जाने वाले अनुदान की राशि का भिन्न भिन्न प्रतिशत निर्धारित किया। आयोग ने यह सुझाव दिया कि समस्त केन्द्र शासित प्रदेशों को एक इकाई के रूप में माना जाना चाहिए। आठवें वित्त आयोग ने रेल यात्री किरायों पर कर के बदले में दी जाने वाली वार्षिक अनुदान राशि को बढ़ाकर 1988-1989 तक प्रत्येक वर्ष के लिए 95 करोड रूपये करने की सिफारिश की। नवें वित्त आयोग ने 1990-95 अवधि हेतु 150 करोड़ रूपये वार्षिक दिये जाने की सिफारिश की। दसवें वित्त आयोग ने 1995-2000 के लिए 380 करोड रूपये प्रतिवर्ष के लिए सिफारिश की है।

### (vii) अनुदान

अनुदान की व्यवस्था भारत सरकार अधिनियम 1935 में ही कर दी गयी थी। विभाजन के पश्चात भी अनुदान को चालू रखा गया। प्रथम वित्त आयोग ने राज्यों में प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के लिए विशेष अनुदान की सिफारिश की। द्वितीय वित्त आयोग ने प्रत्येक राज्यों को अनुदान की सिफारिश राज्यों के पुनर्गठन से उत्पन्न समस्याओं के समाधान में की। तृतीय वित्त आयोग संवहन के विकास के लिए अनुदान की सिफारिश की। प्रथम आयोग द्वारा राज्यों की बजटीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखा गया। द्वितीय वित्त आयोग ने इसे गैर-अपवाद माना, तृतीय वित्त आयोग ने अनुभव किया कि प्रशुल्क आवश्यकताओं में व्ययों को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। चतुर्थ वित्त आयोग ने व्ययों को ऋण की सेवाओं के लिए आवश्यक समझा। इसके अतिरिक्त विकास अनुदान भी राज्यों को प्रदान किये गये। छठे वित्त आयोग ने मध्यप्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु गुजरात, हरियाणा, महाराष्ट्र एवं पंजाब को कोई अनुदान स्वीकार नहीं किया। सातवें वित्त आयोग ने सिफारिश की कि राज्यों को मिलने वाला अनुदान प्रत्येक वर्ष की विशुद्ध प्राप्तियों के बराबर होना चाहिए। आठवें वित्त आयोग ने प्रत्येक वर्ष वही पर एकत्रित शुद्ध राशि के बराबर अनुदान देने की सिफारिश की। नवें वित्त आयोग ने राज्यों के आय घाटे को पूरा करने के लिए अनुदान सहायता की सिफारिश की थी। दसवें वित्त आयोग ने राज्यों की बजटीय स्थिति का अध्ययन करके प्रमाणीकरण लाने की दृष्टि से उसमें सुधार किया है।

- **ग्यारहवें वित्त आयोग की सिफारिशें**

ग्यारहवें वित्त आयोग जिसके अध्यक्ष प्रो. ए.एम. खुसरो प्रसिद्ध अर्थशास्त्री बनाए गए, ने अपनी रिपोर्ट 7 जुलाई 2000 को प्रस्तुत की। आयोग ने निम्नलिखित मुख्य सिफारिशें प्रस्तुत की.

1. अन्तरण की समस्त स्कीमों में केन्द्र की सकल राजस्व प्राप्तियों का 37.5 प्रतिशत राज्यों को अन्तरित करने की अधिकतम सीमा को सिफारिश की गयी।
2. इस आँकड़े में शामिल किए गये (i) केन्द्र के विभाजनीय करों एवं शुल्कों से शुद्ध प्राप्ति राज्यों का 28 प्रतिशत अन्तरण। (ii) चीनी, तम्बाकू एवं टैक्सटाइल्स पर बिक्रीकर के एवज विभाजनीय करों एवं शुल्कों का 1.5 प्रतिशत और (iii) ऐसे राज्य जो अन्तरण के पश्चात् भी राजस्व घाटे का सामना कर रहे हैं, उन्हें अनुदान सहायता, स्थानीय निकायों के लिए अनुदान, विपदा-राहत के लिए अनुदान और योजना राजस्व अनुदान।
3. केन्द्र के करो एवं शुल्कों के संग्रह में राज्यों का भाग निर्धारण करने के लिए निम्नलिखित मानदण्ड रखे गये (i) जनसंख्या 10 प्रतिशत, (ii) किसी राज्य की प्रतिव्यक्ति आय का अधिकतम प्रतिव्यक्ति आय वाले राज्य से अन्तर 62.5 प्रतिशत, (iii) क्षेत्रफल 7.5 प्रतिशत, (iv) आधार संरचना का सूचकांक 7.5 प्रतिशत, (v) कर प्रयास 5 प्रतिशत और (vi) राजकोषीय अनुशासन 7.5 प्रतिशत।
4. आज जम्मू कश्मीर राज्य में व्ययकर और सेवाकर नहीं लगाए जाते और इस कारण इन करों में से इसे कोई हिस्सा नही दिया गया। इन करों से प्राप्त सकल राजस्व को अन्य सभी राज्यों में उनके सापेक्ष भाग में संशोधन कर बांट दिया गया है।

5. 4.973 करोड़ रूपये की राशि गैर-विकासात्मक सामाजिक क्षेत्रों में स्टैंडर्ड के उन्नयन और सन् 2000-2005 के दौरान विशेष समस्या अनुदान देने की सिफारिश की गयी है।
6. वित्त वर्ष सन् 2000-2001 से आरम्भ कर पंचायतों के लिए प्रत्येक वर्ष 1600 करोड रूपये और नगरपालिकाओं के लिए प्रत्येक वर्ष 400 करोड़ रूपये की राशि पाँच वर्षो (2000-2005) के लिए देनी तय की गयी है।

   इस अनुदान में पंचायतों एवं नगरपालिकाओं के लिए विभिन्न राज्यों के सापेक्ष भाग निर्धारित करने के लिए मानदण्डों एवं उनके सारांश इस प्रकार है - (i) ग्रामीण/नगरीय जनसंख्या का राज्य में अनुपात 40 प्रतिशत (ii) विकेन्द्रीयकरण सूचकांक 20 प्रतिशत (iii) अधिकतम प्रतिव्यक्ति आय से अन्तर 20 प्रतिशत (iv) स्थानीय निकायों का कर प्रयास 10 प्रतिशत और (v) भौगोलिक क्षेत्रफल 10 प्रतिशत।
7. ग्यारहवें वित्त आयोग ने 5 वर्षो (2000-2005) की अवधि के लिए करो एवं अनुदानों के अन्तरण के लिए कुल 4. 34905 करोड रूपये की राशि देने की सिफारिश की है। विभिन्न मदों के अधीन प्राप्त होने वाली राशि इस प्रकार है |

**सारणी 17.1**

**राज्यों का कुल अन्तरण (2000-2005)**

| क्र. संख्या | मद | करोड़ रूपये | कल का प्रतिशत |
|---|---|---|---|
| 1. | केन्द्रीय करों एवं शुल्कों में भाग | 376318 | 86.5 |
| 2. | अनुदान सहायता | 58587 | 13.5 |
| | (i) गैर योजना राजस्व धारा | 35359 | 8.1 |
| | (ii) उन्नयन एवं विशेष समस्याएं | 4973 | 1.2 |
| | (iii) पंचायतें | 8000 | 1.8 |
| | (iv) नगरपालिकाएँ | 2000 | 0.5 |
| | (v) राहत कार्य | 8256 | 1.9 |
| | कुल 1+2 | 434905 | 100.0 |

- **आपदा राहत निधि**

ग्यारहवें वित्त आयोग ने यह सिफारिश की है कि राज्यों में कार्य कर रही वर्तमान आपदा राहत निधि 2000-2005 के दौरान अपने 11,008 करोड़ रूपये के कुल आकार के साथ बनी रहनी चाहिए। इसमें केन्द्र कर भाग 8256 करोड़ रूपये और राज्यों का भाग 2752 करोड रूपये (75:25 के अनुपात मे) शामिल है।

- **बारहवां वित्त आयोग (2005-10) (12th Finance Commission)**

राष्ट्रपति द्वारा भारतीय संविधान के अनुच्छेद 280 के अधीन बारहवाँ वित्त आयोग स्थापित किया गया। श्री सी. रंगराजन को इसका अध्यक्ष नियुक्त किया गया। इसके विचाराधीन ही विषय थे

जो ग्यारहवें वित्त आयोग के अधीन थे। केवल एक विषय और बाद में एक विशिष्ट अधिसूचना के आधीन जोड़ा गया। विचाराधीन विषय में निम्नलिखित शामिल किए गये.

1. सभी करों की शुद्ध प्राप्तियों का केन्द्र ओर राज्यों के बीच वितरण और ऐसी प्राप्तियों के अपने हिस्से का राज्यों में आवंटन।
2. उन सिद्धान्तों को तय करना जिनके अनुसार- (अ) भारत समेकित निधि से राज्यों को सहायता दी जाती है; और (ख) राज्यों को सविधान के अनुच्छेद के आधीन दी जाने वाली सहायता दी जाती है।
3. उन उपायों का सुझाव देना जिनके अनुसार किसी राज्य को समेकित निधि को बढ़ाया जा सके ताकि वे राज्य की पंचायतों एवं नगरपालिकाओं के संसाधनों की अनुपूर्ति कर सके;
4. केन्द्र द्वारा ग्यारहवें वित्त आयोग के आधार द्वारा राजकोषिय सुधारों की समीक्षा करना और इसके उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए प्रभावी सुझाव देना;
5. मार्च 2004 के अन्त तक राज्यों को ऋण स्थिति की समीक्षा करना और इसके सुधार के लिए उपायों का सुझाव देना जो हमारी समष्टि आर्थिक स्थिरता के अनुकूल हो।
6. विपदा-प्रबन्ध की वर्तमान व्यवस्थाओं की समीक्षा करना।
7. केन्द्र को लाभ पेट्रोलियम से प्राप्त होने वाली कर भिन्न आय के विभाजन के बारे में सिफारिश करना कि क्या यह उन राज्यों में बांटी जाए जिनसे यह खनिज तेल प्राप्त होता है और यदि ऐसा करना है तो किस सीमा तक।

- **लम्बरूपी असंतुलन और अन्तरण**

अपने दस्तावेजों में राज्यों ने यह मांग की कि विभाजनीय संग्रह का जो भाग ग्यारहवें वित्त आयोग ने 29.5 प्रतिशत तक तय किया था, उसे बढ़ाकर 33 प्रतिशत कर दिया जाए। कई राज्यों ने तो इसे बढ़ाकर 50 प्रतिशत करने की भी मांग की। आयोग ने अन्ततः यह निर्णय किया कि इसे बढ़ाकर 30.5 प्रतिशत कर दिया जाए- 1 प्रतिशत की वृद्धि। वास्तव में यह अतिरिक्त उत्पाद-शुल्क जो कि चीनी, तम्बाकू एवं टैक्स-टाइल पर लगाया गया है, उसके बदले में हैं। जहाँ तक समग्र अन्तरणों का सम्बन्ध है, ग्यारहवें वित्त आयोग ने इन्हें केन्द्र के सकल राजस्व का 37.5 प्रतिशत तय किया था। ग्यारहवें वित्त आयोग की तुलना में केवल आधे प्रतिशत की वृद्धि।

- **समतल सहभाजन**

अन्तरण के समतल पक्ष का सम्बन्ध देश के विभाजनीय संग्रह का राज्यों में वितरण है। बारहवें वित्त आयोग ने इस मुद्दे पर पुराने वित्त आयोगों की सिफारिशों और विभिन्न राज्यों द्वारा निम्नलिखित विषयों पर दिये गए ज्ञापनों पर विचार किया :

(क) जनसंख्या के प्रयोग को एक कारणतत्व के रूप में जारी रखना,
(ख) किसी राज्य की प्रतिव्यक्ति आय का अधिकतम प्रतिव्यक्ति आय से अन्तर,
(ग) क्षेत्रफल को एक कारण तत्व के रूप में जारी रखना, और
(घ) कर प्रयास और राजकोषीय अनुशासन की कसौटी को जारी रखना।

केन्द्रीय विभाजनीय संग्रह का बड़ा भाग मिलना चाहिए था। अन्ततोगत्वा, बारहवें वित्त आयोग ने करो में राज्यों का निर्धारित करने के लिए निम्नलिखित कसौटियाँ और उनका भार तय किया।

### सारणी 17.2

### बारहवें वित्त आयोग दारा निर्धारित विभिन्न कसौटियों का सापेक्ष भार

| क्र. सं. | कसौटी | भार (प्रतिशत) |
|---|---|---|
| 1. | जनसंख्या | 25 |
| 2. | आय-अन्तर | 50 |
| 3. | क्षेत्रफल | 10 |
| | कर-प्रयास | 7.5 |
| | कर, अनुशासन | 7.5 |
| | कुल | 100.0 |

बारहवें वित्त आयोग ने निष्कर्ष निकाला, 'हमने एक ऐसे फार्मूले का निर्माण किया जो समता का राजकोषीय कुशलता के साथ संतुलन बिठाता है। किन्तु इसमें समता का प्रधान स्थान है, क्योंकि संघीय अन्तरण में समता सिद्धान्त को कार्यान्वित करने का प्रयास किया जाता है।"

- **अनुदान**

पिछले वित्त आयोगों की भाँति 12वें वित्त आयोग ने गैर योजना राजस्व घाटे सम्बन्धी अनुदान संविधान के अनुच्छेद 275 के आधीन 15 राज्यों को वितरित करने की सिफारिश की जिनका कुल गैर योजना राजस्व घाटा 2005-2010 की अवधि के लिए 56856 करोड़ रूपये आंका गया। बारहवें वित्त आयोग द्वारा अन्य अनुदान सम्बन्धी निम्नलिखित सिफारिशें की गयी:-

8 राज्यों के लिए शिक्षा सम्बन्धी अनुदान 2005-2010 की अवधि के लिए 10,172 करोड़ रूपये जिनमें से किसी भी योग्य राज्य के लिए कम-से-कम प्रतिवर्ष 20 करोड़ रूपये।

7 राज्यों को स्वास्थ्य के लिए अनुदान 2005-2010 की अवधि के लिए 5,887 करोड़ रूपये जिनमें से किसी भी योग्य राज्य के लिए कम-से-कम प्रतिवर्ष 10 करोड़ रूपये।

### सारणी 173

### सड़कों एवं पुलों के रख-रखाव के लिए अनुदान

| क्र.सं. | योजना | अनुदान (करोड़ रूपये) |
|---|---|---|
| 1. | 2005-2010 कि अवधि के लिए | 15,000 |
| 2. | सरकारी भवनों के लिए | 5,000 |
| 3. | वनों के लिए | 1,000 |
| 4. | विशिष्ट संरक्षण के लिए | 625 |
| 5. | विशिष्ट आवश्यकताओं के लिए (2005-10 कि अवधि के लिए) | 7,100 |

कुल मिलाकर बारहवें वित्त आयोग ने 755752 करोड़ रूपये का कर एवं अनुदान वितरित किया।

| | |
|---|---|
| कर अन्तरण | 613112 करोड रूपये |
| अनुदान | 14264० करोड़ रूपये |
| कुल | 755752 करोड़ रूपये |

- **स्थानीय निकाय-पंचायतें एवं नगर पालिकाएं**

आयोग ने अधिनिर्णय अवधि 2005-10 के लिए 25,000 करोड रूपये के अनुदान की सिफारिश की ताकि राज्यों की समेकित निधियों को बढ़ाया जा सके जिससे वे नगर पालिकाओं एवं पंचायतों के साधनों की अनुपूर्ति कर सके। ये अनुदान विभाजनीय कर संग्रह के 2.4 प्रतिशत और केन्द्र की कुल राजस्व प्राप्तियाँ जो 2005-10 के लिए आंकी गयी है के 0.9 प्रतिशत के बराबर होंगे।

बारहवें वित्त आयोग ने अनुपात 20 : 80 रखा। इसका अर्थ यह है कि 5000 करोड रूपये का अनुदान नगर पालिकाओं अनुदान को प्राप्त होगा (अर्थात् कुल अनुदान का 20 प्रतिशत) और 20,000 करोड रूपये (80 प्रतिशत) ग्रामों को। इस सम्बन्ध में बारहवें वित्त आयोग ने सड़कों एवं भवनों के रख-रखाव के लिए पृथक अनुदान देने की सिफारिश की जिसमें नगरपालिकाओं के अधीन दे सड़कें भी है जिनके रख-रखाव की जिम्मेदारी इस पर है। अत: इस प्रकार नगर पालिकाएं मुख्य लाभ प्राप्त कर्त्ता होगी।

**सारणी 17 .4**

**अनुदानों के अन्त:राज्यीय वितरण का आधार**

| क्र.सं. | कसौटी | भार (प्रतिशत) |
|---|---|---|
| 1. | जनसंख्या | 40 |
| 2. | भौगोलिक क्षेत्र | 10 |
| 3. | उच्चतम प्रतिव्यक्ति आय से अन्तर | 20 |
| 4. | विपन्नता का सूचकांक | 10 |
| 5. | राजस्व प्रयास | 10 |
| | कुछ | 100 |

- **विपदा-राहत व्यय का वित्त-पोषण**

बारहवें वित्त आयोग ने विपदा राहत कोष की वर्तमान व्यवस्था को अपने वर्तमान रूप में जारी रखने की सिफारिश की और इसमें केन्द्र और राज्यों का अनुपात 75 : 25 तक किया। 2005-10 की अधिनिर्णय अवधी के लिए विपदा राहत कोष का आकार 21,333 करोड़ रूपये निर्धारित किया गया जिसमें से केन्द्र का भाग 16,000 करोड़ रूपये और शेष 5,333 करोड रूपये राज्यों के भाग के रूप में होंगे।

बारहवें वित्त आयोग ने राष्ट्रीय विपदा सम्भाव्य कोष को अपने वर्तमान रूप में जारी रखने की सिफारिश की है और इसके लिए 500 करोड रूपये आरक्षित निधि कायम करनी होगी। इस कोष में से निकासी की भरपाई के लिए राष्ट्रीय विपदा आकस्मिक शुल्क और कुछ विशेष अधिभार लगाने होंगे।

- **राज्यों को ऋण-राहत**

बारहवें वित्त आयोग ने ऋण राहत की निम्नलिखित योजना की सिफारिशें की हैं.

(क) मार्च 2005 के अन्त तक सभी बकाया केन्द्रीय ऋणों की समय-सारणी पुन: तैयार की जानी चाहिए और इन्हें 20 वर्षों के लिए ताजा ऋणों के रूप में तबदील करना होगा जिस पर ब्याज की दर 7.5 प्रतिशत हो और यह उस वर्ष से लागू किया जाएगा जिस वर्ष कोई राज्य राजकोषीय उत्तरदायित्व कानून पारित कर दे।

(ख) राज्य के राजस्व घाटे को कम करने के लिए ऋण परिसमाप्त करना। भुगतान में परिसम्पत्ति की मात्रा इस प्रक्रिया से जोड़ना कि अधिनिर्णय अवधि के दौरान प्रत्येक उत्तरोत्तर वर्ष में राजस्व घाटे में कुल रूप में कितनी कमी की जाती है।

बारहवें वित्त आयोग के दो युगल उद्देश्य हैं - राज्यों को ऋण राहत देना और राज्यों के आग्रह करना कि वे अपने राजस्व घाटे को बदस्तुर घटाते जाएं और समाप्त कर दे।

- **लाभ पेट्रोलियम का सहभाजन**

इन सब विचारों का विश्लेषण करने के पश्चात् बारहवें वित्त आयोग ने अपना अधिनिर्णय दिया :

1. नई खोज लाइसेंस नीति से प्राप्त होने वाला लाभ पेट्रोलियम का केन्द्र सरकार को उन राज्यों से सहभाजन करना चाहिए जहाँ खनिज तेल और खनिज गैस उत्पन्न होती है और यह सहभाजन 50 : 50 के अनुपात में होना चाहिए।
2. कोयला बह मिथेन नीति के आधीन किए गए अनुबंधों से केन्द्र सरकार को प्राप्त होने बाले राजस्व का भी लाभ पेट्रोलियम की भाँति उन राज्यों के साथ सहभाजन करना चाहिए जो इसका उत्पादन करते हैं।

## 17.10 सारांश (Summary)

प्रस्तुत इकाई में आपने पढ़ा कि जब शासन की शक्तियों का विभाजन एवं वैधानिक व्यवस्था के द्वारा किया जाता है तो इस व्यवस्था को संघीय व्यवस्था कहा जाता है। संघीय व्यवस्था में कुछ देशों में केन्द्र सरकार के पास अधिक शक्तियाँ होती है तो कुछ अन्य देशों में संघ को राज्य सरकारों को अधिक शक्तिशाली बनाया गया है। संघीय वित्त व्यवस्था के विभिन्न सिद्धान्तों में एकरूपता सिद्धान्त, हस्तान्तरण सिद्धान्त, संघीय प्रबन्ध सिद्धान्त, स्वतन्त्रता लोच एवं पर्याप्तता, कुशलता आदि सिद्धान्तों की इस इकाई में संक्षेप में विवेचना की गई है। इसके साथ ही ग्यारहवें एवं बारहवें वित्त आयोग द्वारा राज्यों को किए गए हस्तान्तरण का भी वर्णन किया गया है।

## 17.11 शब्दावली (Glossary)

| | |
|---|---|
| एकात्मक वित्त | Unitary Finance |
| संघीय वित्त | Federal Finance |
| अननुरूपता | Non-Correspondance |
| अन्तरण | Transfer |
| एकरूपता का सिद्धान्त | Principle of Uniformity |
| हस्तान्तरण का सिद्धान्त | Principle of Transference |
| संघीय प्रबन्ध सिद्धान्त | Principle of Federal Supervision |
| स्वतन्त्रता का सिद्धान्त | Principle of Freedom |

| | |
|---|---|
| लोच एवं पर्याप्तता का सिद्धान्त | Principle of Elasticity and Adequacy |
| प्रशासन की कुशलता का सिद्धान्त | Principle of Administrative Efficiency |
| आयकर | Income Tax |
| जूट निर्यात कर | Jute Export Duty |
| केन्द्रीय उत्पादन | शुल्क Union Excise Duties |
| अतिरिक्त आबकारी कर | Additional Excise |
| सम्पदा शुल्क | Estate Duty |
| रेलवे यात्री भाड़ा पर कर | Taxes on Railway Passenger Fares |
| अनुदान | Grants-in0-aid |
| सकल राजस्व प्राप्तियां | Gross Revenue Receipts |
| योजना राजस्व अनुदान | Plan Revenue Grants |
| भारांश | Weights |
| स्टैन्डर्ड के उन्नयन | Upgradation of Standard |
| आपदा राहत निधि | Calamity Relief Fund |
| समेकित निधि | Consolidated Fund |
| विभाजनीय संग्रह | Shareable Rool |
| विरासत संरक्षण | Heritage Consrevation |
| ऋण परिसमाप्त | Debt Write off |

## 17.12 सन्दर्भ ग्रन्थ (References)

डॉ. एस.के सिंह, डॉ. जे.सी. वार्ष्णेय एवं डॉ. मोहन सिंघल, "लोक अर्थशास्त्र"
डॉ. एस.के सिंह, "राजस्व"
डॉ. बी.पी त्यागी "राजस्व"
डॉ. प्रेम प्रकाश शर्मा, "सार्वजनिक वित्त के सिद्धान्त"
डॉ. जे.सी. पन्त, "राजस्व"
समस्त वित्त आयोगों की सिफारिशें।

## 17.13 अभ्यासार्थ प्रशन (Unit-end Questions)

1. संघीय वित्त से आप क्या समझते है? इसके प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन कीजिए।
2. कार्यात्मक वित्त क्या है? विकासशील अर्थव्यवस्था में इसकी क्या भूमिका है?
3. संघीय वित्त व्यवस्था के सिद्धान्तों का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।
4. गत दो वित्त आयोगों की रिपोर्टों के सन्दर्भ में केन्द्र राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों पर एक निबन्ध लिखिए।
5. केन्द्र से राज्यों को साधनों के प्रवाह की प्रणाली का परीक्षण कीजिए।

6. भारत में वित्त आयोग के कार्यो की व्याख्या कीजिए और बारहवें वित्त आयोग की प्रमुख सिफारिशों का विवरण दीजिए।
7. संघीय वित्त में अनुदानों की भूमिका होती है? भारत में केन्द्र द्वारा राज्यों को दिये जाने वाले अनुदानों की प्रकृति एवं वित्तीय आयोगों द्वारा उसकी सिफारिशों के आधार पर उल्लेख कीजिए।

ISBN - 13/978-81-8496-125-6